आचार्य
विनोबा भावे

आचार्य विनोबा भावे

रामगोपाल शर्मा

ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली

जिनके विचारों ने
शब्द-साधना
की निरंतर प्रेरणा दी है,
विद्वज्ज्ञनों की उस सुदीर्घ
परंपरा को
सादर समर्पित।

अनुक्रमणिका

आत्मकथ्य

जीवन को अपनी संपूर्ण सार्थकता में जीने वाली महान् वभिूतयों का देश है भारत। समय-समय पर यहाँ अनेक ऐसी प्रतभिाओं ने जन्म लिया है, जनिके आचरण ने मानव जीवन की महानता को मूर्तमिान किया है। आचार्य विनोबा भावे इसी शृंखला की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी हैं। विनोबा भावे ने बचपन से ही मूल्यों पर आधारति जीवन जीया और अपने सात्त्वकि आचरण से आत्मविकास की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए अपने आप को ऐसे गौरवपूर्ण स्थान पर स्थापति किया, जहाँ उनका जीवन स्वयं में मानव-मूल्यों का पर्याय बन गया।

विनोबा भावे गांधीजी की परंपरा में आते हैं और गांधीजी की तरह ही एक सच्चे राष्ट्रवादी के रूप में जाने जाते हैं। विनोबाजी की समाज-सेवा की यात्रा गांधीजी के नेतृत्व में शुरू हुई थी, लेकिन उन्होंने श्रम और सोच से अपने व्यक्तति्व को कुछ इस प्रकार निखारा कि स्वयं गांधीजी भी उनकी सेवा-भावना और प्रतभिा के प्रशंसक बन गए। गांधीजी विनोबा भावे पर अटूट विश्वास करते थे। यही नहीं, कुछ मामलों में तो वे विनोबाजी की प्रतभिा को स्वयं से भी अधकि सर्जनात्मक मानते थे। गांधीजी अकसर कहा करते थे कि विनोबा तो इस आश्रम के हीरा हैं, वे आश्रम में कुछ लेने के लिए नहीं आए हैं, अपतिु उनके होने से यह आश्रम धन्य हो गया है। विनोबाजी की निष्ठा, त्याग, समर्पण और सेवाधर्म का सम्मान करते हुए ही गांधीजी ने सन् 1940 के व्यक्तगति सत्याग्रह में उन्हें पहला सत्याग्रही घोषति किया था। विनोबा भावे की भी यह वशिेषता रही कि उन्होंने गांधीजी और इस देश के विश्वास को आजीवन बनाए रखा। यही कारण था कि गांधीजी के बाद देश की जनता ने एक मार्गदर्शक, एक अभनिव वचिारक और एक संत के रूप में संत विनोबा भावे को हृदय से सम्मान दिया।

विनोबाजी के वचिारों से देश के आम आदमी से लेकर तत्कालीन प्रधानमंत्री पं. जवाहर लाल नेहरू तक इतने प्रभावति थे कि समय-समय पर विनोबाजी से मार्गदर्शन लेते रहते

थे। इतना ही नहीं, उस समय के सभी नेतागण यह चाहते थे कि विनोबाजी उनके वचिारों की पुष्टि करें। सभी को यह विश्वास था कि विनोबाजी की सहमति किसी एक वचिारक की सहमति नहीं है, अपतिु देश के अंतमि व्यक्ति की सहमति है। तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. एस. राधाकृष्णन ने तो स्थान-स्थान पर विनोबाजी के बारे में बड़े सम्मान के साथ अपने उद्गार व्यक्त किए हैं।

वनिबाजी का जीवन अपने आप में तो त्याग और तपस्या की प्रतमिूर्ति था ही, उन्होंने देश की जनता के हतिों के लिए जो आंदोलन चलाए, वे अपने आप में किसी चमत्कार से कम नहीं हैं। उनके भूदान आंदोलन ने देश के हजारों लोगों को भूमि दलिाकर जीने का साधन उपलब्ध कराया। इसी प्रकार सर्वोदय आंदोलन के कारण विनोबा भावे की ख्याति देश से लेकर वदिश तक फैली। एक व्यक्ति से संपत्ति का दान लेकर दूसरे को सौंपना सचमुच एक ऐसा चमत्कारी कदम था कि उसकी उपलब्धयों को देखने और समझने के लिए अनेक वदिशी लोग भारत आए।

विनोबाजी के सेवाधर्म का उद्देश्य मानवता की सेवा करना था। मानवता जो किसी क्षेत्र या देश के दायरे में सीमति नहीं की जा सकती। विनोबाजी की दृष्टि में संपूर्ण विश्व उनका सेवाक्षेत्र था। इसी आधार पर उन्होंने अपने आप को 'विश्व मानव' और 'विश्व नागरकि' के रूप में स्थापति किया। इसी धारणा के अनुरूप विनोबाजी ने व्यक्ति-व्यक्ति में कभी भेदभाव नहीं समझा; किसी समूह, वर्ग या राष्ट्र के प्रति अतिरक्ति निष्ठा रखते हुए वचिार नहीं किया।

विनोबाजी की सेवा-भावना का सम्मान करते हुए सन् 1958 में उन्हें 'मैग्सेसे पुरस्कार' से सम्मानति किया गया।

प्रस्तुत पुस्तक में संत विनोबा भावे के व्यक्तत्वि और आदर्शों को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, जसिसे पाठक विनोबाजी के जीवन-दर्शन से लाभान्वति हो सकें।

इस पुस्तक के लेखन में तथ्यों और साक्ष्यों को जुटाने के लिए जनि अग्रज लेखकों की कृतयों से सहायता ली गई है, उनके प्रति मैं हृदय से आभार प्रकट करता हूँ। लेखन की प्रेरणा देने के लिए मैं अपने आत्मीय श्री पीयूषजी के प्रति भी अनुगृहीत हूँ। मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि प्रभु कृपा सर्वोपरि है।

पुस्तक में दी गई घटनाओं के क्रम तथा तिथयों को संकलति करने में यद्यपि सावधानी रखने का भरसक प्रयास किया गया है, फिर भी लेखकीय क्षमता की अपनी सीमाएँ हैं। भूलवश यदि किसी घटना, तिथि या नाम के संबंध कोई विरोधाभास अथवा त्रुटि दिखाई दे तो सुधी पाठकों से वनम्रि अनुरोध है कि कृपया सूचति कर हमें अनुगृहीत करें, ताकि भूल को सुधारा जा सके। विश्वास है, एक संत की साधना मानव-मूल्यों के प्रति आपकी आस्था को और अधकि सुदृढ़ करेगी।

-डॉ. रामगोपाल शर्मा

विनोबा भावे का बचपन और शिक्षा

संत विनोबा भावे का पूरा नाम वनिायक नरहरि भावे था। बचपन में गाँव, घर के लोग उन्हें 'विनोबा' नाम से पुकारते थे। बचपन में माता-पिता के लाड़-दुलार से लेकर विश्व भर में संत विनोबा भावे का सम्मानति दरजा पाने तक की जीवन-यात्रा विनोबाजी ने इसी नाम के साथ संपन्न की। विनोबाजी जैसे-जैसे उम्र की सीढ़ियाँ चढ़ते गए, उनका नाम भी कामयाबी की मंजलिें तय करता गया और एक समय ऐसा भी आया जब विनोबाजी का नाम घर-गाँव की चारदीवारी से नकलिकर प्रंत और देश की सीमाओं को लाँघते हुए विश्व स्तर पर सुंध बिखेरने लगा। बचपन के विनोबा ने संत विनोबा भावे तक की अपरमिति उपलब्धियाँ और दायति्व इसी संबोधन के साथ नभिाए।

पारविारकि पृष्ठभूमि और बाल्यकाल

संत विनोबा भावे का जन्म 11 सतिंबर, 1895 को महाराष्ट्र के कोलाबा जलि के गंगोड़ नामक ग्राम में हुआ था। विनोबाजी के पिता का नाम श्री नरहरि शिंभोराव और माता का नाम श्रीमती रुक्मिणी देवी था। वनिायक के परविार में उनके अलावा एक बहन व तीन भाई और थे। वनिायक अपने माता-पिता के सबसे बड़े पुत्र थे। विनोबा का बचपन उनके पैतृक गाँव गंगोड़ में उनके दादा-दादी एवं माता की देखरेख में बीता। ग्रामीण जीवन-शैली के साथ-साथ ही विनोबाजी का परविार धार्मकि मूल्यों एवं पारंपरकि मान्यताओं को मानने वाला एक संयुक्त परविार था। परविार की आर्थकि स्थिति सामान्य थी, लेकिन घर का वातावरण ब्राह्मण परविारों की तरह ही अत्यंत संस्कारयुक्त एवं धार्मकि था। परविार में सबसे बड़े पुत्र होने के नाते विनोबाजी को पूरे परविार का भरपूर लाड़-दुलार मलिा। पारविारकि वातावरण और परविार के सदस्यों के आचार-व्यवहार ने विनोबाजी के चरति्र को गढ़ने में महत्त्वपूर्ण भूमकिा नभिाई। जहाँ एक ओर उन्हें माता से त्याग, प्रेम और सेवाभाव के गुण मलि थे, वहीं पिता से संघर्षशीलता और कठोर परशि्रम करने की

पेरणा भी विरासत में मलिी थी। दादी से सदाचार की कथा-कहानियाँ सुनने को मलिी थीं, तो दादाजी के व्यवहार से समाज में सम्मान पाने के लिए संतुलति, अनुशासति और सभी के प्रति प्रेमपूर्वक आचरण की शिक्षा प्राप्त हुई थी। इस प्रकार बाल्यकाल से ही विनोबा के चरति्र का बड़ा ही संतुलति और सकारात्मक विकास हुआ।

पिता श्री नरहरि शिंभोराव भावे

वनियक के पिता श्री नरहरि शिंभोराव भावे बड़ौदा राज्य में तकनीकी कार्य करते थे। परविार के वही एक सदस्य थे, जो शहर में नौकरी करते थे। पिता की आय सामान्य थी, इसलिए वे अकेले ही शहर में रहते थे। विनोबा सहति शेष परविार गाँव में ही रहता था। आय के आधार पर विनोबा के पिता की जीवनचर्या सामान्य थी, किंतु उनके व्यक्तति्व में वचिार, संवेदना और परश्रिम का अद्‌भुत तालमेल था। वैचारकि धरातल पर जहाँ वे एक अत्यंत प्रगतशिील और आधुनकि वचिारधारा वाले प्रखर वचिारवान व्यक्ति थे, वहीं संवेदना के धरातल पर ब्राह्मण होने के नाते धार्मकि भावनाओं के प्रति पूरी तरह निष्ठावान एवं परंपरा प्रेमी भी थे। तीसरी ओर वे इतने परश्रिमी भी थे कि अपने व्यावसायकि जीवन में लगातार तरक्की प्राप्त करते हुए अपनी पहचान एक वशिषज्ञ के रूप में बना ली।

श्री नरहरि शिंभोराव भावे बहुमुखी प्रतभिा के धनी एवं परश्रिमी व्यक्ति थे। उन्होंने अपना कार्यक्षेत्र वत्र उद्योग को चुना और कुछ ही दनिों में उस समय की जानी-मानी कपड़ा मलि 'बकिंघम टैक्सटाइल मलि' के रँगाई वभिाग में तैनात हो गए। अपनी प्रतभिा, लगन और कठोर परश्रिम के आधार पर उन्होंने रँगाई उद्योग के क्षेत्र में अपना वशिष स्थान बनाया। वत्रों के उत्पादन से लेकर रँगाई तक के कार्य में उन्होंने नई-नई तकनीकों का इस्तेमाल किया और वत्र उद्योग को गुणवत्ता की दृष्टि आधुनकिता के नए आयाम दिए।

देश में पहली बार खादी के स्तरीय और कीमती वत्र बनाने तथा उन्हें मन माफकि रँगने की तकनीक के इस्तेमाल करने का श्रेय भी विनोबा के पिता श्री नरहरि भावे को दिया जाता था। इस प्रकार खादी वत्र उत्पादन के क्षेत्र में नरहरि भावे का नाम वशिषज्ञ और प्रतिष्ठति व्यक्ति के रूप में जाना जाता था। इस समय तक विनोबा अपनी माता और दादा-दादी के साथ अपने गाँव गंगोड़ में ही रहते थे।

कुछ समय बाद श्री नरहरि भावे को सरकारी वभिाग में वरिष्ठ लपिकि (सीनियर टाइपसि्ट) के पद पर नियुक्ति मलि गई। कार्य का क्षेत्र और स्वरूप बदल गया, किंतु फिर भी टैक्सटाइल उद्योग और वशिषकर कपड़े की रँगाई के कार्य में नरहरि भावे की रुचि पूर्ववत् बनी रही। सरकारी वभिाग में नियुक्ति होते ही नरहरि भावे ने बड़ौदा के सरकारी कार्यालय में कार्यभार सँभाल लिया। अब उनका बड़ौदा में रहना सुनश्चिति हो गया। आय के साधन और स्थायी रूप से आवास की समस्या के सुलझते ही श्री नरहरि का रुझान बालक वनियक की शिक्षा की ओर हुआ। उन्होंने वनियक को माता के साथ बड़ौदा बुला लिया तथा एक स्कूल में उसका दाखलिा करवा दिया। यह सन् 1903 की बात है। उस

समय विनायक की आयु आठ वर्ष की थी।

नरहरि भावे एक पारंपरिक ब्राह्मण थे। इसलिए धार्मिक परंपराओं के प्रति उनकी आस्था और निष्ठा बड़ी मजबूत थी। साथ ही वैचारिक धरातल पर नरहरि भावे का दृष्टिकोण वैज्ञानिक तथ्यों और तर्कों पर आधारित रहता था। वे जाति-पाँति तथा छुआछूत जैसी तत्कालीन बुराइयों के विरोधी थे। उनका व्यवहार पूरी तरह धर्मनिरपेक्ष था। उन्होंने अपने विचारों और व्यवहार के इस तालमेल को अपने जीवन में उतारने का भरसक प्रयत्न भी किया। जैसे कि वह अपने पारिवारिक मंदिर में विशिष अवसर पर हरिजनों को पूजा करने की छूट देते थे। एक मुसलमान उनके मंदिर में भजन गाया करता था।

यह समय कुछ ऐसा था कि समाज में शिक्षा के अभाव में भेदभाव और जाति-पाँति की बुराइयाँ खूब फैली हुई थीं। इसलिए नरहरि भावे की यह जातीय उदारता उच्च वर्गीय लोगों को बहुत खलती थी। एक बार ऐसे ही कुछ लोगों ने एकजुट होकर नरहरि भावे का खुला विरोध शुरू कर दिया। इन लोगों ने नरहरि भावे पर अशौच फैलाने का आरोप लगाया और नीची जातिवालों को मंदिर में प्रवेश देने के मामले में उनसे स्पष्टीकरण माँगा। नरहरि ने बिना किसी संकोच के जातिवाद का विरोध किया और अपना पक्ष स्पष्ट करते हुए कहा, घपरमेश्वर एक है। उसी ने यह संसार व ब्रह्मांड रचा है। सारे मनुष्य व जीव उसी एक परमपिता की संतान हैं, तो इससे क्या फर्क पड़ता है कि कौन हिंदू है और कौन मुसलमान या हरिजन? मैं जो करता हूँ, मुझे इसमें कोई बुराई नजर नहीं आती।" स्पष्टीकरण माँगने वाले तमाम विरोध के बावजूद नरहरि के तर्कों के आगे कुछ नहीं बोल सके।

जातीय उदारता के साथ-साथ नरहरि पूजा भक्ति के प्रति समर्पित तथा अत्यंत निष्ठावान थे। कई बार तो उनकी यह निष्ठा सारी सीमाओं को लाँघ जाती थी। जैसे कि अपने पूजाकक्ष में भगवान् की मूर्ति के निकट वह किसी जीव को मारने नहीं देते थे, चाहे वह बिच्छू या साँप ही क्यों न हो! उनका मानना था कि वह जीव उस समय भगवान् की शरण में है। कभी-कभी उनका व्रत आधी रात को पूरा होता था। तब वह सोए हुए विनायक को जगाते और उसे पूजा का प्रसाद खिलाते थे। उनका एक अटूट नियम यह भी था कि पूजा करते समय व्यक्ति को पूरी तरह शांत होना चाहिए। उसका ध्यान नहीं डिगना चाहिए। विनायक का छोटा भाई बड़ा शरारती था, पूजा करते समय कभी-कभी अपने पिता पर गंदा पानी फेंक दिया करता था। वास्तव में वह यह देखना चाहता था कि पिताजी पूजा के समय सचमुच शांत बने रह सकते हैं या नहीं, कहीं उन्हें गुस्सा तो नहीं आता? लेकिन बच्चे की इन शरारतों का नरहरि भावे पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था, वे उस समय तो पूरी तरह शांत बने रहते, लेकिन बाद में बच्चे को प्यार से समझाते कि किसी के पूजा करते समय कोई बाधा पैदा नहीं करनी चाहिए। पूजा के प्रति निष्ठा, आस्था और जातीय उदारता के इन गुणों के साथ ही व्यावहारिक जीवन में भी नरहरि भावे के अपने आदर्श व नियम थे। वे तथ्यों को तर्क की कसौटी पर कसते और परिवारजनों की मानसिकता के आधार पर ही निर्णय लेते थे।

एक बार परविार के किसी बच्चे ने गुड़ चुराकर खा लिया। दादी ने इसकी शकियित अपने बेटे नरहरि से की। वह सोचती थीं कि नरहरि उस बच्चे को बुलाकर डाँटेंगे व थोड़ी पटिाई कर देंगे, किंतु नरहरि बोले, घमाँ यह चोरी नहीं है। बालक इसी परविार का सदस्य है, अतः यहाँ की हर वस्तु पर उसका भी पूरा अधकिार है। उसने अपनी ही वस्तु तो ली है। उसका दोष यही है कि उसने इसके बारे में हम में से किसी को बताया नहीं।"

नरहरि ने उस बच्चे को बुलाया और पूछा, घतुमने गुड़ लेने से पहले अपने हाथ धोए थे या नहीं?च

फिर वह समझाने बैठ गए कि खाने की कोई चीज हाथ में पकड़ने से पहले हाथ धोना क्यों आवश्यक है। ऐसा अनोखा चरति्र था नरहरि भावे का! सचमुच उनके व्यक्तति्व में वैचारकिता, संवेदनशीलता, परशि्रम और समर्पण का ऐसा अद्भुत मेल था, जो उन्हें पारविारकि रशि्तों और सामाजकि संदर्भों में एक परपक्विता प्रदान करताथा।

पिता के इस प्रकार के व्यवहार का वनिायक के बालमन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। बचपन में ही वनिायक ने अपने पिता के व्यवहार और चरति्र से ये अनुपम सीख ले ली कि जीवन में सफलता के लिए आत्मनियंत्रण, धर्मनिरपेक्ष व्यवहार तथा वैज्ञानकि दृष्टकिोण रखना बहुत आवश्यक है। साथ ही जनि नियमों को हम अपने वचिारों में उचति मानते हैं, उनका अपने व्यवहार में भी पालन करना चाहिए। चाहे इस कार्य में किसी भी विरोध का सामना क्यों न करना पड़े। ये गुण बाद में विनोबा भावे के चरति्र में हमें खुलकर दिखाई देते हैं। उन्होंने अपने पिता की धर्मनिष्ठा के साथ-साथ जातीय उदारता और धर्मनिरपेक्षता की भावना को स्वयं अपने जीवन में अपनाया और पिता की तरह ही कठोर परशि्रम में विश्वास करते हुए आजीवन कठोर परशि्रम किया।

विनोबा के पिता अपने पारविारकि दायति्वों की पूर्ति के साथ ही एक सजग सामाजकि नागरकि के रूप में देश की जनता की गरीबी से द्रवति रहते थे। उनका वचिार था कि गरीबों को काम दलिवाने के लिए छोटे-छोटे उद्योगें की स्थापना की जानी चाहिए। इसके लिए वे गांधीजी के कुटीर उद्योगें की स्थापना के कार्यक्रम से बहुत प्रभावति थे। जब सन् 1935 में गांधीजी ने बड़ौदा के नकिट मगनवाड़ी में 'कुटीर तथा ग्राम उद्योग सहकार' खोलने का नशि्चय किया तो श्री नरहरि भावे को जैसे अपने वचिारों को साकार करने का अवसर मलिता दिखाई दिया। वे इस घोषणा से अत्यंत प्रसन्न हुए। वत्र उद्योग के एक वशिषज्ञ के रूप में श्री नरहरि भावे का खासा सम्मान था ही, सुखद घटना यह घटी कि मगनवाड़ी में उद्योग स्थापति करते समय गांधीजी द्वारा उन्हें वशिषज्ञ के रूप में आमंत्रति किया गया। अपने वचिारों को गांधीजी जैसे लोकप्रिय नेता के सान्नधि्य में साकार होते देखने की कल्पना से नरहरि भावे बहुत उत्साहति हुए और आमंत्रण स्वीकार करके नशि्चति समय पर वे बड़ी खुशी के साथ मगनवाड़ी पहुँच गए। गांधीजी के साथ नरहरि भावे का कुटीर उद्योगों की स्थापना के कार्य में आने वाली व्यावहारकि परेशानयों को दूर करने के उपायों पर वसि्तार से वचिार-वमिर्श हुआ। उनके वचिारों से गांधीजी बहुत प्रभावति हुए। इन सुझावों में एक यह भी था कि हाथ से कागज बनाने के क्षेत्र में भी कुटीर

उद्योगों की स्थापना की जानी चाहिए। इस कार्य के लिए लुगदी तैयार करने की समस्या सामने आई तो नरहरि भावे ने सुझाव दिया कि फलहिाल लुगदी को तो मशीन द्वारा तैयार करा लिया जाना चाहिए और कागज बनाने के लिए मजदूरों को लगाया जाना चाहिए। इस प्रकार मशीन और मजदूरों के सहयोग से हाथ से कागज बनाया जा सकता है। उस समय तो नरहरि भावे का यह सुझाव लागू नहीं हो सका, लेकिन कुछ दनिों बाद जब इसका प्रयोग किया गया तो हाथ से बनाए हुए कागज का यह कुटीर उद्योग खूब पनपा और बड़ी संख्या में गरीब मजदूरों को इस व्यवसाय से रोजी-रोटी मलिी।

नरहरि भावे जब इस प्रकार के प्रकरणों की घर में चर्चा करते तो वनिायक बड़े गौर से उनकी बातें सुनते। पिता नरहरि भावे के वचिारों और परशि्रम से वनिायक को बड़ी खुशी मलिती और वे पिता के गुणों को जीवन में अपनाते जाते। पिता के इन गुणों से भविष्य में विनोबा को बड़ी सहायता मलिी। गांधीजी के संपर्क में आने के बाद विनोबा भावे को जब मजदूरों को काम देने का मौका हाथ लगा तो उन्होंने खादी तथा कुटीर उद्योग के प्रति अपने पिता के प्रेम को एक बार फिर साकार रूप दिया। विनोबा के इस कार्य से गरीब व शोषति वर्ग के उत्थान के कार्य में बड़ी सहायता मलिी। एक समय तो ऐसा आया कि यही उद्योग तत्कालीन भारत में गरीबों को रोजगार देने के विनोबा के जनसेवा अभियान का मुख्य आधार बना।

नरहरि भावे गांधीजी का बहुत आदर करते थे। जवानी के दनिों में उन्होंने गांधी के ग्राम विकास और गरीबी हटाने संबंधी अनेक कार्यक्रमों में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था। जब उन्हें यह पता चला कि उनका बड़ा पुत्र वनिायक गांधीजी के साथ जुड़ा हुआ है और देश के लिए कार्य कर रहा है तो वे विनोबा के साथ-साथ अपने आप पर भी गर्व अनुभव करते थे।

एक बार इंफ्लूंजा हो जाने के कारण वे गंभीर रूप से बीमार पड़ गए। इसी बीच उनके दूसरे बेटे को भी बीमारी ने आ घेरा। यह समाचार जब गांधीजी को मलिा तो उन्होंने पिता और भाई की देखभाल के लिए विनोबा को जबरदस्ती घर भेज दिया। विनोबा को देखते ही नरहरि भावे अपनी तकलीफ भूल गए, उन्हें विनोबा के पास होने की खुशी तो हुई, लेकिन आश्रम के काम पिछड़ जाने की चिंता भी। उन्होंने विनोबा से पहला प्रश्न यही किया- 'आश्रम का काम छोड़कर क्यों चले आए हो?'

सन् 1947 में विनोबा भावे जब अपने सुधारवादी कार्य़ों के कारण देश भर में ख्याति प्राप्त कर चुके थे और एक सम्मानति समाज-सेवी के रूप में पहचाने जाने लगे थे, उस समय नरहरि भावे गंभीर रूप से बीमार पड़े। उन्हें आभास हुआ कि उनके जीवन का अंतमि समय अब सन्नकिट है, परंतु उन्होंने विनोबा को अपनी बीमारी की सूचना नहीं दी, ताकि विनोबा के समाज-सेवा के कार्य में बाधा न पड़े। विनोबा भावे को पिता की बीमारी की खबर लग गई। उन दनिों वे धुलिया में भूदान आंदोलन चला रहे थे, इसलिए घर नहीं जा सके। उन्होंने पिता की देखभाल के लिए उन्हें अपने पास ही बुला लिया। नरहरि को उनकी अनचि्छा के बावजूद धुलिया लाया गया। जहाँ विनोबा भावे ने अपने भूदान आंदोलन को चलाते हुए पिता की देखभाल की।

मृत्युशय्या पर पड़े पिता से विनोबा ने पूछा, घक्या आप अपने जीवन से संतुष्ट हैं?च

पिता ने सिर हलिाकर हामी भर दी और मृत्यु का वरण कर लिया। उनका अंतमि संस्कार विनोबा ने स्वयं किया तथा उनकी अस्थियाँ नदी में बहाने के स्थान पर वैदकि रीति से घर के एक कोने में दफना दी गइऔ।

दादी श्रीमती गंगाबाई

वनिायक की दादी श्रीमती गंगाबाई परमात्मा में विश्वास रखनेवाली भक्तभिाव से युक्त महलिा थीं। साथ ही वे सुदृढ़ वचिारों वाली, अत्यंत संकल्पशील और जदि की पक्की भी थीं। उनकी शिक्षा-दीक्षा उस युग के अनुरूप न के बराबर ही थी, लेकिन संकल्पशील इतनी कि एक बार 55 वर्ष की अवस्था में उनका रुझान अचानक लिखने-पढ़ने की ओर हुआ। बस फिर क्या था, उन्होंने संकल्प लिया और लिखना-पढ़ना सीखने की ठान ली, और सचमुच कुछ ही समय में वे अपना संकल्प पूरा करके ही रहीं।

संस्कारवान होने के साथ-साथ गंगाबाई स्वभाव से बड़ी हँसमुख थीं। वह स्वयं भी हँसी-खुशी रहतीं और दूसरों को भी हँसने-हँसाने का कोई मौका हाथ से नहीं जाने देती थीं। इसके साथ ही उनमें एक वशिष गुण यह भी था कि वे किसी की बोली की नकल उतारने की कला में पारंगत थीं। वह घर में होतीं तो किसी-न-किसी की नकल उताकर सबको हँसा-हँसाकर लोट-पोट कर देती थीं।

दादी की खुशमजिाजी बालक वनिायक को बहुत भाती थी। वे दादी से अत्यंत लगाव रखते थे और दादी भी घर का बड़ा पुत्र होने के नाते वनिायक से अत्यधकि लगाव रखती थीं। किंतु जब वनिायक के दादाजी की मृत्यु हो गई, तो दादी का स्वभाव एकदम बदल गया। घर-परविार से जैसे उन्हें विरक्ति हो गई थी। सबको हँसाने और सदैव खुश रहनेवाली दादी अब बहुत शांत रहने लगी थीं। कुछ ही दनिों बाद उन्होंने अचानक एक दनि बनारस जाकर रहने की घोषणा कर दी। परविार के लोग उनके इरादों की गंभीरता से परचिति थे। आखिर सबके समझाने और रोकने के बावजूद दादी ने अपना संकल्प नहीं बदला और परविार को छोड़कर बनारस चली गइऔ। जीवन के अंतमि क्षणों तक वे वहीं रहीं। अंततः काशी की पवति्र रज में ही भगवान् शवि की आराधना करते हुए उन्होंने नश्वर शरीर को त्याग दिया।

माता श्रीमती रुक्मिणी देवी

विनोबाजी की माता श्रीमती रुक्मिणी देवी परमात्मा में विश्वास रखनेवाली एवं भक्तभिाव से युक्त अत्यंत संवेदनशील महलिा थीं। धार्मकि वचिारों और पारंपरकि मूल्यों तथा मान्यताओं के साथ ही देशकाल और वातावरण के प्रति भी अत्यंत सजग थीं। विनोबाजी को उनके लाड़-दुलार के साथ उनकी इस सजगता का भी भरपूर लाभ मलिा।

बचपन में स्कूल में भरती होने के समय तक विनोबा अपनी माता की इसी सजगता के कारण देश की अनेकानेक प्रतभिाशाली, प्रगतशिील और आजादी के संघर्ष में लगी प्रमुख प्रतभिाओं के नाम जान चुके थे। इनमें गोपाल कृष्ण गोखले और बाल गंगाधर तलिक जैसे समाज-सेवी और राजनैतकि व्यक्तत्विों की संघर्षगाथा के अनेक प्रंग विनोबा बचपन में ही अपनी माताजी से सुन चुके थे। देश की आजादी के लिए किए जा रहे कार्य़ों के बारे में सुने इन प्रंगों से विनोबाजी का मन बहुत गहरे तक प्रभावति हुआ था और यहीं से विनोबा के मन में देशसेवा के संस्कारों ने रूपाकार लेना आरंभ कर दिया था। वे बड़ी रुचि से इन समाजसेवयों के बारे में और अधकि जानने के इच्छुक रहते थे और समय-समय पर माताजी से उनके विषय में पूछते रहते।

वनिायक के बालमन पर उनकी माता के धर्मनिष्ठ और सात्त्वकि जीवन का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि वे माता से आजीवन प्रेरणा लेते रहे।

दादी के हँसमुख स्वभाव के वपिरीत उनकी माता का स्वभाव बहुत गंभीर था। आचार-वचिार और भावनाओं के स्तर पर भी वे अत्यंत धार्मकि थीं। उनके आचरण में वह सबकुछ था, जसिकी एक ब्राह्मण परविार की गृहिणी से अपेक्षा की जाती है। वे सारे परविार के साथ वर्ष भर पड़ने वाले धार्मकि अनुष्ठानों को बड़ी निष्ठा और भावना के साथ मनातीं तथा परविार में परंपरा से रखे जानेवाले सभी व्रत-उपवासों को पूरी आस्था से रखती थीं। इसके अतिरक्ति समय-समय पर आने वाले तीज-त्योहारों को वे पूरे वधि‌ि-वधिान के साथ मनाती थीं। उनके कार्यकलापों, निष्ठा, आस्था और धार्मकि अनुशासन के साथ-साथ गंभीर सोच का बालक वनिायक की सोच व आदतों पर गहरा प्रभाव पड़ा।

माता से ही वनिायक को अनुशासन, बलदिान, त्याग, पवति्रता, नसि्स्वार्थ सेवा और चिंतन तथा परशि्रमशील बनने की शिक्षा मलिी। इस प्रकार माता रुक्मिणी देवी का जीवन वनिायक के लिए महान् वरदान बना और उनकी शिक्षा ने वनिायक को संस्कारति करके संत विनोबा भावे के रूप में देश को एक आत्मसंयमी और समर्पति पथ-प्रदर्शक दिया।

बालक वनिायक अब बड़ा होने लगा था और साथ ही उसकी नैसर्गकि प्रतभिा भी वकसिति होने लगी थी। बात उन दनिों की है, जब विनोबा के पिता बड़ौदा में नौकरी करते थे और विनोबा गाँव में माता के पास रहते थे। पारविारकि कारणों के चलते विनोबा अभी स्कूल नहीं जा सके थे, लेकिन माँ की देखरेख में घर में ही उन्हें शिक्षित और संस्कारति करने के प्रयास जारी रहे। वनिायक की प्रतभिा दनिोदनि उजागर होने लगी। वह गंभीर विषयों को भी बड़ी सहजता से ग्रहण करने लगे। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' की कहावत को चरतिार्थ करते हुए वनिायक बचपन से ही बुद्धमिान बालक के रूप में जाने जाते थे। माता कभी उनकी परीक्षा लेने के लिए और कभी वास्तव में ही समस्याओं का हल पाने के लिए विनोबा के सामने समस्याएँ रखतीं और उनका हल पूछतीं। वनिायक के समस्याओं को तर्कसम्मत ढंग से सुलझाने से वे बहुत प्रभावति होतीं। बाद में तो माता रुक्मिणी देवी को अपने बेटे की बुद्धमत्तिा पर गर्व होने लगा। अब वे परविार और अन्य लोगों की

कठनि-से-कठनि समस्याओं को भी पूरे विश्वास से वनिायक के समक्ष रखतीं और उनकी राय से कार्य करतीं। माँ का अपने बेटे के बुद्धि-चातुर्य पर विश्वास निरंतर बढ़ता गया और वनिायक ने भी अपनी ओर से माँ के इस विश्वास को बनाए रखने का भरपूर प्रयास किया।

एक बार वनिायक की माँ ने भगवान् को चावलों के एक लाख दाने चढ़ाने का संकल्प कर लिया। अब वह प्रतदिनि चावल लेकर बैठ जातीं और एक-एक दाना गनि-गनिकर भगवान् का नाम स्मरण करते हुए रखती जातीं। पति को रुक्मिणी देवी के इस प्रकार व्यस्त रहने से बड़ा कौतूहल हुआ। कुछ समय तक तो वे चावल गननि का यह तमाशा देखते रहे, मगर जब उनसे रहा नहीं गया तो उन्होंने पत्नी को सुझाया, घभाग्यवान्! इस तरह दाने गननि से तो तुम्हें एक लाख की गनतिी पूरी करने में महीनों लग जाएँगे। तुम ऐसा क्यों नहीं करतीं कि एक तोला (लगभग 10 ग्राम) चावल तौलकर गनि लो कि एक तौल में कतिने दाने होते हैं, फिर गुणा करके जान लो कि एक लाख दाने चावलों का भार कतिना होगा। उतनी ही तौल के चावल भगवान् को चढ़ा दो।"

रुक्मिणी देवी को पति की बात ठीक तो लगी, लेकिन उनका मन इस तर्क को मानने को तैयार नहीं हुआ। अंतर्द्वंद्व में जब उन्हें कोई सटीक उत्तर नहीं सूझा तो वे चुपचाप बैठी रहीं। उनके मन में लगातार यही भावना उठती कि दाने गनि-गनिकर एक लाख की गनतिी पूरी करना ही ठीक है, तौलना नहीं। आखिर वे यह सोचकर प्रतीक्षा करने लगीं कि 'वनिायक आएगा तो उससे पूछूँगी।' वनिायक घर आए तो माता ने अपनी समस्या बेटे को बताई। वनिायक समस्या पर कुछ देर तक सोचते रहे और फिर माँ को समझाते हुए बोले, "माँ! भगवान् को चावल चढ़ाने का तुम्हारा उद्देश्य वास्तव में चावल चढ़ाना मात्र नहीं है, अपतिु चावल गनिकर एक लाख बार भगवान् के नाम का स्मरण करना है। इसलिए यह कार्य आपकी भावना से जुड़ा हुआ है, कोई गणति का अभ्यास नहीं है कि आप तौलकर चावल चढ़ा दें! जब तुम चावल का एक-एक दाना चुनकर रखती हो, तो हर दाने के साथ तुम्हारा मन भगवान् के नाम का स्मरण करता है और यही तुम्हारा वास्तव में उद्देश्य भी है। इसलिए यह उद्देश्य चावल के दाने गनि-गनिकर ही पूरा होगा। तौलकर चावल चढ़ाने से चावल अर्पति करने का उद्देश्य तो पूरा हो जाएगा, लेकिन भगवन्नाम स्मरण करने का उद्देश्य पूरा नहीं होगा। इसलिए आप गनिकर ही चावल चढ़ाएँ।"

बेटे के तर्क से माँ की भावनाओं को संतुष्टि मलिी। बेटे को शाबाशी देकर रुक्मिणी देवी ने तुंत पति को बताया कि चावल के दाने गननिा क्यों आवश्यक है। नरहरि भावे को भी वनिायक का तर्क मानना पड़ा।

कशिोरावस्था तक आते-आते वनिायक के वचिार इतने परपक्वि हो गए थे कि उन्होंने जीवन का एक अलग ही उद्देश्य चुन लिया। उन्हें लगा कि जीवन का उद्देश्य गृहस्थ होकर पत्नी-बच्चों के मोह और पालन-पोषण में जीवन को लगा देना भर नहीं है, ऐसा तो सभी करते आ रहे हैं। भारतीय मीमांसा के अनुसार जीवन का उद्देश्य गृहस्थ से अलग कुछ और भी है। इसलिए वनिायक ने त्याग, समर्पण और सेवा को जीवन के मुख्य उद्देश्य स्वीकारते हुए अपने संकल्पों की पूर्ति के लिए गृहस्थ के दायरे में बँधने की बजाय आजन्म ब्रह्मचारी

रहने का संकल्प कर लिया। माँ को जब इस संकल्प का पता चला तो उन्होंने इस संदर्भ में न कोई चिंता दिखाई और न ही कोई घबराहट। गाँव, परविार और रश्तिदारयों की दूसरी महलिाएँ यह देखकर चकति थीं कि आखिर हर भारतीय माता का एक ही तो सपना होता है कि उनका पुत्र जब युवावस्था में कदम रखेगा तो एक दनि उसका ववािह होगा और एक सजी-धजी नई दुलहन घर में कदम रखेगी। वह बेटे और नववधू की बलैया लेगी और घर खुशयों से चहक उठेगा। मगर यहाँ तो मामला कुछ और ही था। माँ ने उल्टे अपने बेटे को सलाह दी कि वह खूब सोच-समझकर संकल्प ले, लेकिन जब संकल्प ले ले तो फिर अपने संकल्प पर अडगि रहे। इस प्रकार रुक्मिणी देवी ने अपने बेटे के संकल्प को न केवल अपनी स्वीकृति दे दी, अपतिु उसकी सराहना भी की। जब भी कोई रुक्मिणी देवी से वनिायक के संकल्प के बारे में पूछता तो उनका एक ही जवाब होता कि उन्हें अपने बेटे की बुद्धमित्ता पर पूरा विश्वास है, वह जो निर्णय लेगा, वह उचति ही होगा।

वनिायक को अपने निर्णय के पक्ष में माँ का पूर्ण समर्थन मलि गया था। अतः उनकी सोच लगातार वैराग्य की ओर बढ़ती गई। कुछ ही समय बाद वनिायक ने दूसरा महत्त्वपूर्ण निर्णय लिया-संन्यास ग्रहण करने का। वनिायक अभी कशिोरावस्था में ही थे, इसलिए भगवान् की खोज में परविार का परत्यिाग करने के उनके निर्णय से उनके पिता को चिंता हुई। पिता की चिंता स्वयं से कहीं अधकि वनिायक की माँ को लेकर थी। उनका सोचना था कि बेटे के घर-त्याग करने की घोषणा से माँ वचिलति होगी, उसे दुख होगा। उन्होंने पत्नी को सांत्वना देने का प्रयत्न किया, परंतु रुक्मिणी देवी को किसी सांत्वना की आवश्यकता नहीं थी। उन्होंने अपने बेटे की बुद्धि पर पूरा विश्वास प्रकट करते हुए पति से कहा, " मेरा बेटा संकल्प का धनी है। उसने परविार को त्यागने का निर्णय लिया है, तो नश्चिय ही, इसमें हम सबकी भलाई होगी। मेरा वनिय कभी गलत नहीं करता।"

रुक्मिणी देवी की मृत्यु सन् 1918 में हुई। इस समय तक वनिायक गांधीजी के संपर्क में आ चुके थे और साबरमती आश्रम में रह रहे थे। गांधीजी के साथ देश की आजादी और देशवासयों की सेवा के महत्त्वपूर्ण दायत्वि को नभिाने के कारण वनिायक अब 'विनोबा भावे' के रूप में पहचाने जाते थे। गांधीजी से अनुमति लेकर विनोबा माँ की अंत्येष्टि में भाग लेने घर लौट आए, पर वह शवयात्रा में नहीं गए, घर पर ही रहे। वह माँ की अंतमि क्रिया की रस्में पुरोहति के स्थान पर स्वयं करना चाहते थे, किंतु उन्हें इसकी आज्ञा नहीं मलि पाई।

विनोबा का विद्यार्थी जीवन

सन् 1903 में जब नरहरि भावे ने अपने परविार को बड़ौदा में अपने पास स्थायी रूप से बुला लिया, तब बालक वनिायक के जीवन में एक नया अध्याय आरंभ हुआ। यह वह समय था, जब देश में आजादी की लड़ाई अपने चरम पर थी। एक ओर गांधी का अहिंसक आंदोलन जारी था तो दूसरी ओर गरम दलों का आततायी अंग्रेजों के खलिाफ उग्र प्रदर्शन जारी था। यानी कि इस समय देश में राजनीति की गरमाहट अपने चरम पर थी।

भारतीयों के प्रदर्शनों को रोकने-कुचलने के लिए अंग्रेज सरकार अब डंडों और कोड़ों की जगह गोलियाँ चलाने से नहीं चूक रही थी और आजादी के दीवाने अंग्रेजी ठकिानों और सरकारी खजानों को लूटने के लिए कहीं छापामारी कर रहे थे तो कहीं बम फोड़ रहे थे। गरम स्वभाव के ये नेता गांधीजी के अहिंसक आंदोलन से संतुष्ट नहीं थे। वे कांग्रेस पार्टी से खुले शब्दों में माँग कर रहे थे कि कांग्रेस अंग्रेज सरकार के विरुद्ध तीखे तेवर अपनाए। इसी बीच अंग्रेजों ने बंगाल का वभिाजन कर दिया, जसिके विरोध में देश भर में क्रांति की ज्वाला धधक उठी। देश का बच्चा-बच्चा अंग्रेजों के विरोध में लड़ने-मरने को तैयार हो रहा था। क्रांतकिारी अंग्रेजों के विरोध में नए सरफरोश दलों का गठन कर रहे थे।

इस समय तक वनिायक प्राथमकि कक्षा का छात्र था और उसके पिता एक सरकारी सेवा में थे। इसलिए वैचारकि धरातल पर गांधी और क्रांतकिारयों के साथ जुड़े होने के बावजूद भावे परविार अभी तक सक्रिय राजनीति से दूर था।

पिता द्वारा बड़ौदा बुला लिये जाने के बाद बालक वनिायक को स्कूल में तीसरी कक्षा में पढ़ने के लिए भेजा गया। वहाँ वनिायक ने अपनी प्रतभिा दिखाई। वह सदा कक्षा में प्रथम आते रहे और छात्रवृत्ति पाते रहे। छठी कक्षा के बाद वनिायक की शिक्षा में फिर व्यवधान आ गया। उन्होंने स्कूल जाना छोड़ दिया और पिता की देखरेख में वे घर पर ही पढ़ते रहे।

हर पिता की तरह ही वनिायक के पिता भी यही चाहते थे कि बड़ा पुत्र होने के नाते वनिायक भी उन्हीं की तरह वत्र उद्योग के क्षेत्र में वशिषज्ञ बने, पर वनिायक की रुचि घर से बाहर देशवासयों के दुख-दर्द को समझने तथा उन्हें दूर करने के कारगर प्रयास करने की ओर अधकि थी।

वनिायक की बढ़ती सामाजकि सक्रियता को देखकर आखिर पिता ने उन्हें पूरी तरह व्यस्त करने के लिए बड़ौदा हाईस्कूल में भरती करा दिया। यहीं से वनिायक ने सन् 1913 में मैट्रकि की परीक्षा पास की। फिर इंटरमीडिएट के अध्ययन के लिए बड़ौदा कॉलेज में प्रवेश ले लिया। स्कूल व कॉलेज में वनिायक एक वनम्रि, सुशील तथा आदर्श विद्यार्थी के रूप में जाने जाते थे।

वनिायक की पढ़ने में अत्यधकि रुचि थी। कोर्स की पुस्तकें तो वे कॉलेज से आने के बाद तुंत पढ़कर कार्य पूरा कर लेते। इससे उनके पास पर्याप्त समय बच जाता। इस समय में वे विश्वप्रसद्धि लेखकों की रचनाएँ पढ़ा करते थे, जैसे-वक्टिर ह्यूगो, मल्टिन, वर्डसवर्थ, ब्राउनिंग, टॉल्सटाय तथा शेक्सपियर आदि। वह पत्रकिाएँ भी पढ़ते, परंतु इतहिास, विज्ञान और दर्शनशात्र वशिषकर प्राचीन भारतीय साहत्यि एवं दर्शन पर लिखे गए लेख व गंभीर रचनाएँ पढ़ने में उनकी वशिष रुचि थी। माँ के सान्नध्यि में बालक वनिायक ने बचपन में ही महाराष्ट्र के सभी सूफी संतों की शिक्षाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उन्हें संतों के पारलौककि अनुभवों को व्यक्त करनेवाले दोहे और घटनाएँ बहुत पसंद थीं। उनकी इसी रुचि के कारण उन्हें प्रमुख सूफी संतों और भक्तों के लगभग दस हजार दोहे व चौपाइयाँ कंठस्थ हो चुकी थीं। इसके अतिरक्ति वे भक्ति भाव से भरे मधुर भजनों व गीतों

को भी गाते-गुनगुनाते रहते थे।

गणति वनिायक का अत्यंत प्रिय विषय था। गणति की गंभीर समस्याओं को सुलझाने में उन्हे वशिष आनंद मलिता था। वनिायक को भाषाओं का भावार्थ सीखने की भी बहुत ललक थी। अपनी मातृभाषा मराठी के अतिरक्ति उन्होंने वभिन्नि भारतीय भाषाओं, जैसे-गुजराती, हिंदी, संस्कृत और प्रमुख वदिशी भाषाओं, जैसे इंगलशि और प्रंच आदि को भी सीख लिया। भाषाओं के प्रति विनोबा की यह ललक लगातार जारी रही। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान जब विनोबा को दक्षिण भारत की बैलोट जेल में भेज दिया गया तो यहाँ समय का सदुपयोग करते हुए विनोबा ने तमलि, तेलुगु, कन्नड़ व मलयालम जैसी दक्षिण भारतीय भाषाएँ सीखीं और उनके साहति्य का भी अध्ययन किया।

अपने पिता की तरह ही वनिायक के भी अपने कुछ आदर्श व नियम थे। वे कपड़े पहनने पर वशिष ध्यान नहीं देते थे। कपड़ों को वे मात्र तन ढकने का साधन भर मानते थे। इसलिए जैसे भी सुवधिाजनक लगे, वैसे ही वत्र पहन लेते थे। इस बारे में दूसरों की टीका-टप्पिणयों की वनिायक ने कभी परवाह नहीं की। अपने वचिारों में वनिायक इतने मगन रहते कि कई बार तो वे जैसे कपड़े घर में पहने होते, उन्हीं को पहनकर सार्वजनकि स्थानों पर भी चले जाते या वहाँ भी अपनी सुवधिा के अनुसार कपड़ों को उतार लेते थे।

ऐसी ही एक घटना उनके सेंट्रल लाइब्रेरी में पढ़ते समय घट गई। एक बार वनिायक सेंट्रल लाइब्रेरी में पुस्तकें पढ़ रहे थे। गरमी की दोपहरी थी। लू चल रही थी। वनिायक ने गरमी और पसीने से तंग आकर कुरता उतारकर एक ओर रख दिया और अधनंगे ही कुरसी पर बैठकर पढ़ने लगे। लाइब्रेरी क्लर्क ने जब एक छात्र को इस तरह बैठे देखा तो उसका पारा चढ़ गया। वह तुंत वनिायक के पास आया और कुछ तल्ख आवाज में बोला, "महाशय! सार्वजनकि स्थानों में कपड़े पहनने का एक ढंग होता है, शिष्टाचार को समझने के लिए बुद्धि तो चाहिए न?"

विनोबा क्लर्क के प्रश्न में छुपे व्यंग्य को भली प्रकार समझ रहे थे, लेकिन फिर भी उन्होंने शांत भाव से उत्तर दिया, "भगवान् ने बुद्धि देने में मेरे मामले में काफी उदारता से काम लिया है। मेरे पास यह जानने के लिए काफी बुद्धि है कि मैं कसि प्रकार कपड़े पहनूँ !"

क्लर्क विनोबा की बात को उनकी ढीठता मानकर और अधकि झुँझला गया और उसने मुख्य लाइब्रेरियन से इसकी शकिायत कर दी। मुख्य लाइब्रेरियन एक अंगेज था। उसने वनिायक को अपने कक्ष में पेश होने का आदेश दिया।

वनिायक न तो इससे घबराए और न ही उन्होंने अपने कार्य को छपिाने की कोशशि की। वे जैसे बैठे थे वैसे ही उठे और कुरते को अपने बाएँ कंधे पर लटकाए उसके कक्ष में प्रवेश किया तथा लाइब्रेरियन के सामने जा खड़े हुए।

अंग्रेज लाइब्रेरियन ने सख्ती के साथ वनिायक को घूरते हुए सवाल दागा-घक्या तुम सामाजकि शिष्टाचार के विषय में जानते हो"

"जानता हूँ।" विनायक का उत्तर था।

"क्या मैं जान सकता हूँ, शिष्टाचार में क्या-क्या होता है?" अंग्रेज ने फिर पूछा।

विनायक ने शांत भाव से उत्तर दिया, घहाँ, शिष्टाचार का पहला नियम तो यह है कि जब कोई आपसे बात कर रहा हो और वह आपके सामने खड़ा हो, तो उसे बैठने के लिए आमंत्रित किया जाता है।"

लाइब्रेरियन झेंप गया, लेकिन विनायक की निर्भीकता ने शायद उसके अधिकारी होने को ठेस पहुँचाई थी। उसका चेहरा लाल हो गया था। किसी प्रकार स्वयं को संयत करते हुए वह बोला, "क्षमा कीजिए, कृपया बैठिए।"

विनायक के बैठने के बाद लाइब्रेरियन ने बेढंगे तौर पर कुरता कंधे पर लटकाकर अधनंगे होने का कारण पूछा।

विनायक ने कहा, "महोदय! शिष्टाचार के ढंग हर देश में वहाँ के वातावरण और तात्कालिक परिस्थिति के अनुसार अलग-अलग होते हैं। हमारा देश आपके इंग्लैंड की तरह ठंडा नहीं है, जहाँ बारह महीने सूट पहनकर रहना पड़ता है। यह देश गरम है। यहाँ कम कपड़े पहनना सुविधाजनक व स्वास्थ्य के लिए लाभदायक होता है।"

विनायक के तर्क को सुनकर लाइब्रेरियन ने कुछ सोचा और बिना कोई दंड दिए उन्हें जाने के लिए कह दिया। विनायक पूरी विनम्रता से कमरे से बाहर आ गए।

कॉलेज की शिक्षा के दौरान छात्रों की प्रतिभा को उभारने के लिए विनायक व उनके कुछ छात्र मित्रों ने एक 'छात्र क्लब' बनाया। जहाँ सभी सदस्य विभिन्न मुद्दों पर बातें करते, पढ़ते, तात्कालिक और विशेष विषयों पर अपने विचार रखते, वाद-विवाद करते तथा भाषण देते थे। विनायक इस क्लब के एकमात्र वक्ता थे। वह अच्छा भाषण देते थे, परंतु उन्होंने क्लब में कोई पद स्वीकार नहीं किया था। बचपन से ही वह वैरागी प्रवृत्ति के थे- सांसारिक इच्छाओं और अभिलाषाओं से दूर।

एक दिन क्लब के एक सदस्य ने सुझाया, "विनायक को भी क्लब का कोई पद सौंप देना चाहिए।"

विनायक हँसकर बोले, "मुझे क्लब का कोई पद देना ऐसे ही होगा, जैसे संत तुकाराम को इंपीरियल बैंक का गवर्नर बनाना !"

संत तुकाराम महाराष्ट्र के प्रसिद्ध फकीर संत हुए हैं। सच्चाई यह थी कि एक बार विनायक की माँ ने उन्हें अपने स्कूल या कॉलेज के प्रमाण-पत्र आग में फूँकते हुए देख लिया। उन्होंने घबराकर पूछा, "यह क्या कर रहे हो विनय? ये प्रमाण-पत्र तो बाद में बहुत काम आते?"

विनायक ने कहा, "मुझे इनकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी, क्योंकि नौकरी तो मैं कभी करूँगा

नहीं।"

वनिायक निरंतर विरागी होते जा रहे थे। अब वह प्रायः वचिारों में डूबे रहते। नदी तट पर बैठकर सोचने और कवताएँ लिखने के साथ-साथ अब वह घर पर भी कवताएँ लिखने लगे थे। घर पर कवताएँ लिखते और उन्हें आग के सुपुर्द कर देते थे। कवताओं को सँभालकर रखने के प्रति वनिायक के मन में कोई आसक्ति नहींथी।

विनोबा का वैचारकि अंतर्द्वंद्व

विनोबा बचपन में ही माता से हमिालय में तपस्या करनेवाले संतों के बारे में काफी कुछ सुन चुके थे। इन संतों और मुनयों की जीवन-शैली ने विनोबा के बालमन को बहुत प्रभावति किया था। जब विनोबाजी विश्वविद्यालयी शिक्षा से तालमेल नहीं बिठा पा रहे थे, तो इसी बीच उनके मन में हमिालय में तपस्या करनेवाले महात्माओं के प्रति सोई जज्ञिासा फिर से जाग्रत् हो उठी और हमिालय उन्हें पूरी तीव्रता से अपनी ओर खींचने लगा। अभी वे हमिालय की ओर जा तो नहीं सके, लेकिन हमिालय की कल्पनाओं, संतों की साधनाओं ने विनोबा के नश्चिय को और अधकि दृढ़। विनोबा का मन हमिालय में साधना करने और प्राचीन भारतीय संस्कृति का अनुशीलन करने के लिए बड़ी तीव्रता से लालायति रहने लगा। शीघ ही उन्हें ऐसा अवसर मलि गया जब उन्होंने अपनी कल्पनाओं को साकार करने के लिए अपने मन को दृढ़ किया और अपना रास्ता बदल लिया।

विनोबा का गृह परत्याग

बात सन् 1916 की है। इधर तो विनोबा की परीक्षाएँ नकटि आ रही थीं और उधर उनका मन जीवन के सच्चे अर्थ के चिंतन-मनन में लगा हुआ था। मार्च 1916 को वनिायक अपने मत्रिों के साथ इंटरमीडिएट की परीक्षा देने बंबई के लिए रवाना हुए। वचिारों का मंथन मन को मथे दे रहा था। जीवन का कोई और ही लक्ष्य था, जो लगातार विनोबा को अपनी ओर खींचे जा रहा था। ऐसे में रेलगाड़ी में ही वनिायक ने अपने जीवन का एक महत्त्वपूर्ण निर्णय ले लिया। वह निर्णय था परविार त्यागने का और ईश्वर की खोज में जाने का।

सूरत रेलवे स्टेशन पर गाड़ी रुकी तो विनोबा छात्र दल से अलग हो गए और बंबई जाने वाली गाड़ी से उतरकर बनारस जाने वाली रेलगाड़ी में बैठ गए। उनके दो मत्रि शंकर राव तगारे और बेडेकर भी उनके साथ हो लिये। वनिायक ने अपने पिता को अपने निर्णय की जानकारी देने के लिए सूरत रेलवे स्टेशन पर ही एक पत्र लिखा और घर के पते पर डाल दिया। पत्र में लिखा था-

घमैं बंबई जाने की बजाय कहीं और जा रहा हूँ। चिंता न करें। मैं जहाँ भी जाऊँगा, कोई गलत अथवा अनैतकि कार्य नहीं करूँगा।"

विनोबा का बनारस प्रवास

इसके बाद विनायक निश्चिंत होकर बनारस की ओर चल दिए। इस निर्णय के पीछे विनायक का पहला उद्देश्य संस्कृत सीखकर हिंदू धर्मग्रंथों, वेद, पुराण व उपनिषदों का गहन अध्ययन करना था और उस अध्ययन के आलोक में ईश्वर की खोज के लिए अपनी राह चुनना था।

विनायक घर से कोई कार्यक्रम बनाकर तो चले नहीं थे। इसलिए उनके पास धन की बहुत सीमित व्यवस्था थी। बनारस पहुँचकर तीनों मित्रों ने पहले रहने की व्यवस्था की। उन्होंने दुर्गाघाट के एक मकान की तीसरी मंजिल पर किराए का कमरा लिया। दोपहर को तीनों पास के मंदिर में जाते, जहाँ दिन के समय दानियों द्वारा मुफ्त भोजन कराया जाता था। भोजन के बाद दक्षिणा के रूप में दो पैसे भी मिल जाते थे। इन दो पैसे से तीनों मित्र रात का भोजन जुटा लेते थे। इस प्रकार तीनों मित्रों का जीवन पूरी तरह भिक्षावृत्ति पर आधारित बड़े कठिन दौर से गुजर रहा था।

अभावों से घबराकर तगारे का पलायन और बेडेकर की मौत

शंकर राव तगारे और बेडेकर विनायक की तरह सोच तो रखते थे, लेकिन वास्तव में उनके विचारों में विनायक की तरह परिपक्वता नहीं थी और न ही उनके जीवन का यह लक्ष्य ही था। घर की सुविधाओं में पला-बढ़ा शंकर राव तगारे बनारस में विनायक के साथ भिखमंगों जैसी तंगी व फटेहाली का जीवन सहन नहीं कर पाया और भाग खड़ा हुआ। वह अपने घर लौट गया। बेडेकर ने हिम्मत जुटाई और तमाम परेशानियों के बावजूद सारी कठिनाइयों को झेलता हुआ वह विनायक के साथ बनारस में ही डटा रहा। लेकिन बनारस में भूख-प्यास से तंग रहने और जो जैसा मिल जाए, खा लेने के कारण जल्दी ही कुपोषण का शिकार हो गया। उसका स्वास्थ्य धीरे-धीरे गिरने लगा और कुछ ही दिनों में उसे बीमारियों ने आ घेरा। तंगहाली के चलते उसके इलाज की कोई व्यवस्था नहीं हो पाई और कुछ ही दिनों में बेडेकर ने यह नश्वर शरीर छोड़ दिया। बेडेकर की अकाल मृत्यु से विनायक को गहरा दुख हुआ। उन्होंने अपने इस साथी को नम आँखों से अंतिम विदाई दी और अपने हाथों से स्वयं ही वैदिक रीति से अपने इस मित्र का अंतिम संस्कार किया। बनारस के पंडे-पंडितों ने विनायक के इस कार्य की आलोचना की और उपहास उड़ाया, परंतु विनायक ने इसकी परवाह नहीं की। मित्र के दुख से पीड़ित होने के बावजूद वे अपने लक्ष्य की प्राप्ति के प्रयासों में और भी दृढ़ता के साथ जुट गए।

बनारस और विनोबा का अभावों से संघर्ष

अब विनायक अकेले रह गए। उन्होंने एक स्कूल में अंग्रेजी पढ़ाने का कार्य ढूँढ लिया। जब उनसे वेतन के बारे में पूछा गया, तो उन्होंने केवल दो रुपए प्रतिमाह माँगे। सुनकर स्कूल का प्रिंसिपल हतप्रभ रह गया।

उसने पूछा, "नौजवान! मात्र दो रुपए में कैसे अपना गुजारा चलाओगे?"

वनिायक ने उत्तर दिया, "महोदय! मुझे एक मंदिर में मुफ्त भोजन मलि जाता है। बस दो रुपए मुझे कमरे के किराए के लिए चाहिए। मेरा और कोई खर्चा नहीं है।"

प्रिंसपलि अवाव् उनकी ओर देखता रह गया।

विनोबा के मानसकि क्षमता की परख के प्रयोग

वनिायक को प्रयोग करने की सीख अपने पिता से मलिी थी, जोकि एक वैज्ञानकि दृष्टिकोण वाले व्यक्ति थे। वनिायक आध्यात्मकि तथा मानसकि स्तर पर प्रयोग करते थे।

एक बार वनिायक ताला खरीदने एक दुकान पर गए। वहाँ उन्होंने एक ताला चुना और मूल्य पूछा। दुकानदार ने ज्यादा मूल्य बताया, जतिने का वह था नहीं। वनिायक ने दुकानदार द्वारा बोला दाम दे दिया, साथ ही यह भी बता दिया कि ताला इतने मूल्य का नहीं है।

इसके बाद वह रोज उस दुकान के सामने से गुजरते। दुकान की ओर देखे बनिा अपने मस्तिष्क से यह संदेश प्रसारति करते कि तुमने ताले का अनुचित मूल्य लिया है।

एक दनि वही हुआ जसिकी वनिायक को अपेक्षा थी। दुकानदार ने आवाज देकर उसे बुलाया और कुछ पैसे देते हुए बोला, "उस दनि गलती से मैंने ताले का मूल्य ज्यादा ले लिया था। यह लो पैसे, जो ज्यादा ले लिये थे मैंने।"

वनिायक ने स्वयं को साबति कर दिखाया कि मानसकि शक्ति का प्रयोग करके दूर से उनकी गलतयों को सुधारा जा सकता है।

बनारस के पांडति्य से विनोबा का मोहभंग

वनिायक ने बनारस के गंगाघाट पर संस्कृत के वद्विानों के बीच रोज होने वाले शात्रार्थों की बड़ी चर्चा सुनी थी। उत्सुकतावश वह एक-दो शात्रार्थों का आनंद लेने पहुँच गए, परंतु उन्हें निराश होना पड़ा। शात्रार्थों का स्तर घटिया था। अर्थहीन आडंबरों व पाखंडों के इर्द-गिर्द ही बहस घूमती रहती थी। कभी-कभी शात्रार्थ करनेवाले तू-तू, मैं-मैं पर भी उतर आते। एक-एक कर सामने आई सच्चाई से विनोबा को बनारस प्रवास अब नीरस-सा लगने लगा था, क्योंकि जसि ज्ञान की लालसा लेकर वे यहाँ आए थे, न तो वह ज्ञान ही हासलि हुआ और न वह जीवन-शैली ही उन्हें दिखाई दी, जसिकी कल्पना विनोबा पंडतिों की नगरी काशी के बारे में करते थे।

बनारस में विनोबा का स्वाधीनता की ओर रुझान

आजादी की लड़ाई का दौर था, देश भर में लोग अपने-अपने तरीके से आजादी हासलि करना चाहते थे। ऐसे ही लोगों में एक वर्ग था, जो हथियारों के बल पर आजादी पाना चाहता था। इस वर्ग में प्रायः नौजवान शामलि थे, जो अपनी लड़ाई खून-खराबे की सीमा तक ले जाना चाहते थे और आवश्यकता पड़ने पर अपनी कुरबानी देने से भी नहीं चूकते थे। बनारस में वनिायक की भेंट कुछ नेताओं और तथाकथति क्रांतकिारयों से भी हुई, परंतु उन्होंने उनमें त्याग व बलदिान की सच्ची भावना का अभाव पाया। विनोबा ने देखा कि क्रांति के नाम पर नेतागण अपने नजिी स्वार्थों की पूर्ति में जुटे थे और क्रांतकिारी अर्धशिक्षित युवक थे, जनमिं क्रांति के बारे कोई स्पष्ट सोच या समझ नहीं थी, जो आवेश या उत्साह में आकर नेताओं के बहकावे में आ जाते थे और जनि्हें लगता था कि केवल एक-दो पटाखे फोड़कर वे देश में क्रांति के मसीहा बन सकते हैं। विनोबा को ऐसे युवाओं के प्रति सहानुभूति थी, लेकिन वे कुछ भी कर पाने में अपने आपको समर्थ नहीं पा रहे थे।

आत्ममुक्ति से राष्ट्रमुक्ति की ओर

काशी में प्रवास काल का यह लाभ अवश्य रहा कि यहाँ रहकर प्राचीन भारत के बारे में विनोबा को वे मूलभूत जानकारियाँ प्राप्त हुइऔ, जनसि विनोबा का मन प्राचीन भारतीय जीवनशैली और शिक्षा के प्रति नतमस्तक हो उठा। वे प्राचीन भारत के जीवन-दर्शन और गौरवगाथाओं से इतने प्रभावति हुए कि उन्हें भारत की तत्कालीन पराधीनता सालने लगी। यह वह समय था जब देश भर में आजादी पाने के लिए एक लहर सी चल रही थी, लेकिन विनोबा आजादी पाने के लिए देशवासयों द्वारा किए जा रहे प्रयासों से संतुष्ट नहीं थे। इसलिए उन्होंने स्वतंत्रता आंदोलन में अपना योगदान देने से पहले पराधीनता के मूल कारण और परस्थितियों तथा देश को आजाद कराने के लिए अतीत में समय-समय पर किए गए आंदोलनों के साथ-साथ तत्कालीन स्वतंत्रता आंदोलन की गतविधियों का एक बार फिर गहराई से अध्ययन किया।

विनोबा का रुझान स्वाधीनता संग्राम की ओर हो चुका था, लेकिन बनारस का जीवन हर दृष्टि से उनके मन की नीरसता को बढ़ाता जा रहा था। बनारस प्रवास के बारे में विनोबा ने स्वयं कहा था कि उन्हें यहाँ बीमारयों के अतिरकि्त कुछ नहीं मलि सका था। ईश्वर की खोज की परकलि्पना अभी तक कोरी कल्पना ही साबति हुई थी। इसके वपिरीत देश में चल रहे स्वाधीनता आंदोलन की ओर उनका रुझान तो हुआ था, लेकिन बनारस में इस बारे में भी उन्हें कोई सही दशिा नहीं मलि पाई थी। एक सूत्र भर मलिा था, जसिके कारण अपनी दशिा स्वयं निर्धारति करने संबंधी वचिार उनके मन में कौंधने लगे थे। हाँ, इन स्थतियों में विनोबा का अंतर्द्वंद्व अवश्य बढ़ गया था। वे अब और भी असमंजस की स्थिति में आ गए थे कि अध्यात्म के जसि उद्देश्य के लिए घर छोड़ा था, उसकी ओर जाएँ या देश की वर्तमान स्थतियों को देखते हुए स्वाधीनता के लिए प्रयास करें?

बनारस की सबसे बड़ी उपलब्धि-विनोबा की गांधीजी से भेंट

आखिर वनिायक के असमंजस का हल नकिला। इन्हीं दनिों वनिायक का सामना एक ऐसे व्यक्ति से हुआ, जसिने वनिायक का जीवन ही बदल दिया। उन्हें अंतर्द्वंद्व से बाहर लाकर जीवन का सही लक्ष्य दिखा दिया। विनोबाजी के जीवन में आया यह व्यक्ति अभी तक उनके संपर्क में आए दूसरे व्यक्तयों से बलिकुल अलग था। संभवतः यह पहला व्यक्ति था, जो विनोबाजी की लंबी खोज का सार्थक परिणाम था। विनोबा के जीवन में आए यह व्यक्ति थे-मोहनदास करमचंद गांधी।

गांधीजी से विनोबा की पहली भेंट

उन दनिों गांधीजी एक सभा में सम्मलिति होने के लिए बनारस विश्वविद्यालय में पधारे, जहाँ विनोबाजी ने उनसे भेंट की। गांधीजी विनोबाजी के कार्यों और वचिारों से इतने प्रभावति हुए कि उन्होंने विनोबा को राजनीति के क्षेत्र में निर्भयता से कार्य करने के लिए मार्गदर्शन दिया। विनोबा ने गांधीजी के सुझावों को राजनैतकि सफलता के लिए मंत्र के रूप में ग्रहण किया। इस प्रकार विनोबा के दलि और दमिाग गांधीजी के इन मंत्रों की गूँज से गूँजने लगे।

विनोबा गांधीजी से इतने प्रभावति हुए कि पूरे समारोह में गांधीजी की नकटता पाने का अवसर तलाशते रहे। गांधीजी समारोह में बहुत अधकि व्यस्त थे। समारोह की अध्यक्षता तत्कालीन वायसराय कर रहे थे। यद्यपि गांधीजी समारोह में सामान्य दर्शक के रूप में रहना चाहते थे, किंतु श्रीमती एनी बेसेंट ने गांधीजी से बोलने के लिए आग्रह किया तो गांधीजी ने अवसर के अनुकूल देश में पनप रहे विरोधाभास को और स्पष्ट रूप जनता के सामने रखते हुए कहा, "यदि हम नहीं चाहते कि अंग्रेज भारत में रहें तो हमें स्पष्ट रूप से उनसे यह कह देना चाहिए कि वह अपने देश को लौट जाएँ। यदि हमें इतना स्पष्ट कहने के लिए मृत्युंड मलि, तो हमें प्रसन्नतापूर्वक उसे भी स्वीकार करना चाहिए।"

गांधीजी ने अपने संबोधन में सबसे पहले देश की निर्धनता को सामने रखते हुए सरकार से अनुरोध किया कि वह भारत की हालत को सुधारने के लिए कोई ठोस कदम उठाए। इसी संदर्भ में सरकार की कारगुजारयों को सामने रखते हुए गांधीजी ने अंग्रेजों द्वारा आयोजति इस समारोह की भव्यता पर कटाक्ष भी किया। श्रीमती एनी बेसेंट को गांधीजी का इस प्रकार अंग्रेजों पर कटाक्ष करना अच्छा नहीं लगा, खासकर गांधीजी द्वारा किए गए व्यंग्यों में एनी बेसेंट को बहुत उग्रता का अनुभव हुआ। नाराज होकर एनी बेसेंट और उनके समर्थकों ने गांधीजी के भाषण के विरोध में मंच छोड़ दिया।

समारोह के बाद गांधीजी अपने कार्यक्रमानुसार बनारस से चले गए। विनोबा ने गांधीजी का यह भाषण और एनी बेसेंट के मंच छोड़ने की घटना का पूरा ब्योरा अखबारों के माध्यम से पढ़ा। विनोबा गांधीजी की स्पष्टवादति और साहस से गहरे तक प्रभावति हुए। गांधीजी के साथ जुड़ने का मन बना चुके विनोबा को इस घटना से और अधकि बल मलिा और वे गांधीजी से मार्गदर्शन पाने के लिए लालायति हो उठे।

गांधीजी इस समय देश भर में अपने स्वदेशी अपनाने के नारे को साकार करने में लगे थे। उन्होंने देश से अपील की कि भारतवासी स्वदेशी वस्तुओं को अपनाएँ और आत्मनिर्भर बनें। गांधीजी ने देश को आश्वासन दिया कि वे अपने छोटे से चरखे से अंग्रेजों को देश से बाहर कर देंगे। इसके लिए उन्हें सेना और हजारों बंदूकों की जरूरत नहीं है। गांधीजी इस बात से खासे आहत थे कि एक ओर जहाँ आम भारतीय बेकारी और भुखमरी से जूझ रहा है, वहीं दूसरी ओर लोगों के पास अपनी जरूरतों से कहीं अधकि धन है। गांधीजी ने अपनी सभाओं में गहने आदि पहनकर आने वाले लोगों से ही इस दोहरी स्थिति को समाप्त करने का अनुरोध करना शुरू किया। अपनी सभाओं में लोगों से अपील करते हुए गांधीजी ने कहा, "यदि आप लोग इन गहने-जेवरों को उतारकर एक ओर नहीं रखेंगे, तो हमारे देश के लिए स्वतंत्रता प्राप्त करना असंभव होगा।" इसके साथ ही गांधीजी तत्कालीन भारत की स्थिति और अंग्रेजों की ताकत को भाँपते हुए जनता से अंग्रेजों का अहिंसक तरीके से विरोध करने का अनुरोध करते थे। ऐसे ही एक अवसर पर गांधीजी ने अहिंसा की अपनी नीति का वसि्तार से वर्णन करते हुए लोगों को समझाया कि विरोध के लिए अहिंसा बड़ा ही कारगर हथियार है। गांधीजी ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि अहिंसा का मतलब कमजोरी नहीं है, अपतिु यह बड़े ही साहस का कार्य है।

वनिायक को गांधीजी के ये तर्कसम्मत वचिार पढ़कर अचंभा हुआ। वह सोचने पर ववशि हो गए कि यह कैसा राजनीतज्ञि है, जो सत्य और अहिंसा जैसे नैतकि मूल्यों के सहारे देश को अंग्रेजों की दासता से मुक्त करने का संघर्ष छेड़े हुए है! वनिायक की अंतरात्मा ने आवाज दी-'यही वह व्यक्ति है, जो तुझे उस मार्ग पर ले जाएगा, जो ईश्वर की ओर जाता है, जसिकी खोज में तुमने अपने घर का परति्याग किया है।'

बनारस में गांधीजी से भेंट के बाद विनोबा उनसे पहले ही इतने अधकि प्रभावति हो चुके थे कि अब वे खोज-खोजकर गांधीजी के भाषणों को पढ़ते। विनोबा तात्कालकि परस्थितियों में गांधीजी के अंग्रेजों से लड़ने के तरीके से अत्यंत प्रभावति थे। इसके साथ ही गांधीजी की सोच और देश के हति में उनके समर्पति जीवन की व्यस्तता ने भी वनिायक के मन को बहुत गहरे तक प्रभावति किया। गांधीजी के वचिारों में जैसे विनोबाजी की भटकन को एक प्रकाश-स्भं सा दिखाई देता, जो उन्हें सही राह दिखाता महसूस होता।

विनोबा तमाम प्रभावों के बावजूद अपने जीवन की राह मोड़ने से पहले मन की सभी उलझनों को शांत कर लेना चाहते थे। अतः अपनी जज्ञिासा शांत करने के लिए विनोबा ने पत्र लिखकर गांधीजी से उनके द्वारा कही गई कुछ बातों का स्पष्टीकरण माँगा। पत्र के उत्तर में गांधीजी ने एक नोट लिखकर विनोबाजी को भेजा, "अगर भली प्रकार सब जानने की इच्छा है, तो साबरमती आश्रम में मेरे पास आकर मलिो।"

हमिालय की बजाय विनोबा की साबरमती यात्रा

गांधीजी का पत्र पाकर विनोबा सोचने के लिए मजबूर हो गए। एक बार उन्होंने फिर से

गांधीजी से हुई मुलाकात, उनके व्यक्तत्वि और देश भर में जगह-जगह दिए गए उनके भाषणों को गौर से पढ़ा और अपने मन को पक्का करके वे इसी नतीजे पर पहुँचे कि उनकी अब तक की जज्ञिासाओं का यदि कहीं तर्कसंगत उत्तर उन्हें मलिा है तो वह गांधीजी के व्यक्तत्वि और सोच में मलिा है। इसलिए विनोबा गांधीजी से भेंट करने के लिए उद्वेलति हो उठे। उन्हें लगा कि हमिालय पर तपस्या करके आत्मोत्थान करने की अपेक्षा देश की पीड़ति जनता को उनकी अधकि आवश्यकता है। विनोबाजी का मनन निष्कर्ष पर पहुँचा और अब उन्हें हमिालय जाने के स्थान पर गांधीजी के पास जाकर देश को अपना समर्पति सहयोग देना अधकि उपयुक्त लगा। पूरी तरह संतुष्ट होते ही गांधीजी का साबरमती आश्रम वनिायक की मंजलि बन गई और सारी दुनिया अब उनके लिए अर्थहीन हो गई थी।

साबरमती आश्रम में विनोबा और गांधीजी की भेंट

वह सीधे साबरमती जा पहुँचे और वहाँ से कोचरब। उस समय आश्रम कोचरब में ही था, गांधीजी भी वहीं थे। गांधीजी तथा उनका आश्रम कुछ दनिों बाद साबरमती आया। इस प्रकार 7 जून, 1916 को विनोबा की कोचरब आश्रम में गांधीजी से पहली भेंट हुई। वनिायक जब आश्रम पहुँचे तो गांधीजी सब्जियाँ काट रहे थे। एक राजनीतकि नेता को ऐसा साधारण कार्य करते देख पाने की वनिायक को आशा नहीं थी। गांधीजी वनिायक को देखकर बोले, "आइए युवा मत्रि! यदि आप इस आश्रम में ही रहें और अपने आप को देश की सेवा के लिए समर्पति करें, तो मुझे प्रस्न्नाता होगी। आप दुबले नजर आते हैं। आध्यात्मकि लोग ऐसे ही होते हैं, पर आप बीमार से लग रहे हैं, जबकि ऐसे लोग कभी बीमार नहीं होते।"

जैसे-जैसे वनिायक गांधीजी से और उनके कार्यों से परचिति होते गए, वैसे-वैसे इस वचित्रि राजनेता में उनकी आस्था और गहरी होती चली गई। उनके मन-मस्तिष्क कहते कि हम सही जगह और सही मार्गदर्शक के पास पहुँच गए हैं।

साबरमती आश्रम का कठनि अनुशासन का जीवन

यद्यपि आश्रम के नियम बहुत कड़े थे। गांधीजी द्वारा इन नियमों का पालन करना आवश्यक बताया गया था। प्रत्येक आश्रमवासी को इन ग्यारह नैतकि मूल्यों के पालन का संकल्प धारण करना होता था-'सत्य, अहिंसा, बह्मचर्य, सादा भोजन, स्वेच्छा से निर्धनता का वरण कर निर्धन का सा साधारण जीवन अपनाना, शारीरकि श्रम, चोरी का परत्यािग, केवल स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग, निर्भरता, अस्पृश्यता का विरोध और सहनशीलता।'

वनिायक को आश्रम के कठोर संयमपूर्ण जीवन में स्वयं को खपाने में कोई कठनिाई नहीं हुई, क्योंकि उन्होंने तो बचपन से ही अपने जीवन को ऐसे अनुशासन में ढाल रखा था। वह एक पूर्व प्रशिक्षित आश्रमवासी जैसा ही तो था। जसि गंभीरता से वनिायक ने आश्रम के कार्यों और दायत्विों को अपने कंधों पर ले लिया, उसे देखकर बहुतों को अचंभा हुआ,

क्योंकि आश्रम के कड़े नियमों के चलते अधकिंश लोग परेशान थे और कुछ लोग तो आश्रम छोड़कर जाने भी लगे थे। गांधीजी ने वनियक को देखा तो मन-ही-मन निर्णय किया कि यह व्यक्ति भविष्य में उनका कोई अति महत्त्वपूर्ण दायत्वि सँभालेगा।

आश्रम के कड़े नियमों के बारे में अनेक लोगों ने गांधीजी से ढलाई देने की माँग की। गांधीजी ने इस बारे में विनोबाजी से सलाह ली तो विनोबा ने मत दिया-"नियम ढीले न किए जाएँ, जो जा रहे हैं उन्हें जाने दीजिए। आखिर यह एक प्रकार की परीक्षा है। बहुत से खोटे सक्किों की जगह थोड़े से खरे सक्किे अधकि अच्छे हैं।"

यहाँ विनोबा ने मात्रा की जगह गुणवत्ता को अधकि महत्त्व दिया। शीघ ही विनोबा साबरमती आश्रम के एक प्रतिष्ठति सदस्य बन गए थे। गांधीजी भी उनसे सलाह लेने लगे थे। वनियक की निष्ठा और समर्पति भाव को देखकर एक आश्रमवासी ने उन्हें 'विनोबा भावे' पुकारना शुरू किया। यह नाम कुछ ऐसा ही सुनने में लगता था, जैसे महाराष्ट्र के महान् संतों के नाम हेते हैं। वनियक इसके बाद 'विनोबा भावे' के नाम से ही पुकारे जाने लगे।

जब गांधीजी को पता लगा कि विनोबा के पिता को यह भी पता नहीं था कि उनका बेटा वहाँ है, तो गांधीजी के आग्रह पर विनोबा को अपने पिता को पत्र लिखना पड़ा, जसिमें उन्होंने अपने आश्रम प्रवास की पूरी सूचना दी।

जब विनोबा का पत्र उनके पिता को मलिा, तो सबको पता लग गया कि उनके वे अब साबरमती आश्रम में रहते हैं। उनके कई मत्रि व छोटे भाई उनके साथ आश्रम में रहने चले आए। छोटे भाई का नाम बालकोबा था। गांधीजी उन दनिों बाहर गए हुए थे और उनकी अनुपस्थिति में आश्रम को कामकाज विनोबाजी देख रहे थे।

आश्रम की व्यवस्थाएँ बनाए रखने के लिए विनोबा को खासा परश्रिम करना पड़ता था और बहुत ही सोच-समझकर निर्णय लेने पड़ते थे। एक घटना का उल्लेख करना यहाँ प्रासंगकि होगा-आश्रम के पाखाने (लैट्रनि) रोज आकर एक भंगी साफ कर दिया करता था। पुराने ढंग के पाखाने थे। मल-पात्रों में जमा मल उठाकर दूर ले जाकर फेंकना होता था। एक दनि वह भंगी महाशय बीमार पड़ गए। उनके स्थान पर काम करने के लिए उनका बारह वर्षीय बेटा आया। मल-पात्र बड़े थे। बेचारा बालक उनको उठा नहीं पा रहा था। हताश होकर वह रोने लगा। विनोबा के छोटे भाई बालकोबा से यह देखा न गया। बालकोबा ने उस बच्चे की सहायता की और दोनों ने मल-पात्र इकट्ठे उठाकर यह काम कर दिया। कुछ आश्रमवासयों और बड़ौदा से आए विनोबा के मत्रिों को यह अच्छा नहीं लगा। उन्हें यह घृणति काम लगा। उन्होंने बालकोबा की शकियत विनोबा से की।

विनोबा ने बात सुनी तो उन्होंने कहा कि बालकोबा ने कोई गलत काम नहीं किया है। उल्टे उन्होंने बालकोबा को शाबाशी दी। दूसरे ही दनि से विनोबा ने भी मल साफ करने में हाथ बँटाना शुरू कर दिया।

गांधीजी लौट आए तो रुष्ट वर्ग के आश्रमवासयों ने सारी बात उन्हें बताई। वे चाहते थे कि गांधी विनोबा व उसके भाई की भर्त्सना करें। गांधीजी तो स्वयं सेवाभावी थे। अस्पृश्यता के शत्रु थे। सारी बात सुनने पर उन्हें विनोबा और बालकोबा पर गर्व हुआ। उन्होंने तुंत निर्णय दिया-"सफाई का काम घृणति नहीं है। यह तो एक अच्छा व पवति्र कार्य है। कल से सभी आश्रमवासी अपना मल स्वयं जाकर फेंककर आएँगे। जसिको इस आश्रम में रहना हो रहे और जसि जाना हो, वह जा सकता है।"

कठनि श्रम ने आखिर विनोबा के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डालना आरंभ कर दिया, इसलिए विनोबा ने गांधीजी से एक वर्ष का अवकाश माँगा, जो मलि गया। विनोबा के सामने स्वास्थ्य-लाभ के अतिरकि्त एक और ध्येय था, वह था अवकाश के दौरान अपनी संस्कृत की पढ़ाई पूरी करना, जो बीच में अधूरी छूट गई थी।

अवकाश के प्रथम छह माह उन्होंने वाई में गुजारे, जहाँ एक संस्कृत वदि्वान् रहते थे। उनकी छत्रच्छाया में विनोबा ने संस्कृत का अध्ययन किया। उसके बाद वह ऐतहािसकि स्थानों की पैदल यात्रा पर नकलि पड़े। इस यात्रा के दौरान वह किसी एक स्थान पर तीन से अधकि दनि नहीं रुके। यात्राओं और प्रवासों में भी विनोबा ने अपना अनुशासति जीवन नहीं छोड़ा। वह प्रतदिनि आठ सेर (लगभग पाँच कलिोग्राम) दालें दलते थे। दलने का काम मूसल से करना होता था। श्रमसाध्य काम था। वह हिंदी का प्रचार भी करते, छात्रों को भी पढ़ाते और पैदल भी चलते। जहाँ कहीं टकति वहाँ नियमति गीता पर प्रवचन देते। वह अपनी हर गतविधिि की खबर पत्रों द्वारा गांधीजी को देते रहते थे। आवश्यकता पड़ने पर उनसे निर्देश भी लेते।

जब वह वाई में थे, तो उन्होंने एक 'छात्र क्लब' खोला था, जसिमें 400 पुस्तकें थीं। ये सब पुस्तकें उन पैसों से खरीदी गइऔ, जो विनोबा ने चक्की पीसकर और दालें दलकर अर्जति किए थे। विनोबा का अवकाश क्या था, आश्रम जीवन की ही पुनरावृत्ति थी।

ठीक एक वर्ष बाद विनोबा ने फिर साबरमती आश्रम में प्रवेश किया व गांधीजी के सामने हाजिरी दी-"मैं ठीक एक वर्ष के बाद अपने वचन के अनुसार लौट आया हूँ, गांधीजी।"

गांधीजी चौंके। वह तो विनोबा के प्रस्थान वगैरह की तिथियाँ आदि भूल चुके थे। उन्होंने कहा, "अपने वचन के प्रति इतनी प्रतबिद्धता! इससे प्रतीत होता है कि सत्य के प्रति आपकी कतिनी निष्ठा है!"

विनोबा ने नम्रता से कहा, "इससे केवल गणति के प्रति मेरी निष्ठा व्यक्त होती है।"

साबरमती आश्रम की व्यस्त दनिचर्यिा

कोचरब से आश्रम अब साबरमती में आ गया था। साबरमती आश्रम की दनिचर्यिा बहुत थकान भरी होती थी। विनोबा ने तो अपने ऊपर स्वेच्छा से अनेक अतिरकि्त दायति्व भी

ले रखे थे। वह दूसरों के साथ अनाज पीसते व दालें दलते। पौधों को पानी देना भी उनका ही काम था। पानी बरतन में साबरमती नदी से लाना पड़ता था। फिर वह सफाई का काम भी करते और खेतों में काम करने के लिए नकलि पड़ते। आश्रम के राष्ट्रीय विद्यालय में छात्रों को पढ़ाना भी उनके जम्मि थे। इसके अतिरक्ति छात्रावास के सुपरिंटेंडेंट का दायत्वि भी वह नभिाते थे।

कभी-कभी गांधीजी पूछते, "विनोबा! आप इतना सारा दायत्वि कैसे नभिा पाते हैं?"

विनोबा उत्तर देते, "यह सब मेरा शरीर नहीं करता। मेरी इच्छाशक्ति है, जो शरीर से यह सब करवाती है।"

इस प्रकार विनोबा का साबरमती आना और गांधीजी से हुई यह भेंट बड़ी सार्थक रही। गांधी और विनोबा के आत्मकि संबंधों की डोर निरंतर दृढ़ होती गई। और समय के साथ-साथ गुरु और शिष्य के रूप में दोनों का यह संबंध जैसे साधना का एक अटूट व्रत बन गया।

गांधीजी की दृष्टि में विनोबा

विनोबाजी के समर्पण, अनुशासति जीवन और परश्रिम के साथ ही उनकी वद्विवत्ता से गांधीजी अत्यंत प्रभावति थे। आश्रम में आयोजति होने वाली सांध्यकालीन प्रार्थनाओं के अवसर पर होने वाले वाद-ववािद के समय विनोबा अपनी देशभक्ति तथा प्राचीन संस्कृति और सभ्यता के संबंध में जनता जनार्दन के प्रश्नों का उत्तर इतनी वद्विवत्ता के साथ देते थे कि गांधीजी ही नहीं, अपतिु आश्रम के सभी लोग उनसे अंतर्मन की गहराई तक प्रभावति हो जाते थे।

गांधीजी ने समय-समय पर विनोबा के बारे में अपने जो वचिार व्यक्त किए हैं, उनमें विनोबा को एक समर्पति कार्यकर्ता तथा वद्विान् होने के साथ-साथ एक पवत्रि आत्मा के रूप में सम्मान दिया गया है। विनोबाजी के ज्ञान से खुद गांधीजी इतने प्रभावति थे कि उन्होंने स्पष्ट कहा कि विनोबा के ज्ञान से भारतीय जनमानस बहुत कुछ सीख सकता है। वे प्रायः लोगों से कहते थे-"विनोबा आश्रम के कुछ स्भों में से एक हैं। वह उन बहुत से लोगों में से नहीं हैं, जो आश्रम से आशीष पाने के लिए आते हैं, बल्कि वह तो उसे उपकृत करने के लिए आए हैं। कुछ प्राप्त करने के लिए नहीं, बल्कि देने के लिए आए हैं।"

विनोबा पर गांधीजी और देश का विश्वास

गांधीजी ने सन् 1940 के अपने प्रसद्धि व्यक्तगति सवनिय अवज्ञा आंदोलन के प्रथम सत्याग्रही के रूप में विनोबाजी को चुना। गांधीजी के इस चुनाव का पूरे देश ने स्वागत किया। यह अवसर था जब स्वयं गांधीजी और संपूर्ण राष्ट्र ने विनोबा को राष्ट्रीय मंच पर एक साहसी और अहिंसक सत्याग्रही के रूप में अभनिंदति किया।

गांधीजी ने विनोबाजी के बारे में कहा था, "विनोबा ईश्वर के पृथकत्व तथा लालसा रहति भावना के संदेशवाहक हैं।" इसके साथ ही गांधी ने मुक्त कंठ से यह भी स्वीकार किया कि उनको विनोबा की तरह का वद्विान्, समर्पति और वद्वित्ता से पूर्ण न बन पाने का अफसोस रहा। गांधीजी ने विनोबाजी को अत्यधकि आदरभाव से अध्यापक के रूप में स्वीकार कर लिया और अपनी भावनाओं को स्पष्ट करते हुए कहा, घविनोबा में हृदय है इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता, किंतु वह पूरी तरह से उनकी दृढ़ आत्मकि शक्ति के नियंत्रण में है, वह सभी मनुष्यों को ईश्वर की संतान मानने के कारण उन्हें समान रूप से देखते है।" गांधीजी के विनोबाजी के संबंध में इस तरह के वचिार नश्चितिति ही विनोबा के चरत्रि की गंभीरता, उनकी सोच और देश के प्रति उनके समर्पण के लिए मूल्यवान उपहार हैं।

विनोबा का लेखन के प्रति रुझान

गांधीजी के साथ राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम के इतहिास को विनोबाजी ने सन् 1916 से ही लिखना आरंभ कर दिया था। गांधीजी के एक-एक आंदोलन तथा उसके पीछे नहिति वचिारों को विनोबाजी भावी पीढ़ी के लिए लिखते गए। सन् 1940 का वर्ष भारतीय राजनीति में विनोबाजी के व्यावहारकि योगदान का वर्ष माना जाता है।

विनोबाजी तन-मन से देश के लिए समर्पति थे। उन्होंने अपने इस समर्पण को सेवा तक ही सीमति रखा। कभी भी अपनी सेवाओं के बदले कोई पद या प्रतिष्ठा पाने का मोह उन्हें छू तक नहीं पाया। उन्होंने अपना संपूर्ण जीवन भारतीय जीवन-दर्शन में नहिति नियमों के पालन के लिए समर्पति कर दिया।

गांधीजी के समाज-सुधार कार्यक्रमों में विनोबा का योगदान

विनोबाजी राजनीति और देशसेवा के क्षेत्र में गांधीजी के वचिारों और उनके आंदोलनों से बहुत प्रभावति रहे। वशिेष रूप से गांधीजी के सर्वोदय आंदोलन ने विनोबाजी की आकांक्षाओं को सदैव आंदोलति किया। विनोबाजी स्वयं भी गरीब और शिक्षा की दृष्टि से पिछड़ी भारतीय जनता के उत्थान के लिए निरंतर चिंतनशील रहे। उन्होंने जनोत्थान के चिंतन को स्पष्ट करते हुए कहा था-"गरीबों की सेवा करने के लिए गरीब बनना चाहिए।" गरीब बनने से विनोबाजी का तात्पर्य यह था कि हमें अपनी पूरी संवेदना से गरीबों के कष्टों और स्थतियों को महसूस करना चाहिए और अपनी शुद्ध बुद्धि से गरीबी हटाने के प्रयासों को प्राथमकिता के आधार पर पूरी शक्ति से लागू करना चाहिए।

अस्पृश्यता उन्मूलन अभियान

गरीबी के साथ ही देश में फैले अस्पृश्यता जैसे अभशिाप को मटिाने के लिए भी विनोबाजी समर्पति भाव से कार्य करते रहते थे। अस्पृश्यता को वे देश के विकास के लिए बड़ा अवरोध

मानते थे। वे कहा करते थे-"समय का प्रवाह अस्पृश्यता के नविारण के अनुकूल है। अगर इसका अर्थ यह लिया जाए कि हरजिनों में जागृति आ गई है, वे अस्पृश्यता को हमसे अपने आप दूर करा लेंगे, फिर हम इस बारे में कोई प्रयास क्यों करें? तो मैं कहूँगा कि यह बात भी बलिकुल ठीक है। ऐसा अवश्य होगा, लेकिन एक तो ऐसा् होने के लिए संपूर्ण देश में जागृति आने में अभी कुछ समय अधकि लग जाएगा और दूसरी बात यह कि ऐसा होने से समाज-सेवा करके आत्मशुद्धि का पुण्य हमें नसीब नहीं होगा। अगर हम आत्मशुद्धि के यज्ञवुंड में अस्पृश्यता की आहुति देंगे, तो सामाजकि बलवे की आग लगकर अस्पृश्यता जल जाने वाली है। परमेश्वर हमें सद्बुद्धि दे।" विनोबा का हृदय छुआछूत तथा सांप्रदायकि दुर्भाव की दुर्गंध से मुक्त था।

विनोबा का सर्वधर्म समभाव

विनोबा सभी धर्मों का सम्मान करते थे। वे मानते थे कि सभी धर्मों ने हमें इनसानियत और भलाई के मार्ग पर चलने की शिक्षा दी है। इसलाम धर्म की खूबयों को समझने के लिए उन्होंने एक वर्ष तक कुरानशरीफ का मूल अरबी में अध्ययन किया। इसके लिए उन्होंने अरबी भी सीखी। विनोबा कई वर्षों तक वर्धा-महलिा आश्रम के संचालक भी रहे। उनका विश्वास था कि गाँववालों की रचनात्मकता को जाग्रत् किए बनिा और उसे भली प्रकार से सही मार्ग तथा सही कार्य में लगाए बनिा सच्ची आजादी प्राप्त नहीं होगी।

कर्मयोगी विनोबा

विनोबाजी प्रतिष्ठा और प्रशंसा से दूर रहकर अपना कार्य करने में विश्वास करते थे। गांधीजी ने विनोबा के इस स्वभाव के बारे में स्वयं कहा था-"वे राजनीति के मंच पर कभी लोगों के सामने आए ही नहीं। कई साथयों की तरह उनका यह विश्वास है कि सवनिय आज्ञा के अनुंधान में शांत रचनात्मक काम कहीं ज्यादा प्रभावकारी होता है, इसकी अपेक्षा कि जहाँ आगे ही राजनैतकि भाषणों का अखंड प्रवाह चल रहा है, वहाँ जाकर और भाषण दिए जाएँ! उनका पूर्ण विश्वास है कि चरखे में हार्दकि श्रद्धा के बनिा और कार्य में सक्रिय भाग लिये बगैर अहिंसक प्रतकिार संभव नहीं है।"

गांधीजी की मृत्यु के बाद विनोबाजी ने उनके सपनों के भारत का निर्माण करने के कार्य को अपने हाथों में ले लिया। विनोबाजी ने अपनी आध्यात्मकि प्रवृत्ति और संतवृत्ति को अपनाए रखते हुए पूरे समर्पण के साथ देश की निर्धनता दूर करने के प्रयास आरंभ कर दिए। विनोबाजी ने समाज में फैली विषमताओं को समाप्त करने तथा सत्य, अहिंसा के परविश को जारी रखने का व्रत लेकर 28 मई, 1951 को वारंगल (तेलंगाना) में भूदान आंदोलन का शुभारंभ किया। भूदान आंदोलन देश के विकास में सहायक बनने वाले आंदोलनों में अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इस प्रकार विनोबाजी आजाद भारत में सभी जाति और वर्गों को आत्मनिर्भर बनाने के लिए आजीवन प्रयत्नशील रहे।

आजाद भारत के सभी प्रमुख राजनेता और वचिारक विनोबाजी के इन प्रयासों का हृदय से सम्मान करते थे। तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने विनोबाजी के कार्य़ों की सराहना करते हुए कहा था-"हम विश्वास करते हैं कि बापू के सद्धिांतों को सबसे अधकि अच्छी तरह से वनिबाजी ने ग्रहण किया है, अतः उनमें हमारी सर्वोच्च आस्था है।" देश के महान् कर्णधार राजेंद्र बाबू की भी विनोबाजी में अगाध आस्था थी। उन्होंने अनेक स्थानों पर अपने भाषणों में विनोबाजी के समर्पति योगदान की खुलकर सराहना की थी।

विनोबाजी ने अपने जीवन को गांधीजी के साथ जुड़ने से बहुत पहले ही राष्ट्र को समर्पति कर दिया था। गांधीजी के संपर्क में आने के बाद उनके इस समर्पण को सही दशिा मलिी और गांधीजी के बाद तो विनोबाजी ने राष्ट्रसेवा के इस कार्य को उपासना के रूप में अपना लिया।

स्वभाव से संकोची विनोबा को अपनी भूमकिा को सही रूप में निष्पादति करने के लिए जनता के सामने आना पड़ा। भूदान आंदोलन विनोबाजी के जीवन का प्रथम आंदोलन था। भूदान की पृष्ठभूमि में उन्होंने ममत्व त्यागने की बात कही थी-घअगर प्रेम का, अहिंसा का तरीका आजमाना चाहते हो तो इन जमीनों का ममत्व छोड़ दो, नहीं तो हिंसा का एक ऐसा जमाना आने वाला है कि उसमें सारी जमीनें और उस जमीन पर रहनेवाले प्राणी खत्म हो जाएँगे।"

घभूदान के साथ संपत्ति दान, श्रमदान, जीवन-दान और ग्राम-दान की सम्मलिति क्रियाओं को लेकर सर्वोदय आंदोलन आज की बगिड़ती हुई राष्ट्रीय परस्थितियों में वशिष स्थान रखता है, क्योंकि उसमें साध्य और साधन की पवत्रिता का आग्रह है। सर्वोदय का अर्थ है 'हरेक का भला'। यानी एक का स्वार्थ दूसरे के स्वार्थ के विरोध में या दूसरे की परवाह किए बगैर अपना स्वार्थ साधना वाली बात नहीं होनी चाहिए। हम सब एक हैं और हम सब का उदय यह है। सर्वोदय का अर्थ तो जो सबसे पिछड़े हुए होते हैं, उनकी फक्रि करना है। इसलिए हमने सोचा है कि हम छोटे-छोटे गाँवों में पहुँचें, और हो सके तो वहाँ मुकाम करें। भारत की सभ्यता देहातों में ही केंद्रति है। इस बात की हम अधकि समय तक उपेक्षा नहीं कर सकते।"

वर्धा आश्रम में विनोबाजी की सेवा-साधना

गांधी ने श्री जमनालाल बजाज की प्रेरणा व सहायता से वर्धा में 'सत्याग्रह आश्रम' खोल रखा था। इस आश्रम के संचालक रमणीक लाल मोदी थे। मोदी अचानक बीमार पड़े गए और आश्रम की देखभाल में असमर्थ हो गए। उन्होंने आश्रम के दायत्विों से मुक्ति पाने के लिए गांधीजी से अनुरोध किया। उनके स्वास्थ्य को देखते हुए गांधीजी को उनका अनुरोध मानना पड़ा, लेकिन इससे गांधीजी के सामने आश्रम को सुचारु रूप से चलाने की चुनौती आ खड़ी हुई। अब दो ही रास्ते थे, या तो वे आश्रम को बंद कर दें, या फिर किसी अन्य नए व्यक्ति को आश्रम चलाने का कार्यभार सौंपें। यह कार्य इतना आसान नहीं था, क्योंकि आश्रम का संचालन करना हर किसी के बस की बात नहीं थी। गांधीजी चाहते थे कि किसी योग्य और समर्पति व्यक्ति को ही आश्रम का संचालक नियुक्त किया जाना चाहिए। बहुत सोच-वचिार के बाद भी इस महत्त्वपूर्ण दायत्वि को नभिाने के लिए विनोबा से अधकि योग्य कोई व्यक्ति गांधीजी को नजर नहीं आ रहा था। आखिर गांधीजी ने विनोबा की राय जाननी चाही, तो उन्हें महसूस हुआ कि विनोबा साबरमती आश्रम छोड़कर कहीं भी जाने के इच्छुक नहीं थे।

आखिर विनोबा के न चाहते हुए भी गांधीजी ने निर्णय ले लिया और आग्रह करके विनोबा को वर्धा के सत्याग्रह आश्रम के दायत्वि को सँभालने के लिए भेज दिया। गांधीजी जानते थे कि विनोबा अपने परश्रिम, ववकि और त्याग-भावना के बल पर वर्धा आश्रम को स्वतंत्र रूप से चला पाने में पूरी तरह सक्षम हैं। इस प्रकार गांधीजी वर्धा आश्रम का दायत्वि विनोबा को सौंपकर वहाँ की व्यवस्था के बारे में नश्चिंत हो गए।

सन् 1920 में विनोबा गांधीजी के आदेश को अपना कर्तव्य मानकर वर्धा आश्रम का दायत्वि सँभालने के लिए चले आए। उसके पश्चात् तो वर्धा क्षेत्र उनके शेष जीवन की गतविधियों का केंद्र बन गया। सत्याग्रह आश्रम को अपनी सोच के अनुसार चलाने के लिए वह पूरी तरह स्वतंत्र थे। वर्ष में एक बार गांधीजी आते और एक महीना अतिथि की भाँति

रहकर चले जाते थे। आश्रम में रहने के दौरान गांधीजी देश की समस्याओं और स्वतंत्रता आंदोलन सहति अनेक राजनैतकि, सांस्कृतकि और सामाजकि विषयों पर विनोबा से व्यापक वचिार-वमिर्श करते। इसके साथ ही दोनों संत आश्रम द्वारा चलाए जा रहे कार्यक्रमों की समीक्षा करते और अन्य आश्रमों की उपलब्धयों की जानकारी एक-दूसरे को देते थे।

वर्धा में विनोबा ने अपने सामाजकि जीवन के कई प्रयोग किए। आश्रम के कार्यवाहक होने के नाते आश्रम से जुड़ी सभी गतविधियों पर निर्णय लेने के लिए वे पूरी तरह स्वतंत्र थे। जन सुधार के कार्यक्रमों को आगे बढ़ाने तथा जनता के हति के लिए अन्य नए कार्यक्रम चलाने के लिए उन्होंने अनेक बार स्वयं ही योजनाएँ बनाइऔ और उन पर अमल किए। इन कार्यक्रमों के जनहतिकारी परिणाम आने पर वे गांधीजी को अपने प्रयोगों के बारे में बताते। गांधी उनकी उपलब्धयों की खुले मन से प्रशंसा करते। इससे एक स्वतंत्र कार्यकर्ता के रूप में विनोबा का व्यापक रूप से मानसकि तथा आध्यात्मकि विकास हुआ। उनमें अत्यंत उत्साह और आत्मविश्वास आ गया था। अब वह एक ऐसे व्यक्तत्वि के रूप में उभरकर सामने आ गए थे, जो दूसरों का मार्गदर्शन करने में पूरी तरह सक्षम है। विनोबा अब अपने कार्यक्रमों से गांधीजी ही नहीं, पूरे देश की जनता के मन में एक ऐसे सक्षम दशिा-निर्देशक के रूप में विश्वास जमा चुके थे, जो देश के विकास और आजादी के संघर्ष में नए-नए कार्यक्रमों की परकल्पिना कर सकता है, उन्हें योजनाबद्ध ढंग से जनता के सामने रख सकता है और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें सारे देश में एक आंदोलन के रूप से चला सकता है। इसी योग्यता के बल पर विनोबा ने स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद देशव्यापी भूदान आंदोलन चलाया और इस आंदोलन से करोड़ों देशवासयों का भला किया।

विनोबा की देखरेख में वर्धा के सत्याग्रह आश्रम में सभी सदस्यों का जीवन अत्यंत अनुशासति था। सभी आश्रमवासयों को आश्रम के सारे कार्य स्वयं करने होते थे। इन कार्यों में हर प्रकार की सफाई का कार्य भी शामलि था। विनोबा का उद्देश्य आश्रम तथा आश्रम के लोगों को अधकि-से-अधकि सीमा तक आत्मनिर्भर बनाना था। अनुशासन के साथ-साथ शारीरकि श्रम को विनोबा सार्वजनकि जीवन में सबसे अधकि महत्त्व देते थे। बनिा श्रम किए खाने को वह चोरी के समान समझते थे। आश्रम में भी उन्होंने अपने इन नियमों को वधिवित् लागू कर रखा था। वास्तव में प्रतदिनि हसिाब लगाया जाता था कि आश्रमवासयों ने उस दनि कतिना श्रम किया है। उस श्रम का मूल्य आँका जाता था और उसी मूल्य के हसिाब से आश्रम में खाना पकता था। ऐसी स्थिति में भरपेट खाना तो कभी नसीब ही नहीं होता था। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि खाना पकता ही नहीं था। आश्रम में रहनेवाले सभी सदस्य उस दनि उपवास करते थे। इस प्रकार विनोबा के प्रयासों से आत्मसंयम, परश्रिम और अनुशासन से परपूर्ण जीवन जीने के मूल्य आश्रम में खूब फूले-फले।

उपरोक्त गुणों के साथ ही विनोबा ने आश्रम में शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए भी अपने प्रयास जारी रखे। विनोबा जब साबरमती से वर्धा आए थे, तो अपने साथ बड़ौदा के

परचिति अपने दो शिक्षित सदस्यों तथा साबरमती आश्रम के तीन छात्रों को भी लाए थे। वर्धा में भी आश्रम का अपना स्कूल था। विनोबा ने आश्रम का कार्यभार सँभालते ही वहाँ शिक्षा के प्रचार-प्रसार का कार्य भी संगठति रूप में करना शुरू किया। विनोबा आश्रम में अन्य कार्यों के साथ-साथ समय नकिालकर कक्षाएँ अवश्य लेते थे।

श्रम के बारे में विनोबा इतने प्रतबिद्ध थे कि कक्षा में पढ़ाते समय भी वह हाथ से कुछ और श्रमसाध्य कार्य करते रहते, जैसे सब्जियाँ काटना अथवा दालें साफ करना व बीनना। उनका मानना था कि आश्रम एक प्रयोगशाला है और आश्रमवासी रसिर्च करनेवाले अन्वेषक।

जनवरी, 1923 में उन्होंने 'महाराष्ट्र धर्म' नाम से एक मासकि पत्रकिा शुरू की। इसमें उनके वचिार, लेख व धर्म के वभिनि्न ग्रंथों के वभिनि्न पक्षों पर व्याख्याएँ छपती थीं। पत्रकिा में छपने वाले लेखों में तत्कालीन प्रमुख समस्याओं के साथ-साथ अस्पृश्यता-निवारण व हरजिन-सेवा की आवश्यकताओं के बारे में भी पर्याप्त सामग्री होती थी। पत्रकिा में गांधीजी द्वारा संचालति आश्रमों में अपनाए जानेवाले 11 प्रमुख नियमों के महत्त्व और मानव जीवन के लिए उनकी सार्थकता को भी गंभीरता से समझाने वाले लेख प्रमुखता से प्रकाशति किए जाते थे।

पत्रकिा में विनोबा स्वयं भी लेख लिखते थे। उनके लेखों में तत्कालीन समस्याएँ और उनके समाधान के लिए पर्याप्त दशिा-निर्देश होते थे। तत्कालीन भारत की दशा को सुधारने के लिए विनोबा ने जो नियम आवश्यक समझे थे, उन्हें अपने जीवन में भी अपनाया था। इन नियमों में से एक था-शिक्षा के प्रति जन-जागरण। विनोबा मानते थे कि शिक्षा के बनिा हम न तो अपने आपको जान पाते हैं और न ही अपने इतहिास को। इसलिए पत्रकिा द्वारा विनोबा ने अपनी लेखनी को भी धार दी और शिक्षा के बारे में भी जागरूकता लाने के लिए महत्त्वपूर्ण लेख लिखे। विनोबा जानते थे कि गुलामी के चंगुल में फँसे भारत जैसे पिछड़े देश को जागरूक बनाने और अपनी लड़ाई खुद लड़ने के लिए शिक्षा का कतिना अधकि महत्त्व है। उनका मानना था कि जीवन व शिक्षा दोनों एक-दूसरे के परपूिरक एवं अभनि्न हैं। मनुष्य आयुपर्यंत शिक्षार्थी रहता है। हर समय कुछ-न-कुछ सीखता, जानता, देखता, झेलता, महसूस करता रहता है। उसके ये अनुभव उसके जीवन में नई-नई जानकारियाँ जोड़ते हैं, जनिका उपयोग मनुष्य अपने भावी जीवन में आने वाली समस्याओं को सुलझाने में करता है। इस प्रकार शिक्षा और उससे प्राप्त अनुभवों का सलसिलिा मानव के जीवन में अंत समय तक चलता रहता है।

विनोबा उस समय की शिक्षा प्रणाली से असंतुष्ट थे। वे कहते थे कि यह शिक्षा वर्तमान भारत की आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं है। यह तो बेजान शक्िषकों द्वारा दी जाने वाली बेजान शिक्षा है, जो आज के हालात में देशवासयों का कुछ भी भला नहीं कर सकती। इसलिए वे चाहते थे कि सबसे पहले तो शक्िषक अपने चरति्र में राष्ट्रीय गुणों व भारतीय जीवन मूल्यों के प्रमुख आदर्शों को समझें और उन्हें जीवन मूल्यों के रूप में अपने व्यवहार में आत्मसात् करें।

श्रीमद्भगवद्गीता विनोबा भावे का सर्वाधिकि प्रिय ग्रंथ था। गीता पर उन्होंने बहुत से लेख व अनेक पुस्तकें लिखीं। इसके साथ ही गीता पर अनगनति व्याख्यान व प्रवचन दिए। जेल में भी वह कैदयों को गीता के उपदेशों की व्याख्या करते हुए ही प्रवचन सुनाया करते थे। पदयात्राओं के दौरान जहाँ पड़ाव डालते, गीता पर कुछ-न-कुछ अवश्य बोलते। विनोबा का संपूर्ण जीवन ही गीता की शिक्षा के साँचे में ढला था कि 'कर्म करो और फल की चिंता मत करो'।

भारत सरकार ने विनोबाजी की देश के प्रति समर्पति सेवाओं का सम्मान करते हुइ उन्हें मरणोपरांत देश के सर्वोच्च नागरकि सम्मान 'भारतरत्न' देने की घोषणा की, परंतु विनोबा भावे के पवनार आश्रम की समिति ने यह पुरस्कार ठुकरा दिया। समिति यह मानती है कि कोई भी पुरस्कार लेना, विनोबा के कर्म के बदले फल की इच्छा न करने के आदर्शों के अनुरूप नहीं होता। जसि व्यक्ति ने अपने जीवनकाल में कोई पुरस्कार स्वीकार न किया हो, वह मरणोपरांत आखिर कोई पुरस्कार क्यों लेता?

समिति ने इस संबंध में उदाहरण देते हुए दलील दी कि विनोबा बार-बार अपने कार्यों के बारे कहा करते थे-घमैं जो समाज-सेवा कर रहा हूँ, उसके लिए मेरी प्रशंसा मत करो और न मेरे गुण गाओ। मैं कोई दान-बलदिान नहीं कर रहा हूँ। यह सब कार्य मैं अपने लाभ के लिए कर रहा हूँ। मैंने ईश्वर की खोज में घर-परविार का परति्याग कर दिया था। अब मैं जानता हूँ कि गरीबों और दलतिों की सेवा ही मेरे लिए ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग है।"

वर्धा और नलवाड़ी आश्रम में कर्मयोगी विनोबा के दस वर्ष

अंग्रेजों के खलिाफ स्वतंत्रता आंदोलन की दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक के बाद का समय अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस समय भारतीय राजनीति में गांधीजी सक्रिय रूप से भाग ले रहे थे और गांधीजी की छवि देश भर में जनता के प्रतिनिधि के रूप में स्थापति हो चुकी थी। देश के लोग उन्हें सम्मान से महात्मा की उपाधि से संबोधति करने लगे थे। उन्हें जनता का पूरा समर्थन प्राप्त होने लगा था। गांधीजी की सत्य और अहिंसा के अस्त्रों के साथ जंग जारी थी। यह 1930 के दशक का आरंभ था, जब महात्मा गांधी ने अंग्रेजी शासन की तानाशाही और जनविरोधी नीतयों के विरुद्ध देश भर में 'असहयोग आंदोलन' छेड़ दिया था। कांग्रेस पार्टी इस आंदोलन का प्रतनिधित्वि कर रही थी। जहाँ तक गांधीजी द्वारा स्थापति आश्रमों का प्रश्न था, उन्होंने आश्रमवासयों को छूट दे दी थी कि वे इस आंदोलन में भाग लें या न लें, यह उनकी इच्छा पर निर्भर है, लेकिन गांधीजी का देश भर में इतना प्रभाव था कि लोग उनके साथ जुड़ते जा रहे थे।

गांधीजी के असहयोग आंदोलन के साथ ही विनोबा ने अपने पूरक कार्यक्रमों को आंदोलन के रूप में ही चलाना शुरू कर दिया। इस क्रम में सबसे पहले विनोबाजी ने मादक द्रव्य ताड़ी नशे के विरुद्ध अभियान छेड़ दिया। जसिके अंतर्गत उनके कार्यकर्ता ताड़ी के पेड़ काटने लगे, जसिसे ताड़ी का उत्पादन ही न हो सके और लोगों को ताड़ी नशेबाज बनने से

रोका जा सके और उनका जीवन बरबाद होने से बचाया जा सके। यह आंदोलन वशिषकर निर्धन वर्ग को नशे से बचाने और उनकी जिंदगी को बरबाद होने से रोकने के लिए वशिष कारगर था; क्योंकि गरीब लोग पैसे के अभाव में सस्ती ताड़ी को नशे के रूप में प्रयोग करते थे और अपना स्वास्थ्य तथा परविार की खुशहाली खत्म कर लेते थे।

देश में उस समय अनेक प्रकार की कुरीतियाँ फैली थीं। इनमें सबसे अधकि प्रभावी थी- जाति-पाँति का भेदभाव तथा छुआछूत। गांधीजी छुआछूत की इस कुरीति के प्रति पहले से ही देश भर में जागृति लाने के लिए समय-समय पर प्रयास करते आ रहे थे। विनोबा ने भी समय का लाभ उठाकर हरजिनों के प्रति उच्च वर्ग की घृणा को दूर करने के लिए आंदोलन चलाया। सामाजकि स्थितियाँ इतनी खराब थीं कि बड़ी जाति के लोग अपने दबंगपने के चलते हरजिनों को सार्वजनकि कुओं से पानी तक नहीं लेने देते थे। विनोबा ने पानी जैसी मूल आवश्यकता को पूरा कराने के लिए हरजिनों में चेतना जगाने और उच्च वर्गों में जनजागृति लाने के लिए आंदोलन छेड़ दिया। विनोबा ने इस आंदोलन के अंतर्गत गाँव-गाँव में सभाएँ कीं और उच्च वर्गों को समझाया तथा मनमानी छोड़ने के लिए उन पर दबाव डाला। धीरे-धीरे आंदोलन उग्र रूप धारण करने लगा था। इससे प्रशासन चिंतति हो उठा और उसने आंदोलन कुचलने के लिए दमन चक्र चलाना शुरू कर दिया। प्रशासन ने बल प्रयोग करके देश भर में सार्वजनकि सभाओं और जुलूसों पर प्रतबिंध लगा दिया तथा लोगों की धरपकड़ शुरू कर दी। ऐसी तनावपूर्ण परस्थितियों में भी विनोबा ने अपनी सभा को संबोधति करने जलगाँव पहुँच गए। जलगाँव की सीमा में घुसते ही पुलसि द्वारा निषेधाज्ञा तोड़ने का अभियोग लगाकर उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। हालाँकि उनकी सार्वजनकि सभा का गांधीजी के 'असहयोग आंदोलन' से कोई संबंध नहीं था, लेकिन प्रशासन ने उनकी कोई बात नहीं सुनी और विनोबा को जेल में डाल दिया गया।

दो महीने तक जेल में रखने के बाद अंग्रेजों ने विनोबा को रहिा किया। जेल से छूटने के बाद विनोबा जब वर्धा पहुँचे, तो यह देखकर हैरान रह गए कि अंग्रेज तानाशाहों ने सत्याग्रह आश्रम बंद करा दिया था और वहाँ रह रहे लोगों को बाहर नकिालकर आश्रम के मुख्य द्वार पर ताला डाल दिया था। यह देखकर विनोबा को बहुत दुख हुआ। ववशति में विनोबा को आश्रम छोड़ना पड़ा और रहने के लिए स्थान की तलाश में वे पास ही के नलवाड़ी नामक गाँव जा पहुँचे। इस गाँव में अत्यंत निर्धन कसिान व हरजिन रहते थे। इन गरीब कसिानों और हरजिनों को देखते ही विनोबा का मन आर्द्र हो उठा। उनके मन में सेवा के भाव जाग उठे। उन्हें लगा कि वे यहाँ रहकर इन लोगों की मदद करने के लिए कई प्रकार के प्रयोग भी कर सकते हैं और विनोबा ने नलवाड़ी गाँव में ही रहकर जनसेवा का कार्य शुरू कर दिया।

विनोबा ने वर्धा में अपने प्रथम दस वर्ष तो आत्मशुद्धि और इंद्रिय अनुशासन में लगा दिए थे। इस बीच उनका व्यक्तत्वि भी निखर गया था और आध्यात्मकि विकास भी हुआ। एक प्रकार से विनोबा ने इन वर्षों में खुद को तपाकर देशसेवा के लिए तैयार किया था और अब आत्मविश्वास से परपूिर्ण विनोबा रचनात्मक कार्यों द्वारा जनसेवा के लिए अपनी साधना को आजमाना चाहते थे। असली भारत गाँवों में ही तो रहता है, जो निर्धनता, अशिक्षा,

शोषण और सामाजकि कुरीतयों की बेड़यों में बुरी तरह जकड़ा हुआ है। विनोबा ने अपने वचिारों को पुष्ट करने के लिए आस-पास के गाँवों में भी जाना शुरू का दिया। वे इन गाँवों की सामाजकि स्थतियों की जानकारी लेते, लोगों की सोच और आर्थकि ढाँचे का अध्ययन करते तथा लोगों से जान-पहचान बढ़ाते। दो वर्ष तक विनोबा ने नलवाड़ी और उसके आस-पास के गाँवों में लोगों की समस्याओं को उनके व्यावहारकि रूप में जाना। इस बीच विनोबा ने लोगों को उनकी समस्या के मूल कारणों के बारे में शिक्षित किया और साथ-ही-साथ हर गाँव में कुछ उत्साही लोगों को कार्यकर्ता बनाकर फिर से एक जनसेवी संगठन खड़ा किया।

संगठन बन जाने के बाद विनोबा ने गाँवों के सर्वांगीण विकास के लिए योजनाएँ बनाइऔ। इन योजनाओं को लागू करने के लिए संगठन ने पहले अधकि गरीब व समस्याग्रस्त ग्रामों को चुना। विनोबा ने अपने सारे रचनात्मक कार्यक्रमों को लागू करने के लिए अपने कार्यकर्ताओं की बैठक बुलाई और योजनाओं पर वसि्तार से वचिार-वमिर्श किया। विनोबा ने कार्यकर्ताओं से गाँव-सुधार के लिए सुझाव भी आमंत्रति किए। अनेक सुझाव सामने आए। इनमें से एक सुझाव 'खादी-यात्रा' के बारे में था।

नलवाड़ी विनोबा भावे के ग्राम-सुधार आंदोलन का केंद्र बन गई थी। विनोबा के साथ लगातार समाजसेवी युवक जुड़ते चले गए। कार्यकर्ताओं की पर्याप्त संख्या हो जाने पर विनोबा संगठन की दूसरी इकाई के रूप में ग्रामसेवा मंडलों का गठन किया। सेवा मंडल के कार्यकर्ता गाँव-गाँव जाते और लोगों से संपर्क करके गरीबी दूर करने के लिए उन्हें गाँवों में ही लघु उद्योग चलाने के लिए प्रेरति करते। लघु ग्राम उद्योगों की परकलि्पना में विनोबाजी ने गाँव में चल सकने वाले अनेक उद्योगों, जैसे-खादी बुनना, ग्रामीण क्षेत्र में उपलब्ध वस्तुओं से कलात्मक तथा शलि्प की वस्तुएँ बनाना, कुटीर व ग्राम उत्पादन उद्योग स्थापति करना, ग्रामीण जनजातयों, जैसे कुम्हार, लोहार, बढ़ई आदि की परंपरा से प्राप्त प्रतभिा के आधार पर दस्तकारी की वस्तुएँ बनाना तथा पशुपालन व मुरगीपालन का व्यावसायकि स्तर पर उपयोग करना आदि अनेक कार्यक्रम शामलि थे। विनोबा द्वारा स्थापति संगठन के कार्यकर्ता उद्योग स्थापति करने के लिए लोगों के लिए आवश्यक आर्थकि सहायता भी जुटाते थे।

विनोबाजी नलवाड़ी में रह रहे थे। इसलिए संगठन के कार्यकर्ता हर पखवाड़े वभिनि्न गाँवों से आकर नलवाड़ी में जुटते और अपनी प्रगति की रपिोर्ट विनोबाजी को देते। विनोबा संगठन की बैठक में इन रपिोर्टों को रखते, प्रगति कार्यों की समीक्षा की जाती तथा आने वाली समस्याओं पर वचिार करके समाधान ढूँढ़ा जाता। नलवाड़ी केंद्र पर कताई, बुनाई और धुनाई की प्रतियोगिताएँ भी आयोजति की जाती थीं। यथासमय लघु उद्योगों में उत्पादति सामानों के प्रदर्शन के लिए उद्योग-मेलों का आयोजन भी किया जाता। इन मेलों में आस-पास के गाँवों के व्यवसायी तथा खरीददार उत्साह से भाग लेते, जसिसे एक ओर प्रतभिागयों को प्रोत्साहन मलिता, तो दूसरी ओर ग्रामीणों को आय भी होती। धीरे-धीरे विनोबा का यह प्रयोग इतना सफल हुआ कि सन् 1937 में नलवाड़ी ग्रामद्योग परसिर में

एक चमड़ा कारखाना चालू कर दिया गया। इसके साथ ही गाँवों में होने वाली कार्यशालाएँ (वर्कशॉप) भी और अधकि संख्या में आयोजति होने लगीं।

विनोबा का ग्रामोद्योग का यह प्रयोग इतना अधकि सफल हुआ कि कुछ ही वर्षों में गाँवों की तसवीर बदलने लगी। ग्रामों में आरंभ किए उद्योग सेवाकेंद्र अब इतने वकसिति हो चुके थे कि उनमें रात-दिन काम चलने लगा। इसलिए उन्हें लगाने वाले कार्यकर्ताओं की व्यस्तता भी बढ़ गई। उद्यमयों का अब अपने बढ़ते हुए उद्योग सेवाकेंद्रों पर रहना अनविार्य हो गया था। ऐसे लोगों को विनोबा अपने उद्योग सेवाकेंद्रों पर ही रहने को कहते और पत्र-व्यवहार द्वारा उन्हें मार्गदर्शन देते रहते।

ग्राम-सुधार के इन प्रयोगों के साथ-साथ विनोबा के आत्मसंयम और आत्मसुधार के प्रयोग भी जारी थे। नलवाड़ी प्रवास के दौरान विनोबा ने आत्मसुधार के लिए स्वयं एक और प्रयोग किया। उन्होंने यह संकल्प लिया कि वे अपनी जीविका चलाने के लिए प्रतदिनि तकली पर सूत कातेंगे और उस सूत की कमाई की आय से जीवन-निर्वाह करेंगे। इस संकल्प को पूरा करने के लिए विनोबा प्रतदिनि लगभग आठ घंटे तकली पर सूत कातते और उस सूत की कताई से उन्हें मात्र 12 पैसे की आमदनी होती थी। इन्हीं 12 पैसों में विनोबा अपनी दोनों वक्त की रोटी चलाते। इस प्रयोग से विनोबा को पता चला कि इतनी कम आय में एक परवािर का गुजारा करना लगभग असंभव है। वे कल्पना करने लगे कि सूत कताई करनेवाले मजदूरों को उनकी दनि भर की मेहनत के बावजूद आखिर कतिनी कम मजदूरी मलिती है! ऐसी परस्थितियों में इन मजदूरों के परवािरों का जीवन आखिर कतिनी कठनिाइयों और अभावों में पल रहा होगा।

विनोबा ने अपने प्रयोग के बारे में और साथ ही मजदूरों के कष्टों के बारे में गांधीजी को अवगत कराया। गांधीजी ने ग्राम विकास के सभी कार्यों में लागत और उत्पादन के साथ-साथ होने वाली आय का पूरा ब्योरा माँगा। गांधीजी और विनोबा इस ब्योरे की समीक्षा के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इतने घंटे काम के बदले कताईकारों को कम-से-कम मजदूरी 48 पैसे तो मलिने ही चाहिए, तभी वह अपनी और परवािर की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा कर सकते हैं। गांधीजी ने तकली मजदूरों की यह समस्या 'अखलि भारतीय तकलीकार संघ' की महाराष्ट्र शाखा के सामने रखी और उन्हें सभी तथ्यों से अवगत कराते हुए मजदूरी बढ़ाने की अपील की। गांधीजी के सुझाव को स्वीकार करते हुए संघ ने मजदूरों की 8 घंटे कताई के बदले मलिने वाली प्रतदिनि की न्यूनतम मजदूरी बढ़ाकर 48 पैसे करना स्वीकार कर लिया।

तकली मजदूरों की आय बढ़वा देने के बावजूद विनोबा ने अपने आठ घंटे के काम को तो यथावत् जारी रखा, लेकिन अपनी आय नहीं बढ़ाई। इस प्रकार उन्होंने 12 पैसे पर ही अपना जीवनयापन जारी रखा। परिणाम यह हुआ कि जल्दी ही विनोबा अधकि श्रम के कारण थकान तथा उचति आहार के अभाव में कुपोषण का शकिार होने लगे। उनके शरीर में कमजोरी लगातार बढ़ती जा रही थी।

विनोबा का नविास उन दनिों नलवाड़ी में था। गांधीजी के वर्धा आने की खबर मलिते ही विनोबा भी उनसे मलिने वर्धा आ गए और यहीं से रोज नलवाड़ी जाने लगे। साबरमती आश्रम के विद्यालय में अनेक निर्धन लड़कियाँ शिक्षा ग्रहण कर रही थीं। गांधीजी के साथ ही ये लड़कियाँ भी वर्धा चली आइऔ और यहीं के कन्या स्कूल में शिक्षा ग्रहण करने लगी थीं। विनोबा जब वर्धा में रुकने लगे तो उन्होंने आश्रम के कन्या स्कूल की कक्षाएँ लेना शुरू कर दी थीं। इस प्रकार वर्धा और नलवाड़ी की दोहरी जम्मिेदारी नभिाने के लिए वे रोज वर्धा से नलवाड़ी जाते और वहाँ का कार्य संपन्न करने के बाद पुनः नलवाड़ी से वर्धा आश्रम लौट आते। इस प्रकार रोज नलवाड़ी से वर्धा आना-जाना विनोबा की दैनकि चर्या बन चुकी थी। उन दनिों सड़कें नहीं थीं, रास्ता धूल भरा था। विनोबाजी पैसे की कमी के कारण इस धूल भरे रास्ते का सफर पैदल ही तय करते थे। एक तो कमजोरी और दूसरी ओर रोज की पैदल यात्रा के कारण विनोबा के स्वास्थ्य पर लगातार बुरा प्रभाव पड़ता रहा। विनोबा के गिरते स्वास्थ्य से गांधीजी चिंततिि हो उठे। उन्होंने विनोबा पर स्वास्थ्य-लाभ के लिए पूर्ण वश्रिाम करने पर जोर डाला।

गांधीजी ने विनोबा से वर्धा में ही रुकने और नलवाड़ी न जाने का आग्रह किया, ताकि वह स्वयं विनोबा की देखभाल कर सकें। विनोबा ने कहा, "गांधीजी! आप पर भरोसा नहीं किया जा सकता। आप वैसे ही जनसेवा के और देश के इतने कामों में उलझे हैं। इसके साथ ही आप बीमारों की देखरेख भी कर रहे हैं, जनिकी संख्या बहुत अधकि है।"

गांधीजी के परम मति्र व अनन्य अनुयायी जमनालाल बजाज का नकिट के क्षेत्र में धाम नदी के दूसरी ओर पवनार में एक बँगला था, जो उस समय खाली पड़ा था। यह तय किया गया कि विनोबा को स्वास्थ्य-लाभ के लिए उस बँगले में भेज दिया जाए। गांधीजी ने विनोबा के सामने कड़ी शर्त रखी कि वह कोई काम नहीं करेंगे तथा चिंता से स्वयं को मुक्त रखेंगे। विनोबा ने वचन दिया, "मैं कोई काम नहीं करूँगा। मैंने सबकुछ छोड़ दिया।"

बँगले में प्रवास के दौरान विनोबा ने गांधीजी को दिया अपना वचन पूरी तरह नभिाया। उन्होंने अपने मन-मस्तिष्क को चिंताओं से मुक्त रखा तथा पूर्ण वश्रिाम करने लगे। उन्होंने पौष्टकि भोजन लेना भी स्वीकार कर लिया। नियमति दनिचर्या और समय पर पौष्टकि भोजन लेने से विनोबाजी का स्वास्थ्य तेजी से सुधरने लगा। कुछ ही दनिों में उनके शरीर में जान आ गई। वजन बढ़कर 128 पौंड हो गया। क्योंकि इस बँगले में विनोबाजी के स्वाथ्य को आराम भी मलिा था और देशसेवा के भावी कार्यक्रमों को तैयार करने के लिए शांतपूर्ण वातावरण भी मलिा था, इसलिए विनोबा ने स्वास्थ्य-लाभ देनेवाले उस बँगले का नाम 'परमधाम' रखा। धीरे-धीरे यही उनका स्थायी नविास बन गया और यहीं से विनोबा ने देशसेवा के अपने कार्यक्रमों का संचालन किया। भविष्य में यह परमधाम विनोबा भावे के 'पवनार आश्रम' के नाम से जाना जाने लगा।

नलवाड़ी में विनोबा ने समाज-सेवा कार्य के अपने वचिारों को मूर्त रूप दिया। उन्हेंने अपनी सोच के अनुरूप यहाँ गरीब मजदूरों को और कसिानों को आत्मनिर्भर बनाने के लिए कुटीर धंधे चलाए, शिक्षा के कार्यक्रम चलाए और आत्मसंयम का जीवन जीया था। इन

सबके साथ-साथ एक और वशिष कार्यक्रम चलाया, जो विश्व भर के समाज-सेवा कार्यक्रमों के लिए एक उदाहरण है। यह कार्यक्रम था कुष्ठ रोगयों की सेवा का कार्यक्रम। विनोबा जब नलवाड़ी में अपने सपनों को मूर्तरूप दे रहे थे, उन्हीं दनिों उनके सामाजकि कार्यकर्ता अपने दौरों से उनके पास नलवाड़ी आते थे, तो गाँवों में कुष्ठ रोगयों के दारुण दुख और दुर्दशा भरे जीवन की कहानयों की जानकारी देते थे। सामाजकि घृणा के कारण परविारजनों तक ने उन्हें घरों से नकिाल दिया था। अपने जख्मों से तड़पते इन लोगों को गाँवों से दूर अलग झोंपड़ियाँ बनाकर रख दिया जाता है, जहाँ वे दवाओं और खाने-पीने की वस्तुओं के अभाव में पीड़ति और भूखे-प्यासे पड़े रहते हैं। लोग इन रोगयों को समाज के लिए कलंक मानते हैं और इनसे इतनी घृणा करते हैं कि कभी-कभी तो इन्हें मार डालने के लिए रात को आकर इनकी झोंपड़यों में चुपके से आग लगा देते हैं। इन घटनाओं में कई बार अनेक कुष्ठ रोगी जलाकर मार डाले जाते हैं।

विनोबा ने इस समस्या पर गंभीरता से वचिार किया और अपने कार्यकर्ताओं के साथ मलिकर ऐsसे कुष्ठ रोगयों के लिए रहने व इलाज के लिए 'कुष्ठ सेवाकेंद्र' खोलने का वचिार किया। इस कार्यक्रम के संचालन में सबसे बड़ी समस्या थी कि कौन कार्यकर्ता इस कार्यक्रम को चलाएगा? क्योंकि कार्यकर्ता भी तो सामाजकि प्राणी थे। उनका घर-बार था, परविार व रश्तिेदार थे। कुष्ठ से सब घृणा करते थे। कुष्ठ रेग से किसी भी रूप से जुड़े व्यक्ति को सामाजकि बहिष्कार तक का सामना करना पड़ सकता था। विनोबा इस समस्या को लेकर सोच में पड़े हुए थे कि उनके एक शिष्य मनोहर दीवान ने कहा, "बाबा! यह केंद्र मैं चलाऊँगा। आप मुझे आज्ञा दीजिए।"

"शाबाश! मैं आज्ञा ही नहीं, आशीर्वाद देता हूँ।" विनोबा ने गद्गद स्वर में मनोहर दीवान का स्वागत करते हुए कहा।

"पर एक समस्या है?" मनोहर दीवान ने थोड़े गंभीर होते हुए सोचकर सवाल किया...।

"क्या?" विनोबा ने मनोहर दीवान की ओर उत्सुकता से देखा।

"मेरी माँ। मैं तो शायद उसे समझा नहीं पाऊँगा। आपको उसे मनाना होगा।" मनोहर दीवान ने कहा।

विनोबाजी ने मनोहर की बात को स्वीकार किया और मनोहर की माताजी से मलिने जा पहुँचे। मनोहर की माताजी से बोले, "माता! हम एक कुष्ठ सेवाकेंद्र खोलने जा रहे हैं और आपका बेटा स्वेच्छा से उसका संचालन करना चाहता है।"

"इस केंद्र में क्या काम होगा, यह कोई नया उद्योग है?" मनोहर की माताजी ने विनोबा से पूछा।

"यह उद्योग नहीं है माता! इस केंद्र में कोढ़यों की सहायता की जाएगी, उन्हें दवाएँ और भोजन देने के साथ उचति शरण दी जाएगी।" विनोबाजी ने समझाया।

विनोबा का प्रस्ताव सुनकर मनोहर की माताजी को जैसे आघात लगा। उनका मन आशंका से भर उठा। उन्होंने चिंतातुर होते हुए पूछा, "क्या? कोढ़यों की सेवा! मेरा बेटा कोढ़यों को हाथ लगाएगा? नहीं-नहीं, यह नहीं हो सकता।"

विनोबाजी ने उन्हें समझाते हुए कहा, "देखिए, माताजी कोढ़ी एक रोगी और परेशान व्यक्ति ही तो होता है। वह कोई घृणा का पात्र नहीं होता। कोढ़ तो मात्र एक रोग है, जैसे अन्य रोग।" समाज के लोगों की आम धारणा की तरह ही उनकी यह धारण बनी हुई थी कि "कोढ़ एक श्राप है। यह पूर्वजन्म के पापों का दंड है। कोढ़ी को छूने से भी कोढ़ लग जाता है। मेरा बेटा इस काम को कैसे कर सकता है। उसे कोढ़ लग गया तो?"

विनोबाजी ने माता के संदेह को दूर करते हुए उन्हें आश्वासन दिया, घनहीं, माता! केवल छूने से कोढ़ नहीं लगता। यह रोग तो दुनिया भर में लगभग सभी देश के लोगों को होता है, लेकिन उन देशों में इस रोग को दूर करने के लिए अस्पताल हैं, जहाँ कोढ़ रोगयों का इलाज ठीक उसी प्रकार होता है, जैसे कि हमारे यहाँ अन्य रोगों के रोगयों का इलाज वभिनि्न अस्पतालों में होता है। हमारे समाज में कोढ़ के बारे में फैली बातें अज्ञान की उपज हैं। आपका बेटा एक महान् पुण्य का काम करने जा रहा है। यह दूसरों के लिए भी मार्गदर्शन साबति होगा। आपको तो मनोहर के त्याग और साहस पर गर्व होना चाहिए।"

माँ विनोबा के तर्क से सहमत नजर आइऔ, लेकिन तुंत ही उन्होंने समाज की मानसकिता की ओर इशारा करते हुए संदेह जताया-"पर लोग क्या कहेंगे? कोई हमें अपने घर नहीं आने देगा और न कोई हमारे घर आएगा। हमारी तो रशि्तेदारियाँ ही टूट जाएँगी।"

विनोबा ने मनोहर की माता के तर्क को तत्कालीन सामाजकि परस्थितियों के संदर्भ में उचति ही माना और उन्हें समझाया-"माता, मैं जानता हूँ कि आपको कुछ कठनिाइयाँ अवश्य आएँगी, पर यह आपके बेटे के कार्य के कारण नहीं होंगी। वह तो एक आदर्श कार्य करने जा रहा है। आपको जो कठनिाइयाँ आएँगी, वह केवल लोगों और समाज की मूर्खता तथा अज्ञान के कारण होंगी। क्या हम दूसरों की मूर्खता के कारण पुण्य कर्म करने छोड़ देंगे? मैं विश्वास दलिाता हूँ कि हम जो कर रहे हैं, वह गलत नहीं है, बल्कि एक महापुण्य है। आप एक समाजसेवी की माता का कर्तव्य नभिाइए और अपने बेटे को एक शुभ कार्य से जुड़ने का आशीर्वाद दीजिए।"

मनोहर दीवान की माताजी विनोबा भावे के तर्कों से पूरी तरह प्रभावति हो गइऔ। उन्होंने कहा, "विनोबाजी! आप इतना कुछ कह रहे हैं तो यह कार्य ठीक ही होगा, क्योंकि आप किसी को गलत राह पर तो डालेंगे नहीं।"

इस प्रकार विनोबाजी ने मनोहर दीवान की माताजी से अनुमति प्राप्त कर ली। अब कुष्ठ रोगयों की सेवा का रास्ता साफ था। देश में पहली बार कुष्ठ रोगयों की सेवा-शुश्रूषा का कार्य शुरू होने जा रहा था। विनोबाजी ने वर्धा से लगभग पाँच कलिोमीटर दूर दत्तापुर नाम के स्थान पर 'महारोगी मंडल' नाम से एक सेवाकेंद्र स्थापति किया, जहाँ उन्होंने कुष्ठ

रोगयों की सेवा का कार्य वधिवत् शुरू कर दिया।

पवनार में स्वास्थ्य सुधरते ही विनोबा ने कम श्रम वाले हलके-फुलके काम करने शुरू कर दिए थे। और फिर धीरे-धीरे उन्होंने अपने कार्य़ों की क्षमता बढ़ा दी तथा कठोर श्रम वाले कार्य करने लगे। कुछ ही दनिों में विनोबाजी के कार्य बढ़ते चले गए।

विनोबाजी ने सेवा कार्य़ों के सलसिलि में फिर से आस-पास के गाँवों में जाना शुरू कर दिया। इसी क्रम में विनोबा पवनार ग्राम भी गए। पवनार में विनोबाजी की प्रेरणा से बाल श्रमकिों के मार्गदर्शन के लिए एक वशिष कार्यशाला आरंभ की गई। इस कार्यशाला में बनिा पढ़े-लिखे बच्चों को काम के साथ-साथ शिक्षा देने की व्यवस्था की गई थी। बाल मजदूरों को शिक्षित करने का यह कार्य पूरी तरह निःशुल्क था। इस कार्यशाला से बाल मजदूरों को आत्मनिर्भर बनाने की दशिा में विनोबाजी ने उल्लेखनीय कार्य किया।

विनोबाजी का जीवन समाज-सेवा के साथ-साथ आत्मविकास के लिए भी लगातार समर्पति रहा। विनोबाजी को कुछ-न-कुछ पढ़ते और सीखते रहने का बहुत शौक था। अपनी इस इच्छा को पूरा करने के लिए वे अपने व्यस्त कार्यक्रम में से भी समय नकिाल ही लेते थे। कोढ़यों की सेवा और बाल श्रमकिों के उत्थान के इन कार्यक्रमों के दौरान ही विनोबाजी ने अरबी भाषा सीखी और इस भाषा में दक्षता प्राप्त होते ही उन्होंने कुरानशरीफ का अध्ययन उसकी मूल अरबी भाषा में किया।

द्वितीय विश्वयुद्ध और विनोबा का जनसेवा अभियान

द्वितीय विश्वयुद्ध सन् 1939 में आरंभ हुआ। नाजीवाद के समर्थक जर्मनी द्वारा अपने विरोधी पड़ोसी देशों पर आक्रमण करने के कारण युद्ध आरंभ हुआ था। इन देशों में जापान सहति अनेक देश शामलि थे। धीरे-धीरे दोनों पक्षों की ओर मत्रि देश जुड़ते गए और दो देशों के बीच आरंभ हुआ यह युद्ध देखते-ही-देखते दूसरे विश्वयुद्ध में बदल गया। ब्रटिन इस युद्ध को जर्मनी की मनमानी मानता था और सीधे-सीधे जर्मनी द्वारा दुनिया पर थोपा हुआ युद्ध कहता था। इसलिए ब्रटिन ने मत्रि देशों के साथ मलिकर जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। ब्रटिन ने अपने युद्ध में शामलि होते ही अपनी साम्राज्यशाही वाले देशों को बनिा उनकी मरजी के ही इस युद्ध में शामलि होने की घोषणा कर दी। इन देशों में भारत भी शामलि था। भारत को विश्वयुद्ध में शामलि किए जाने की ब्रटिन की इस घोषणा का भारतीय नेताओं ने खुला विरोध किया। भारतीय नेताओं का कहना था कि भारत का इस युद्ध से कोई मतलब नहीं है, इसलिए हमें हमारी मरजी के खलिाफ युद्ध में नहीं घसीटा जाना चाहिए।

सन् 1939 और उसके बाद के वर्ष भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण वर्ष थे। जनता में पर्याप्त जागृति थी। अनेक स्तरों पर देश भर में अंग्रेजों के खलिाफ आंदोलन चल रहे थे। इन आंदोलनों का नेतृत्व करने के कारण कांग्रेस पार्टी के उदारवादी नेता अंग्रेज सरकार के लगातार संपर्क में थे। विश्व परदिृश्य पर नजर रखनेवाले इन नेताओं की सहानुभूति ब्रटिन तथा फ्रांस के साथ थी। कांग्रेस के ये उदारवादी नेता मानते थे कि यदि उन्होंने दूसरे विश्वयुद्ध में अंग्रेजों का साथ दिया तो खुश होकर अंग्रेज सरकार उनकी भारत को आजाद करने की माँग को मान लेगी। इस अपमानजनक व्यवहार से क्षुब्ध होकर अब कांग्रेसी नेताओं ने ब्रटिशि हुकूमत का खुला विरोध करने का निर्णय किया। कांग्रेस ने

यह दलील दी कि भारत को युद्ध में घसीटे जाने का कोई औचत्यि नहीं है। भारतीयों को जब यह तय करने का भी हक नहीं है कि युद्ध में उनकी क्या भूमकिा होगी, तो भारत यह युद्ध क्यों लड़े?

अंग्रेज सरकार ने कांग्रेसयों की यह दलील भी नहीं मानी और उनकी मरजी के खलिाफ युद्ध में भारतीय संसाधनों तथा सेना का उपयोग जारी रखा। आखिर अंगेज सरकार की मनमानी के विरुद्ध देशव्यापी 'सवनिय अवज्ञा आंदोलन' छेड़ने का निर्णय लिया गया। इसका नेतृत्व गांधीजी को सौंपा गया था। आखिर 17 अक्तूबर, 1940 को गांधीजी के नेतृत्व में सवनिय अवज्ञा आंदोलन का आरंभ हुआ। गांधीजी ने विनोबा को इस आंदोलन में अपना पहला सत्याग्रही बनाने का निर्णय किया।

गांधीजी ने घोषणा की कि सवनिय अवज्ञा आंदोलन पूरी तरह अहिंसा पर आधारति होगा और हम वनिय करते हुए अंग्रेजों की मनमानी के खलिाफ आंदेलन चलाएँगे। अंग्रेज सरकार ने गांधीजी की वनिय का कोई मोल नहीं समझा और अपनी मनमानी के साथ ही आंदोलनकारयों के साथ भी बर्बरता का व्यवहार करना शुरू कर दिया। परिणामतः भारतीय जनता का भी गुस्सा भड़कने लगा और आंदोलन हिंसा की राह पकड़ने लगा। देश भर में जगह-जगह हिंसा और तोड़-फोड़ की घटनाएँ होने लगीं। आंदोलन के अहिंसा की राह से भटकते देख गांधीजी दुखी हो उठे और उन्हें सवनिय अवज्ञा का यह आंदोलन बीच में ही छोड़ना पड़ा। उनके लिए समर्थ अंग्रेजों से लड़ने के लिए समय की माँग के अनुसार अहिंसा का सद्धिांत ही सर्वोपरि था।

गांधीजी जानते थे कि विनोबा की राजनीति में रुचि नहीं है। उन्होंने विनोबा को उनके पवनार आश्रम से अपने पास वर्धा बुला लिया और धीरे से विषय छेड़ा-"विनोबा! आप जो कुछ कार्य कर रहे हैं, वह छोड़कर क्या 'सवनिय अवज्ञा आंदोलन' का प्रथम सत्याग्रही बनने के लिए स्वयं को उपलब्ध करा सकते हैं?"

विनोबा मुसकराकर बोले, "गांधीजी! मैं तो आपका बुलावा यमराज के बुलावे के समान मानता हूँ। आपका जब भी बुलावा आता है, तो मैं अपना सारा दायत्वि दूसरों को सौंपकर मुक्त होकर ही आता हूँ।"

विनोबा को अंग्रेज सरकार द्वारा तीन बार गिरफ्तार कर जेल भेजा गया। कुल इक्कीस महीनों की सजा हुई। आंदोलन में कूदते समय विनोबा ने संदेश दिया-घमैं अहिंसा में पूर्ण विश्वास रखता हूँ और रखूँगा। मेरा मानना है कि अहिंसा द्वारा ही मानव मात्र की समस्याएँ हल को सकती हैं, युद्ध द्वारा नहीं। खादी, हरजिन सेवा, सामाजकि कार्य तथा सांप्रदायकि सद्भाव अहिंसा की रचनात्मक अभव्यिक्ति हैं। युद्ध अमानवीय क्रिया है। युद्ध लड़नेवालों व न लड़नेवालों में भेद नहीं करता। यह तो बस मनुष्य को अमानवीयता और क्रूरता की ओर धकेलता है। भारत स्वराज्य के आदर्श की पूजा करता है। स्वराज्य का असली अर्थ सबके द्वारा शासन है। यह केवल अहिंसा द्वारा ही संभव है। मैं लोगों से अपील करता हूँ कि वे इस युद्ध में किसी भी रूप में योगदान न दें। यदि मुझे गिरफ्तार न किया

गया, तो मैं सरकार को अहिंसा का चिंतन समझाऊँगा। युद्ध के भयानक नतीजों के बारे में बताऊँगा, और यह तथ्य भी कि फासीवाद, नाजीवाद तथा साम्राज्यवाद एक ही सक्िके के दो पहलू हैं।"

पहली बार विनोबा को तीन महीने कैद की सजा हुई। उन्हें दसिंबर में छोड़ा गया। हर अगली गिरफ्तारी में सजा की अवधि बढ़ती गई। नौ माह बाद कांगेस ने 'भारत छोड़ो' आंदोलन शुरू किया। विनोबा को फिर जेल जाना पड़ा। उन्हें नागपुर जेल में रखा गया, फिर दक्षिण भारत की बैलोर जेल भेजा गया।

शारीरकि रूप से जेल में विनोबा का जीवन उनके लिए कोई चुनौती या कठनिाई नहीं थी। वास्तव में जेल के जीवन से तो उनका अपना आश्रमों में जीया जाने वाला जीवन कहीं अधकि अनुशासति और कठोर नियमों पर आधारति था। जेल में तो उन्हें इसके वपिरीत शांति तथा एकांत मलिा और समय मलिा आगे की नई रचनात्मक योजनाओं के बारे में सोचने और उनकी रूपरेखा तैयार करने का। उन्होंने अपने साथी कैदयों को जो प्रवचन सुनाए और धर्म व सामाजकि कर्तव्यों के बारे में बताया, उनके संकलन बाद में पुस्तक रूप में प्रकाशति किए गए।

जेल की कोठरी के एकांतवास से विनोबा को कोई परेशानी नहीं थी। वह शांत रहते, प्रसन्न दिखते, सोच में डूबे रहते या साधना करते। एक दुष्ट स्वभाव के जेलर का विनोबा का कैदयों को गीता पर प्रवचन देना ठीक नहीं लगा। उसे लगा कि इस बातूनी को लोगों से बतियाते रहने की आदत है। इसे जेल की अकेली कोठरी में रखा जाए, तो अकेले में तड़पेगा। परंतु विनोबा अकेली कोठरी में भी शांत व प्रसन्न नजर आए। हारकर जेलर को दूसरे कैदयों से उन्हें मलिने की छूट देनी पड़ी।

जेल से छूटने पर विनोबा गांधीजी से मलि, तो उन्हें अपनी इच्छा बताई। गांधीजी को इसमें कोई कमी नजर नहीं आई। उन्होंने विनोबा को अपनी इच्छानुसार अपनी भूमकिा तय करने की कुछ छूट दे दी। दोनों ने फैसला किया कि विनोबा हर दल, गुट अथवा संस्था से संपर्क तो रखेंगे, परंतु किसी जगह कोई पद स्वीकार नहीं करेंगे। एक प्रकार से यह ऐसा था कि विनोबा सबके होंगे, पर किसी का उन पर अधकिार नहीं होगा।

जब गांधीजी ने अपने 'सवनिय अवज्ञा आंदोलन' के लिए विनोबा को अपना प्रथम सत्याग्रही बनाने की घोषणा की, तो कुछ लोगों को अजीब लगा, क्योंकि विनोबा के बारे में लोग बहुत कम जानते थे। कुछ ने प्रश्न भी उठाया कि एक गुमनाम व्यक्ति को क्यों इतना बड़ा श्रेय दिया जा रहा है? देश को विनोबा का परचिय देने के लिए गांधीजी को समाचार-पत्रों व पत्रकिाओं में कई लेख छपवाने पड़े थे, जनमिं विनोबा के अनुशासनपूर्ण व संयमति जीवन का चत्रिण था। विनोबा के आदर्शवाद, कठोर श्रम, ग्रामसेवा तथा हरजिन-सेवा क्षेत्र में उनकी उपलब्धयों का वविरण भी था। साढ़े चार वर्ष बाद जुलाई, 1945 को सारे नेता जेलों से रहिा किए गए, जनमिं विनोबा भी थे। इस अवधि में विनोबा सारे देश में प्रसद्धि हो चुके थे। सबको स्पष्ट आभास हो गया था कि आवश्यकता पड़ने पर गांधीजी के

बाद देश का नैतकि व आध्यात्मकि मार्गदर्शन कौन करेगा!

इस बार विनोबा ने ठान ली थी कि वह समाज के सबसे दलति व शोषति वर्ग की सेवा करेंगे। यह नश्चिय उन्होंने जेल में ही कर लिया था। सेवा के लिए उन्होंने सुरगाँव नामक एक हरजिन गाँव चुना, जो उनके पवनार आश्रम से लगभग 6 कलिोमीटर दूर था। बस्ती बहुत गंदी थी। वह सुबह पहुँच जाते और गाँव में झाड़ू लगाकर सफाई करते। फिर लोगों को स्वच्छता की शिक्षा देते। स्वच्छता उत्थान का पहला चरण होता है।

यह गाँव पवनार से एक तंग सड़क से जुड़ा था। सड़क खेतों के बीच में से भी जाती थी। विनोबा सूर्य की प्रथम किरणों को नमस्कार कर, अपने कार्य में सफलता का आह्वान कर सुरगाँव की ओर चल देते थे। उनका यह दैनकि क्रम बनिा नागा 33 महीनों तक चला। बरसात में सड़क कीचड़ भरी खाई बन जाती थी, परंतु विनोबा इसकी परवाह न करते। वह कीचड़ को मथते हुए सुरगाँव पहुँचते। इस गाँव में विनोबा ने कुटीर उद्योग भी लगवाए।

अक्तूबर, 1947 में विनोबा के पिता चल बसे। वह अपने पीछे 25,000 रुपए बैंक में, गागोरा ग्राम में 450 एकड़ पुश्तैनी जमीन छोड़ गए और एक लाइब्रेरी भी। विनोबा ने वह भूमि भूमहीिनें व गरीबों में बाँट दी। बैंक का पैसा रचनात्मक कार्यों के लिए 'ग्राम सेवामंडल' को दे दिया। अपने सुरगाँव अभियान के दौरान विनोबा ने 'हरजिन' पत्रकिा चलाने में भी सहयोग दिया। देश आजादी की मंजलि के नकटि आता जा रहा था।

विनोबा स्वतंत्र भारत में

स्वतंत्रता के लिए लंबे चले संघर्ष के बाद आखिर वह समय आ गया जब आततायी अंग्रेजों को अपनी हुकूमत समेटकर भारत से भागना पड़ा। 15 अगस्त, 1947 को भारत गुलामी की दासता को तोड़कर आजाद हो गया। स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री के रूप में पं. जवाहरलाल नेहरू ने लाल कलि पर तिरंगा फहराया और आजादी का ऐलान करते हुए देश की जनता के नाम अपना ऐतहािसकि भाषण दिया।

विनोबा के लिए 15 अगस्त, 1947 का दनि अन्य दनिों की भाँति ही था। उन्होंने अपने दैनकि कार्यक्रम में कोई फेरबदल नहीं किया। अन्य दनिों की भाँति ही वह इस दनि भी निर्धारति कार्यक्रम के अनुसार अपनी कार्यस्थली सुरगाँव पहुँचे। आजादी के उपलक्ष्य में शाम को उन्होंने सुरगाँव में एक प्रार्थना सभा की और देश को मलिी स्वतंत्रता के बारे में भाषण के नाम पर केवल एक वाक्य कहा, "जैसे हमने स्वतंत्रता के उपलक्ष्य में नया झंडा फहराया, उसी प्रकार हमें पुरानी व्यवस्थाओं को बदलकर नई व्यवस्थाएँ अपनानी चाहिए।"

30 जनवरी, 1948 का दनि भारतीय इतहिास में एक कलंकति दनि के रूप में जाना जाता है। इस दनि एक प्रार्थना सभा में महात्मा गांधी की हत्या कर दी गई। सारे देश में शोक और आक्रोश की लहर दौड़ गई। हर तरफ लोग या तो दुखी दिखाई दे रहे थे या आक्रोश से भरे हुए। विनोबा भावे ने अपनी आस्था के संबल महात्मा गांधी की हत्या पर प्रत्यक्ष में कोई प्रतक्रिया व्यक्त नहीं की। वे पूरी तरह शांत और विरक्त दिखाई दिए, लेकिन जब उन पर राजनेताओं और जनता की ओर से गांधीजी की हत्या पर अपनी प्रतक्रिया व्यक्त करने और देशवासयों को संबोधति करने के लिए बार-बार दबाव पड़ने लगा, तो उन्होंने संध्याकालीन प्रार्थना सभाओं में गांधीजी की हत्या के पीछे नहिति कारणों और देश को गांधीजी के योगदान तथा गांधी के साथ गुजारे क्षणों, उनसे प्राप्त मार्गदर्शन के बारे में कुछ-कुछ बोलना आरंभ कर दिया। पहली बार एक सभा में विनोबाजी ने गांधी की हत्या

करनेवाले गोडसे के बारे में बड़ी शांति के साथ अपने वचिार व्यक्त करते हुए कहा, "गोडसे ने यह गलत भम अपने दलि में पाल लिया कि गांधीजी हिंदू धर्म के शत्रु थे, पर गांधीजी ने तो अपने आचरण, व्यवहार और देश के प्रति की गई समर्पति सेवाओं से विश्व भर में भारतीयता और हिंदू धर्म को प्रतिष्ठा प्रदान की। गांधीजी व्यक्तगति जीवन में अत्यंत धार्मकि और परमात्मा में निष्ठा रखनेवाले कर्मयोगी थे। इसलिए हमें उनकी हत्या पर अधकि शोक नहीं करना चाहिए। उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता की शिक्षाओं को पूरी आस्था और विश्वास से अपने जीवन में उतार लिया था। वह मृत्यु से कभी भयभीत नहीं हुए। उन्होंने प्रार्थना के समय मृत्यु प्राप्त की।"

एक बार एक व्यक्ति ने गांधीजी के आदर्शों के प्रति समर्पति होने के कारण उनका मंदिर बनवाने की सोची। जब उसका यह सुझाव विनोबाजी के समक्ष रखा गया, तो उन्होंने तीखे शब्दों में आलोचना की। विनोबा गांधीजी को भगवान् के रूप में स्थापति करने के विरुद्ध थे। विनोबाजी का तर्क था कि गांधीजी की मूर्ति बनाकर उसे पूजने का अर्थ उनके शारीरकि रूप को उनके मूल्यों से अधकि महत्त्व देना था। विनोबा ने आग्रह किया कि लोग गांधीजी को उनके नैतकि मूल्यों तथा अहिंसा के सद्धिांत से जानें और उन पर स्वयं अमल करें। उनका मत था कि गांधीजी ने सभी धर्मों और जातयों के लोगों को बनिा किसी भेदभाव के समान रूप से सम्मान दिया और उनको दुखों से मुक्ति दलिाने के लिए आजीवन संघर्ष करते रहे। उनके इन्हीं सद्धिांतों को अपने आचरण में उतार लेना ही गांधीजी को हमारी सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

अगले वर्ष मार्च के महीने में विनोबाजी ने वर्धा आश्रम में उनके द्वारा संचालति रचनात्मक कार्यों में लगे कार्यकर्ताओं की एक बैठक बुलाई। वास्तव में यह बैठक गांधीजी की अध्यक्षता में 31 जनवरी, 1948 को होनी थी, परंतु दुर्भाग्यवश 30 जनवरी को उनकी हत्या कर दी गई। इस बैठक में डॉक्टर राजेंद्र प्रसाद, पं. जवाहरलाल नेहरू, मौलाना आजाद जैसे अनेक वरिष्ठ नेताओं ने भी भाग लिया। लोगों की नजरें इस बैठक व इसके परिणामों पर लगी थीं, क्योंकि सब विनोबा को अब गांधीजी का वारसि मान रहे थे। उन्हें लगता था कि बैठक में विनोबाजी को गांधीजी के वारसि के रूप में स्वीकार किया जाएगा।

बैठक में वक्ताओं ने अपने भाषणों में गांधीजी के बाद अगले मार्गदर्शक के रूप में दायत्वि सँभाल लेने के लिए विनोबाजी से प्रार्थना भी की, लेकिन विनोबाजी ने अपने वक्तव्य में इस बारे में कोई प्रतक्रिया व्यक्त न करते हुए 'सर्वोच्च समाज' के गठन का प्रस्ताव रखा, जसि सर्वसम्मति से मान लिया गया। इस प्रस्ताव के अनुसार निर्णय लिया गया कि उन व्यक्तयों का एक वशिष मंच बनाया जाएगा, जो महात्मा गांधी के मूल्यों व सद्धिांतों में विश्वास रखते थे।

शरणार्थी शविरिों में सेवा-स्वतंत्रता संग्राम के लंबे संघर्ष और बलदान के बाद भारत को आजादी तो मलिी, लेकिन जाते-जाते भी अंग्रेज अपनी कूटनीति का विषदंत गड़ाकर देश के दो टुकड़े कर गए। देश का वभिाजन हिंदुस्तान और पाकसि्तान के रूप में हो गया। वभिाजन के बाद कुछ समाज विरोधी तत्त्वों ने धार्मकि उन्माद फैलाकर हिंदू और

मुसलमानों के मन में नफरत भर दी। यह वह समय था जब एक ओर तो अपने-अपने स्वतंत्र देश में रहने की चाहत और दूसरी ओर बँटवारे के नियमों के अनुसार मुसलमिों को भारत से पाकसि्तान जाने और बदले में पाकसि्तान में रह रहे लाखों हिंदुओं को भारत आने के लिए ववशि किया गया। अपनी-अपनी मातृभूमि, घर-परविार और व्यवसाय छोड़कर लोगों को जब दूसरे स्थान पर जाना पड़ा तो एक तो भावनाओं के आहत होने के कारण और दूसरे कुछ कट्टरपंथयों द्वारा धार्मकि वद्विेष फैलाए जाने के कारण लोग आक्रोश से भर उठे। देखते-ही-देखते देश भर में दंगे-फसाद होने लगे। दोनों ही देशों को नई-नई आजादी मलिी थी। सुरक्षा की समुचति व्यवस्था न होने के कारण जनता को भारी मुसीबतों का सामना करना पड़ा। बड़ी संख्या में लोग बेघर हो गए और जान बचाकर सीमा पार आ गए।

भारत में पाकसि्तान से बड़ी संख्या में शरणार्थी आए थे। इन शरणार्थयों के साथ एक तो रास्ते में ही भारी खून खराबा हुआ था और जान बचाकर जो लोग भारत आ गए थे, उनकी दशा बहुत खराब थी। इनके पास न रहने को ठकिाना था, न खाने को रोटी। सरकार ने इन शरणार्थयों को देश के पश्चमिी प्रंतों, जैसे-पंजाब और दलि्ली में बनाए गए शरणार्थी कैंपों में रखे जाने की वशिेष व्यवस्था की थी। प्रधानमंत्री पं. नेहरू ने विनोबाजी से वनिती की कि वे शरणार्थी कैंपों का दौरा करें और पीड़ति शरणार्थयों को भावनात्मक सहानुभूति दें तथा उनके पुनर्वास के कार्य में सरकार की मदद करें। जनसेवा के इस कार्य के लिए विनोबा ने नेहरूजी का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। विनोबाजी ने अपने दायति्व को भली प्रकार नभिाने के लिए जनसेवा के लिए समर्पति अपने कार्यकर्ताओं का एक संगठन तैयार किया और जल्द ही वे अपने कार्यकर्ताओं के साथ दलि्ली पहुँच गए।

शरणार्थयों के शविरिों में सेवा करने के अपने उद्देश्य को विनोबा ने स्पष्ट करते हुए कहा, घशरणार्थयों की गुजर-बसर के लिए सहयोग जुटाना और पीड़तिों की मदद करने के प्रति मेरी पूरी सहानुभूति है, लेकिन यह मेरा मुख्य उद्देश्य नहीं। मेरा असली उद्देश्य वभिाजन के फलस्वरूप देश के वातावरण में जो घृणा और कटुता फैली है, उसे मटिाकर शांति व भाईचारे की मिठास लाना है।"

विनोबा ने दलि्ली और पंजाब के शरणार्थी कैंपों का दौरा किया। पाकसि्तान से आए लोगों की हालत देखकर उनका मन दुख से भर गया। लोग गरीबी और बदहाली से बुरी तरह पीड़ति थे, लेकिन अपनी इस पीड़ा से कहीं ज्यादा उनके दलि घृणा व बदले की भावना से भरे हुए थे। उनके साथ पाकसि्तान में जो बर्बरता की गई थी, उसका बदला लेने के लिए वे भारत को हिंदू राष्ट्र में बदलने की बातें कर रहे थे। इसके लिए उनका तर्क था कि पाकसि्तान को भी तो वहाँ के नेताओं ने धर्म के नाम पर मुसलमि राष्ट्र घोषति किया है, फिर भारत को हिंदू राष्ट्र क्यों घोषति नहीं किया जा रहा है?

विनोबा ने लोगों की घृणा को शांत करते हुए उनसे कहा, "वे भारत को हिंदू राष्ट्र बनाने का वचिार मन में न लाएँ। पाकसि्तान अपने देश में जो कुछ कह रहा है, वह उसके नजिी वचिार हैं। हमें किसी दूसरे के वचिारों से प्रभावति नहीं होना चाहिए, अपतिु अपनी

नीतियाँ अपनी परंपरा और वातावरण के अनुसार तय करनी चाहिए। भारत की विश्व भर में अपनी एक अलग छवि है। हमारा आदर्श हमेशा से धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र की स्थापना करना रहा है। परस्थितियाँ चाहे कतिनी भी वपिरीत क्यों न हों, आज भी धर्मनिरपेक्ष भारत ही हमारा लक्ष्य है। हम पहले मानव हैं, फिर हिंदू, मुसलमि या सिख।"

गुड़गाँव में उन्होंने मेवातयों को संबोधति करते हुए कहा, "भगवान् ने मानव मस्तिष्क को दो वशिष गुण दिए हैं-पहला याद रखने का और दूसरा भूलने की क्षमता। इसलिए मेरा आपसे अनुरोध है कि उन बातों को भूल जाइए, जो आपस में कटुता पैदा करती हैं। हमें अच्छी बातें याद रखनी चाहिए और बुरी यादें भुला देनी चाहिए। इस देश की पुरानी परंपरा यही रही है कि इसने दूसरों के वचिारों तथा धर्मों को सदा सम्मान दिया है। आज मुश्कलि की इस घड़ी में भी परीक्षा की इस कसौटी पर हमें खरा उतरना है और अपनी सदयों से चली आ रही परंपरा नभिानी है।"

मुसलमानों के डर को दूर करने के लिए विनोबाजी अजमेर गए और वहाँ एक सप्ताह ठहरे। इस दौरान विनोबाजी प्रतदिनि ख्वाजा साहब की दरगाह पर जाते थे। अजमेर में शांति की इस पहल के लिए देश भर की मुसलमि जनता ने विनोबा को हार्दकि सहयोग दिया तथा अजमेर की जनता ने विनोबाजी का भरपूर स्वागत किया। दरगाह के संरक्षक सदस्यों ने विनोबाजी को दरगाह के अंदर ही पूजा-पाठ करने तथा आरती करने की सुवधिा दे दी। अब विनोबा दरगाह शरीफ में अपनी दनिचर्या पूरी करने लगे।

अजमेर प्रवास के दौरान हुई सभाओं में विनोबा ने महसूस किया कि उनकी सभाओं में महलिाएँ नहीं होतीं, तो उन्होंने मुसलमि समुदाय से कहा, "आप रूढ़विादतिा त्याग दीजिए। इन सभाओं में और जीवन के दूसरे क्षेत्रों में महलिाओं का होना आवश्यक है। उन्हें भी परस्थितियों को समझने और अपना विकास करने के पूरे अवसर मलिने चाहिए।"

जनता भी विनोबाजी के वचिारों से भली-भाँति परचिति थी, अतः जहाँ भी जाति-पाँति, धर्म, संप्रदाय से संबंधति कोई भी ववािद होता, लोग विनोबा को आमंत्रति कर समस्या को सुलझाने का प्रयास करते थे। विनोबा को ऐसे ही एक ववािद के बीकानेर में होने की खबर मलिी। विनोबाजी अक्तूबर के महीने में बीकानेर गए। वहाँ कुछ दबंग सवर्णों ने अपने ही वर्ग के सवर्ण लोगों को मंदिर में पूजा करने से रोक दिया था। आरोप यह था कि इन सवर्ण लोगों ने छुआछूत को भुलाकर एक हरजिन बस्ती में आयोजति सफाई कार्यक्रम में भाग लिया था। दबंगों के विरोध में मंदिर में प्रवेश करने से रोके गए लोग वहीं मंदिर के बाहर भूख हड़ताल पर बैठ गए थे।

उन्होंने भूख हड़ताल पर बैठे लोगों से अपना अनशन छोड़ने की अपील की और कहा, "भूख हड़ताल करने की बजाय आप लोग संकल्प लें कि इस मंदिर में आप सब तब तक कदम नहीं रखेंगे, जब तक इसमें हरजिनों को प्रवेश की आज्ञा नहीं मलिती। जो मंदिर सबके लिए खुला न हो, वहाँ भगवान् नहीं हो सकता। ऐसा मंदिर एक मकान भर है, जसिमें पत्थर की मूर्ति रखी है। उसमें और कुछ भी हो, पर ईश्वर का वास नहीं होगा।"

जहाँ तक शरणार्थियों के पुनर्वास का प्रश्न था, उसमें विनोबाजी को कुछ निराशाएँ हाथ लगीं। कारण था सरकार और मंत्रियों का दोगलापन। वे सामने कुछ वादा करते और पीछे कुछ और करते। पंजाब में विनोबा से वादा किया गया था कि वहाँ पाकिस्तान पलायन करनेवाले मुसलमि जो जमीनें छोड़ गए थे, उसे पाकिस्तान से आए हरजिनों में वतिरति किया जाएगा। एक लाख से भी अधकि हरजिन शरणार्थी थे। मुसलमिों द्वारा छोड़ी गई जमीन ही उन्हें दी गई। सरकार बाकी जमीन के अस्तत्वि से ही मुकर गई। अफवाह यह थी कि मंत्रियों व नेताओं ने सारी जमीन अपने चहेतों में बाँट दी थी।

वर्ष के अंत में सेवाग्राम में विश्वयुद्ध विरोधी नेताओं की एक बैठक हुई। अस्वस्थता के कारण विनोबा इसमें भाग न ले सके। उनका संदेश पढ़कर सुनाया गया-घकेवल हिंसा के कार्यों में भाग न लेना ही अहिंसा नहीं है। इसकी असली अभव्यिक्ति तो रचनात्मक कार्यों द्वारा होती है। रचनात्मक कार्य, जो दूसरों की सहायता, उनकी सेवा व उन्हें ऊपर उठाने के लिए किए जाते हैं।

विनोबा ने युद्धों के संबंध में एक नया दृष्टकिोण उजागर किया-"मैं विश्व युद्धों से चिंतति नहीं होता, परंतु छोटी लड़ाइयाँ व झगड़े मुझे भयभीत करते हैं। कभी जब स्थितियाँ जटलि हो जाती हैं और उचति-अनुचित को सरलता से देख पाना असंभव हो जाता है, तब ईश्वर विश्वयुद्ध भेजता है, जो मानव मस्तिष्क को उन संकुचति सीमाओं से मुक्त करता है, जसिमें वह फँस गया था। विश्वयुद्ध मानव मन को हिंसा की निरर्थकता से परचिति करा देता है और उसे अहिंसा की ओर मोड़ता है। युद्ध से पस्त मानव शांति के लिए लालायति हो उठता है। शांति ही तो अहिंसा की स्थिति है। परंतु छोटी लड़ाइयों का अंत शांति की चाह के रूप में नहीं होता, यह बड़ी लड़ाइयों और अधकि हिंसा की भूख को जगा देती है। इस प्रकार छोटी लड़ाइयाँ व झगड़े अहिंसा के शत्रु हैं और अहिंसा को दूर धकेलतेहैं।"

उन्होंने एक नया 'कंचन-मुक्ति आंदोलन' शुरू कर दिया। कंचन-मुक्ति का अर्थ है-सोने से आजादी। वर्तमान सारी अर्थव्यवस्थाएँ सोने पर आधारति हैं। देश के स्वर्ण भंडार को आधार मानकर उसके बदले नोट व सक्कि जारी किए जाते हैं। विनोबा को यह व्यवस्था खलती थी। वह इसे शोषण और भष्टाचार की मुद्रा मानते थे। प्रयत्न यह किया गया कि आवश्यकता की सारी चीजें आश्रम में ही पैदा हों या बनाई जाएँ, न बाजार से कुछ खरीदने की दरकार होगी, न पैसों की आवश्यकता। फिर भी कुछ आवश्यकता पड़े तो 'माल के बदले माल' का फॉर्मूला अपनाया जा सकता था।

विनोबा तो बैंकिंग प्रणाली के भी आलोचक थे। वह कहते थे कि संस्थाएँ व कंपनियाँ अपने बैंक खातों में बड़ी रकमें जमा क्यों रखते हैं? यह पैसा उपयोग में क्यों नहीं है? क्यों यह पैसा रचनात्मक कार्यों के लिए ऋण के रूप में नहीं दिया जाता? या खुद संस्थाएँ योजनाएँ बनाकर जमा रकम को क्यों खर्च नहीं कर रहीं? पैसों का प्रयोग करने में खातेदार असफल क्यों हैं?

विनोबाजी का देश को मौलिक योगदानः भूदान एवं ग्रामदान आंदोलन

विनोबाजी द्वारा जनहति में चलाए गए भूदान आंदोलन की उपलब्धि भारतीय इतहिास के पन्नों में स्वर्णाक्षरों में दर्ज है। जसि प्रकार चरखे या स्वदेशी आंदोलन की चर्चा आते ही गांधीजी का चत्रि आँखों के आगे आ जाता है, ठीक उसी प्रकार भूदान आंदोलन का जक्रि आते ही विनोबाजी का व्यक्तत्वि सामने आ जाता है। वस्तुतः विनोबाजी ने अपने सपनों के स्वतंत्र भारत की जो परकल्पिना की थी, उसे उन्होंने भूदान आंदोलन के रूप में पूरा करने का भरसक प्रयास किया। यही कारण है कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद 'भूदान आंदोलन' भारतीय इतहिास का सर्वाधकि चर्चति आंदोलन रहा और इस आंदोलन से विनोबाजी के त्याग व सेवा की गूँज देश से लेकर वदिशों तक पहुँची।

भूदान आंदोलन की वैचारकि पृष्ठभूमि और आरंभ की कहानी बड़ी रोचक है। हुआ कुछ यूँ कि सन् 1950 में अंगुल नामक स्थान पर सर्वोदय का एक सम्मेलन आयोजति किया गया था। विनोबाजी उन दनिों कंचन-मुक्ति प्रयोग के नाम से चलाए जा रहे एक कार्यक्रम में व्यस्त थे। इसलिए अंगुल के सम्मेलन में भाग नहीं ले सके थे। विनोबा के बनिा यह सम्मेलन फीका-फीका रहा। आखिर सर्वोदय मंच की आत्मा और उसके पीछे की शक्ति तो विनोबाजी ही थे। कार्यक्रम को अपेक्षति सफलता न मलिने के कारण सर्वोदयी कार्यकर्ताओं में निराशा व्याप्त थी।

उन्हीं दनिों सर्वोदय का एक अन्य सम्मेलन हैदराबाद के पास शविराम पल्ली नामक गाँव में आयोजति किया जाना था। अंगुल सम्मेलन के परिणाम को देखते हुए शविराम पल्ली सम्मेलन के आयोजकों ने विनोबाजी से अपील की कि यदि वह इस बार भी सम्मेलन में भाग लेने नहीं आए, तो सम्मेलन ही रद्द कर दिया जाएगा; क्योंकि उनके बनिा सम्मेलन आयोजति किए जाने का अर्थ ही नहीं रहजाता।

विनोबाजी लोगों के वशिष आमंत्रण पर शविराम पल्ली के सम्मेलन में भाग लेने को राजी हो गए। लेकिन उन्होंने नश्चिय किया कि वे शविराम पल्ली तक पदयात्रा करते हुए जाएँगे। उनकी पदयात्रा का उद्देश्य भी स्पष्ट था कि रास्ते में वह लोगों से मलिंगे तथा उनकी समस्याएँ जानेंगे। फिर क्या था, विनोबाजी की पदयात्रा की तैयारियाँ होने लगीं। अनेक समर्पति सदस्य पदयात्रा के लिए तैयार हो गए। लगभग 500 कलिोमीटर की यह पदयात्रा 8 मार्च, 1951 को आरंभ हुई और 7 अप्रैल को सम्मेलन स्थल शविराम पल्ली में पहुँचकर संपन्न हुई।

विनोबाजी की यह दैनकि पदयात्रा बहुत नियमति और अनुशासति थी। विनोबा दनि के समय किसी भी गाँव में अपनी यात्रा रोक देते थे और फिर उस गाँव में घूमकर वहाँ के लोगों की दनिचर्या, उन्हें मलिने वाली सुवधिाएँ तथा उनकी परेशानयों को देखते। इस दौरान वे गाँव के लोगों से उनकी समस्याओं के बारे में बातें करते और उनकी शकियतें सुनते। उनकी समस्याओं का पूरा ब्योरा जान लेने के बाद उनके समाधान का प्रयास करते। शाम को गाँव में प्रार्थना सभा होती। प्रार्थना के बाद विनोबाजी गाँव की समस्याओं से लेकर देश की स्थिति-परस्थितियों पर वस्तिार से बोलते। हर गाँव में वे प्रेम, शांति तथा सहअस्तत्वि का संदेश देते तथा लोगों से आग्रह करते कि वे अपनी समस्याओं के लिए सरकार से सहयोग तो लें ही, साथ ही जनि समस्याओं को वे खुद सुलझा सकते हैं, उन्हें आपसी सहयोग तथा सम्मलिति सोच से सुलझाने की आदत डालें। हर सभा में वह कोई-न-कोई नई बात कहते, जसिसे उनका हर एक कार्यक्रम रोचक व उपयोगी बना रहता।

पदयात्रा के इन गाँव-गाँव के कार्यक्रमों के दौरान विनोबाजी के भाषणों से उनके कार्यकर्ताओं को भी नए ढंग से तथा देश की तात्कालकि स्थतियों के अनुरूप सोचने की दशिा मलती। स्वयं विनोबा भी अपने कार्यकताओं को स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद देश की बदली परस्थितियों के अनुरूप ग्राम-सुधार के लिए चलाए जा रहे आश्रम के कार्यक्रमों को भली प्रकार सफल बनाने के लिए नई दशिा देने का सुझाव देते। अनेक गाँवों की हालत देख लेने के बाद विनोबाजी ने अपने सदस्यों को एक पाँच सूत्री कार्यक्रम सुझाया। ये पाँच सूत्र थे-आंतरकि शुद्धि, ग्रामों की सफाई, शारीरकि श्रम के प्रति आदर, शांतसिना तथा सूतांजलि। जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है, सूतांजलि कार्यक्रम के अंतर्गत रचनात्मक कार्यों में जुटे कार्यकर्ताओं को प्रतदिनि अपने हाथ से सूत कातना था और कते सूत की एक नश्चिति मात्रा प्रमाण के तौर पर विनोबा को अर्पति करनी थी।

आखिर लंबे समय के बाद विनोबाजी शविराम पल्ली के नकिट आ पहुँचे। मात्र एक दनि की पदयात्रा शेष रह गई थी। पदयात्रा के दौरान गाँवों की जो स्थिति विनोबाजी ने देखी थी, उससे वह चिंतति दिखाई दे रहे थे। शविराम पल्ली के सम्मेलन में पहुँचने से पहले अचानक उन्होंने पदयात्रा का रुख तेलंगाना क्षेत्र की ओर मोड़ दिया। विनोबाजी को पता था कि तेलंगाना के लोग उन दनिों बहुत ही कठनि दौर से गुजर रहे थे। उनका पल-पल खौफ और आशंका में गुजरता था। वे लोग न दनि में चैन से रह पाते थे और न रात में ही सो पाते थे। दनि में लोगों को पुलसि परेशान करती थी और रात को साम्यवादी गुट के

समर्थक आकर बदले की कार्यवाही कर जाते। हिंसा और उत्पीड़न से लोगों की जान हर समय संकट में रहती थी। काम-धंधे चौपट हो जाने की वजह से पूरा क्षेत्र भूख और बदहाली में जी रहा था। ऐसे में सामाजकि विकास की तो बात ही कौन करे!

इन सब विषम परस्थितियों के साथ-साथ ही सैनकि कार्यवाही द्वारा हैदराबाद के नजिाम के कट्टर मुसलमि कार्यकर्ताओं ने तेलंगाना की जनता पर दमनचक्र चला रखा था। उस समय ये 'रजाकार' के नाम से जाने जाते थे। परिणामस्वरूप तेलंगाना में कानून और व्यवस्था छन्नि-भिन्न हो गई थी। यह हैदराबाद रियासत को भारत संघ में मलिाए जाने से कुछ समय पहले की बात है।

इसी बीच तेलंगाना में पूँजीवादयों के विरोध में साम्यवादी गुट अपनी पूरी ताकत से सक्रिय थे। अराजकता के इस दौर में उनकी गतविर्धियाँ और अधकि बढ़ गई थीं। साम्यवादयों का तेलंगाना के गरीब कसिानों में पहले ही काफी दबदबा था। अब परस्थितियों का लाभ उठाते हुए ये साम्यवादी गुट क्षेत्र के कसिानों को बड़े जमींदारों के विरुद्ध क्रांति करने के लिए उकसाने में जुट गए थे। साम्यवादयों का खौफ इतना बढ़ा हुआ था कि क्षेत्र के बड़े जमींदार जमीन-जागीर छोड़कर भाग गए थे। क्षेत्र के कसिानों ने इन जमीनों को जोतना-बोना शुरू कर दिया था। भारतीय शासन व्यवस्था स्थापति हो जाने के बाद क्षेत्र में शांति के दनि लौट आए तो भगोड़े जमीदार भी लौट आए और अपनी जागीरों पर पुनः काबजि होने के लिए लोगों को परेशान करने लगे। वे कसिानों से अपनी जमीनें वापस माँगने लगे। जमींदारों व गरीब कसिानों में संघर्ष की नौबत आ गई। प्रशासन ने अपनी पुरानी आदत के अनुसार धनी जमींदारों का पक्ष लिया और कसिानों को परेशान करने लगा। इससे समूचे तेलंगाना क्षेत्र में स्थिति वस्फिोटक होने लगी। आए दनि कसिानों और जमीदारों के बीच हिंसा और फौजदारी की नौबत आने लगी।

विनोबा ने इन परस्थितियों के बारे में काफी सुना था। अब क्योंकि वे तेलंगाना के नकटि आ हुए थे। इसलिए स्वयं स्थतियों का निरीक्षण कर क्षेत्र में शांति स्थापति करना चाहते थे। इसी उद्देश्य से विनोबाजी ने तेलंगाना की पदयात्रा करने का नश्चिय कर लिया। तेलंगाना की परस्थितियों का भली प्रकार निरीक्षण करने के बाद विनोबा शविराम पल्ली सम्मेलन में भाग लेने पहुँच गए। शविराम पल्ली सम्मेलन 15 अप्रैल, 1951 तक चला। विनोबाजी के मन में तेलंगाना की समस्या गूँज रही थी। अतः सम्मेलन संपन्न होते ही विनोबाजी शविराम पल्ली से सीधे हैदराबाद आ पहुँचे। इन दनिों तेलगांना संघर्ष में गिरफ्तार किए गए साम्यवादी हैदराबाद की जेल में थे। विनोबा ने जेल में उनसे लगभग दो घंटे तक बातचीत की। वार्त्तालाप के दौरान विनोबा ने इन साम्यवादयों को हिंसा का रास्ता छोड़कर अपना हक पाने की बात अहिंसक आंदोलन द्वारा करने का सुझाव दिया। विनोबा स्वयं साम्यवाद के प्रवर्तक कार्ल मार्क्स का एक अच्छे वचिारक के रूप में आदर करते थे। मार्क्स की तरह ही विनोबा भी तो समाज में समानता लाना चाहते थे, अंतर यही था कि मार्क्सवादी सशत्र क्रांति के पक्ष में थे और विनोबा गांधीवादी होने के कारण अहिंसावादी तरीके से सामाजकि बदलाव के पक्षधर थे। अंततः विनोबाजी साम्यवादयों को अहिंसक

क्रांति का मार्ग अपनाकर सामाजकि परविर्तन लाने के लिए सहमत करने में सफल हो गए।

विनोबाजी ने साम्यवादयों से वार्त्तालाप के बाद तेलंगाना समुदाय से बातचीत की। लंबे समय तक चली बातचीत के बाद विनोबा तेलंगाना समुदाय के सदस्यों को इस बात पर सहमत करने में भी सफल हो गए कि यदि उन्हें केवल 80 एकड़ भूमि मलि जाए, तो वे उसपर खेती-बाड़ी करके अपनी गुजर-बसर कर सकते हैं। विनोबा ने उन्हें सुझाव दिया कि इस आशय का नविदन-पत्र सरकार को भेज दें। उन्होंने आश्वासन दिया कि सरकार उनके नविदन पर अवश्य सहृदयता से वचिार करेगी। विनोबा के इस सुझाव से बनिा पढ़े-लिखे और आत्मविश्वास से हीन बेचारे कसिानों और हरजिनों के चेहरे उतर गए। वनिबा ने तुंत महसूस किया कि उनका सुझाव इस निरीह अशिक्षित समुदाय के लिए वास्तव में व्यावहारकि नहीं है। दूसरे जसि प्रकार सरकारी मशीनरी और नौकरशाही काम करती है और जसि प्रकार का मंस्त्रियों का व्यवहार रहता है, उसे देखते हुए तो इन असहाय लोगों के नविदन-पत्र का उत्तर आने में ही इनका जीवन गुजर जाएगा। यह भी हो सकता है कि इनकी माँग पर अमल होने में तो शायद और भी ज्यादा समय लग जाए।

विनोबाजी को समस्या को सुलझाने के लिए अचानक दूसरा रास्ता सूझा। उन्होंने वहाँ उपस्थति लोगों के समक्ष अपनी ओर से प्रस्ताव रखा-"क्या इस कार्य के लिए आप लोगों में से कोई 80 एकड़ भूमि दे सकता है?"

विनोबाजी को अपने प्रस्ताव का सकारात्मक उत्तर मलिा। तुंत ही क्षेत्र के एक जमींदार सी.आर. रेड्डी ने सहमति जताते हुए कहा, "मैं इन हरजिनों में वतिरण के लिए 100 एकड़ भूमि दूँगा। मेरे पिता यह भूमि वैसे भी जरूरतमंदों को देने के इच्छुक थे।"

शाम की प्रार्थना सभा में श्री रेड्डी ने विनोबाजी के समक्ष भूमदिान की लिखति पुष्टि कर दी। विनोबाजी के लिए यह घटना एक चमत्कार की तरह थी। साथ ही इससे विनोबा को भविष्य के लिए एक प्रेरणा मलिी। इस घटना ने विनोबा के आत्मविश्वास को बड़ा बल दिया और साथ ही उनके प्रयोगशील मस्तिष्क को सोचने का एक और अवसर दे दिया। उनके मन-मस्तिष्क में बार-बार यह वचिार कौंधने लगा कि क्या भूमदिान के ऐसे ही कार्यक्रम को देशव्यापी आंदोलन के रूप में अपनाकर भूमहिीन कसिानों और हरजिनों की समस्या सुलझाई जा सकती है? और यही वचिार वह बीज था, जसिने विनोबा के भावी 'भूदान आंदोलन' को वटवृक्ष के रूप में वकसिति किया।

भूदान आंदोलन की इस पहली और वशिष सफलता से विनोबा का मन उत्साह और आनंद से भर उठा। अपनी इसी प्रसन्नता पर टप्पिणी करते हुए विनोबा ने कहा, घनए वचिार मात्र मानव मस्तिष्क में ही जन्म नहीं लेते। वास्तवकिता तो यह है कि इन नए वचिारों के बीज वातावरण में पहले से ही पलते रहते हैं। जब अनुकूल अवसर आता है, अर्थात् घटनाओं, दुर्घटनाओं में या फिर वचिारोत्तेजक वार्त्तालापों में जब किसी वचिार की अस्तति्व में आने की आवश्यकता बन जाती है, तो उस वचिार का निर्माण होने लगता है। अर्थात् हम यूँ कह सकते हैं कि वैचारकि बीजों के अंकुरति होने के लिए अनुकूल अवस्थाएँ

वातावरण में निरंतर तैयार होती रहती हैं। जैसे प्रकृति बच्चे को भूख देती है, तो माँ के स्तनों में दूध भी पैदा करती है और इसके साथ ही माता के मस्तिष्क में बच्चे को दूध पलिाने की चाह भी भर देती है, जसिसे बच्चे की भूख की आवश्यकता पूरी हो सके।"

इस प्रकार उसी रात भूदान आंदोलन को चलाकर गरीब और भूमहीन लोगों को संबल दलिाने का पूरा नश्चिय कर लेने के बाद विनोबा सुख व शांति की नींदसोए।

दूसरे दनि जगने के बाद दनिचर्िया शुरू करने से लेकर शाम तक विनोबा ने अपनी भूदान प्रेरणा को साकार रूप दिया और उसी दनि संध्या की अपनी प्रार्थना सभा में उपस्थति लोगों से भूमि का दान माँगना आरंभ कर दिया। विनोबा की इस पहल के परिणाम बहुत ही उत्साहजनक रहे। इससे उनका मन आशा और उत्साह से भर उठा। फिर तो हर दनि की शाम की प्रार्थना सभा में विनोबाजी ने भूदान माँगने के कार्यक्रम को अपनी प्रार्थना सभा का अंग बना लिया। विनोबाजी का यह भूदान आंदोलन इतना सफल हुआ कि महीने के अंत तक जब उनकी तेलंगाना पदयात्रा समाप्त हुई, तो उन्हें भूदान के रूप में 12,000 एकड़ से भी अधकि भूमि प्राप्त हो चुकी थी। विनोबाजी की यात्रा का अगला पड़ाव पनवार लौटना था, इसलिए उन्होंने तुंत एक वशिष समिति का गठन किया और भूदान में माँगी गई भूमि को गरीबों और भूमहीनों में बाँटने का दायत्वि इस समिति को सौंपकर वे तेलंगाना से पवनार आश्रम लौट आए।

पनवार आश्रम में लौट आने के बाद हालाँकि विनोबा अपनी पुरानी दनिचर्िया में व्यस्त होने लगे, लेकिन तेलंगाना में भूदान के उनके अनुभव रह-रहकर उनके दमिाग में गूँज रहे थे। कुछ ही दनिों की सोच के बाद विनोबाजी की जनहति की यह योजना अचानक साकार रूप लेने लगी। हुआ यूँ कि एक दनि योजना आयोग के एक सदस्य आर.के. पाटलि देश की अगली पंचवर्षीय योजना के प्रारूप पर वचिार करने के लिए विनोबा के पास पवनार आश्रम में आए। विनोबा ने प्रारूप देखा तो उन्हें यह जानकर कष्ट हुआ कि पंचवर्षीय योजना में गरीबों और मजदूर कसिानों के लिए कोई उत्साहवर्धक योजना नहीं थी। इसका झुकाव पूरी तरह भारी कारखानों, बड़े नगमिों और वशिाल बाँधों की ओर था। विनोबाजी ने योजना अधकिारी से साफ कह दिया कि उनकी दृष्टि में इस योजना में जहाँ एक ओर देश के कामगारों के हतिों की उपेक्षा की गई है, वहीं दूसरी ओर भूमि के बँटवारे की कोई व्यवस्था नही की है।

आंदोलन का पहला चरण तेलंगाना था, जहाँ भूदान वचिार का जन्म हुआ और इसके द्वारा वहाँ की वस्फिोटक स्थिति दूर कर शांति स्थापति की थी। दूसरा चरण विनोबा की वर्धा से दल्लिी तक की पदयात्रा थी, जसिमें भूदान आंदोलन के बारे में देश को जानकारी मलिी और सरकार का ध्यान आकर्षति हुआ। आंदोलन के लिए अनुकूल वातावरण का निर्माण हुआ। तीसरा चरण विनोबा का उत्तर प्रदेश का दौरा था, जहाँ आंदोलन ने जन कार्यक्रम का रूप ले लिया और गति पकड़ी। बहिार भूदान आंदोलन का चौथा चरण था। यहाँ लोगों का सहयोग बहुत ही अच्छा मलिा। उत्साह उत्तर प्रदेश में भी काफी अच्छा था। बहिार में वातावरण इतना अनुकूल था कि विनोबा और उनके कार्यकर्ताओं ने बहिार में भूदान भूमि

का लक्ष्य कुल खेती योग्य भूमि का छठा भाग रखा, जो 50 लाख एकड़ के बराबर होता था। यह लक्ष्य बहुत ही आशावादी था। बाद में इसे घटाकर 32 लाख एकड़ कर दिया गया। विनोबा बहिार में 27 महीने रहे। हर जलि की उन्होंने दो से तीन बार पदयात्रा की और 22 लाख एकड़ भूमि प्राप्त करने में सफल रहे।

दसिंबर, 1954 में विनोबा मलेरिया के प्रकोप से गंभीर रूप से बीमार पड़े। अपनी आदत के अनुसार उन्होंने दवा लेने से इनकार कर दिया। वह प्राकृतकि चकिति्सा के पक्षधर थे। हालत बगिड़ने लगी। तब राजेंद्र प्रसाद तथा जवाहरलाल नेहरू भी चिंतति हुए। उनके आग्रह पर बहिार के मुख्यमंत्री श्रीकृष्ण सनि्हा विनोबा से मलि। उन्होंने आँखों में आँसू भरकर हाथ जोड़कर वनिती की-"बाबा! आपकी बीमारी के कारण हर व्यक्ति चिंतति व दुखी है। आप दवा लीजिए। सारे देश की आपसे यह वनिती है।"

अब विनोबा दवा लेने से कैसे इनकार करते? क्योंकि वह दवा न लें, तो सभी दुखी होते। दूसरों को दुख पहुँचाना भी तो हिंसा होगी। यह बात एक अहिंसा का पुजारी कैसे कर सकता था? उन्होंने दवा ली। दवा ने जादू का-सा् असर दिखाया।

इस दौरान एक बहुत अप्रिय घटना भी घटी। यह वैद्यनाथधाम नामक स्थान पर हुई। वहाँ एक प्रसदि्ध मंदिर था। संत विनोबा भावे का आगमन सुनकर पुजारी ने तुंत विनोबा को मंदिर आने का नमिंत्रण दिया। जब उसे बताया गया कि विनोबा उन मंदिरों में नहीं जाते, जहाँ हरजिनों को प्रवेश करने की आज्ञा नहीं होती, तो पुजारी ने कहा कि हरजिन भी मंदिर में आ सकते हैं।

विनोबा दल-बल सहति मंदिर पहुँचे। उनके साथ हरजिन भी थे, पर वहाँ नजारा कुछ बदला हुआ था। वहाँ रूढ़विादी पंडों का एक दल आक्रामक मुद्रा में मौजूद था। विनोबा को देखते ही वे उनपर झपटे। विनोबा के साथ गरम कार्यकर्ताओं ने उन्हें बचाने की कोशशि की, परंतु उन्हें कान के पास चोट लग ही गई।

विनोबा ने दूसरे दनि वक्तव्य जारी किया-घजो गुंडागर्दी मंदिर के सामने हुई, वह अज्ञान का एक परिणाम था। किसी को इसके लिए सजा न दी जाए। यह विज्ञान का युग है। आस्था को भी तर्क की कसौटी पर कसना होगा।"

बहिार के बाद वे बंगाल आए। वहाँ कोई खास भूमि नहीं मलिी। हाँ, उन्होंने नेताओं, बुद्धजीवियों व वदि्वानों से मुलाकातें कीं। वे उनसे मलिने आए। बंगाल का विनोबा बहुत सम्मान करते थे। यहीं तो रामकृष्ण परमहंस, रवींद्रनाथ टैगोर, स्वामी ववकािनंद तथा चैतन्य महाप्रभु जैसी अनेक वभूितियाँ पैदा हुई थीं। उस समय बंगाल में क्रांतकिारी दलों का जोर था। विनोबा ने प्रबुद्ध वर्ग से युवाओं को हिंसा के रास्ते से हटाने के लिए प्रयत्न करने का आग्रह किया।

जब विनोबा ने उड़ीसा में प्रवेश किया तो भूदान आंदोलन बहुआयामी बन चुका था। इसमें कई नए कार्यक्रम जुड़ गए थे। भूदान में ग्रामदान व धनदान तो था ही, अब संपत्ति दान व

श्रमदान भी जुड़ गया था। बुद्धिदान की संभावना थी। कुछ लोग तो तहसील दान व जलिदान की भी माँग कर रहे थे।

जनवरी, 1955 में अवड़ी में कांग्रेस का सम्मेलन हो रहा था। विनोबा भी आमंत्रति थे, पर वे गए नहीं। वह भूदान कार्यक्रम को बीच में छोड़कर किसी दूसरे कार्य में अपना ध्यान नहीं बँटाना चाहते थे। उन्होंने नेहरूजी को एक पत्र लिखा। उसमें संदेश था-

घकृपया प्रतनिधियों से कहिए कि एक आदमी इधर-उधर मारा-मारा भटक रहा है, इस आशा में कि कांग्रेस जन उसकी सहायता करेंगे, उस लक्ष्य की प्राप्ति में, जो उसका ध्येय है।"

संदेश पढ़कर नेहरूजी इतने भावुक हो उठे कि उन्होंने विनोबा का पत्र सबको दिखाया और पढ़कर सुनाया। कांग्रेस कमेटी ने तुंत एक प्रस्ताव पास किया, जसिमें विनोबा के भूदान आंदोलन की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई थी और सारे कांगेसजनों से अपील की गई कि वे यथासंभव विनोबाजी के भूदान कार्य में सहयोग करें।

भूदान आंदोलन के बारे में देश में कुछ विरोधी स्वर भी थे। विनोबा के आलोचक भी थे। कुछ लोग बोले, "विनोबा बड़े भू-पतयों का दलाल है।"

"सच्चाई यह है कि मैं निर्धनों और भूमहीनों का दलाल हूँ। मैं उन्हीं के बीच रहता हूँ, उन जैसा ही जीवन व्यतीत करता हूं। मैं बड़े भूपतयों का दलाल भी बनूँगा, यदि वे मुझे अपनी भूमि दान में दे दें।" विनोबा का उत्तर था।

कुछ ने यह प्रश्न भी किया-"तो क्या आप यह समझते हैं कि भूदान द्वारा आप भूमि की सारी समस्याएँ हल कर लेंगे?"

विनोबा ने उत्तर दिया-"सुनिए महोदय! भगवान् राम, कृष्ण, बुद्ध, पैगंबर मोहम्मद व ईसा मसीह भी विश्व की सारी समस्याएँ हल नहीं कर सके, तो मैं क्या चीज हूँ? विश्व की समस्याएँ तो विश्व ही हल कर सकता है। मैं तो मात्र भूमहीन कसिानों की समस्या अपनी सोच में आए एक उपाय से हल करने का प्रयास कर रहा हूँ।"

एक दनि किसी ने सुझाव दिया कि उन्हें सक्रिय राजनीति में आना चाहिए। इस प्रकार वह अपने कार्यक्रमों व आंदोलनों को शक्ति दे सकेंगे और सरकार पर राजनीतकि दबाव बनाकर कानूनों में अनुकूल संशोधन करा सकते हैं तथा अपने कार्यक्रमों को सरकारी कार्यक्रम बनाकर लागू करवा सकते हैं।

विनोबा ने टप्पिणी की-"देश की राजनीति की बैलगाड़ी में पहले ही दो बैल जुते हैं, सत्ताधरी पार्टी और वपक्षि। तीसरे बैल के लिए गुंजाइश ही कहाँ है? इसलिए मैं बैलगाड़ी का संतुलन बगिाड़ने की बजाय रास्ता बनाने में लगा हूँ, ताकि बैलगाड़ी उसपर ठीक से चल सके।"

विनोबा ने एक सुझाव दिया कि देश की सारी पार्टियाँ मलिकर एक हे पार्टी बना लें और

संयुक्त जोर लगाकर देश को आगे ले जाएँ। इकट्ठे रहकर एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करें। आपस में समझौते की जमीन तैयार करें।

सन् 1954 में सर्वोदय कार्यकर्ताओं का एक सम्मेलन बौद्ध गया में आयोजति किया गया था, जसिमें नेहरूजी व उपराष्ट्रपति डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने भी भाग लिया था। इस सम्मेलन में प्रसद्धि समाजवादी व गांधीवादी नेता जयप्रकाश नारायण ने अपना सारा जीवन गांधीजी के आदर्शों के लिए काम करने के संकल्प को समर्पति किया व दूसरों से भी ऐसा ही करने की अपील की।

विनोबा जब पुरी पहुँचे तो वहाँ के प्रसद्धि जगन्नाथ मंदिर के दर्शनों के लिए गए। उन्हें भीतर जाने की आज्ञा नहीं दी गई, क्योंकि उनके साथ उनकी एक फ्रांसीसी अनुयायी भी थी। भूदान आंदोलन ने विनोबा को देश-वदिश में विख्यात कर दिया था। उनसे मलिने व प्रेरणा ग्रहण करने बहुत से वदिशी आने लगे थे।

उस समय के अमेरकिी राजदूत चेस्टर बोडल्स ने अपनी पुस्तकों में कई जगह अपने भारत के संस्मरणों में विनोबा का जक्रि किया है। एक स्थान पर वह लिखते हैं-घभारत चमत्कारों का देश है। ये चमत्कार भन्नि स्थतियों में, भन्नि रूपें में घटते हैं। जब गांधीजी मंच पर आए, तो लोगों को उनमें भगवान् का अवतार नजर आने लगा था। हालाँकि गांधीजी ने अपने अवतार होने का कड़ा प्रतविाद किया। अब जबकि फिर भारतीय जन निराशाओं और असफलताओं से टूटे मनोबल के दौर से गुजर रहे थे, उन्हें महात्मा गांधी का यह दुर्बल शरीरवाला अनुयायी विनोबा चमत्कार के रूप में मलिा है, जो जनता की समस्याओं के समाधान के लिए सत्य और अहिंसा का प्रचार कर रहा है।"

विनोबाजी को योजना निर्माण में गाँवों और गरीबों की उपेक्षा किए जाने तथा ग्रामोद्योगों की जड़ें कमजोर किए जाने से कष्ट हुआ। विनोबा ने देश के सर्वांगीण विकास के लिए नतिांत देशी तरीके अपनाने और ग्राम उद्योगों को प्रमुखता देने की राय भी दी और साथ ही ऐसा करने की सरकार से माँग भी की। विनोबा ने इसके साथ ही स्वदेशी तथा नैतकि मूल्यों पर आधारति मूल शिक्षा की आवश्यकता को योजना में नकारे जाने की कड़ी आलोचना की तथा गोहत्या पर प्रतबिंध लगाने के संबंध में ठोस कदम उठाना तो दूर, उसका जक्रि तक न किए जाने पर भी कड़ा ऐतराज जताया। विनोबाजी ने अपने समीक्षात्मक सुझावों से योजना अधकिारी को अवगत कराते हुए उनपर अमल किए जाने की सरकार से स्पष्ट माँग भी की।

पवनार से लौटने पर श्री पाटलि ने विनोबा भावे की आपत्तियाँ प्रधानमंत्री नेहरूजी को बताइऔ। नेहरूजी ने विनोबा भावे को आपत्तयों के संबंध में स्वयं उनसे तथा योजना आयोग के दूसरे सदस्यों के साथ वचिार-वमिर्श के लिए दल्लिी पधारने का नमिंत्रण दिया।

विनोबाजी ने प्रधानमंत्री का नमिंत्रण स्वीकार कर लिया, लेकिन उन्होंने पदयात्रा करते हुए दल्लिी पहुँचने का निर्णय किया। विनोबाजी चाहते थे कि पदयात्रा से एक ओर तो

गाँवों की स्थतियों को देखने का अवसर प्राप्त होगा, साथ ही वे अपने भूदान के वचिार को दोबारा से साकार करना चाहते थे। वे वर्धा से 12 सतिंबर को दलि्ली के लिए पदयात्रा करते हुए रवाना हुए और रास्ते में आने वाले गाँवों में जहाँ भी उनका मन हुआ, रुक-रुककर भूदान आंदोलन को जीवंत करते हुए आगे बढ़ते गए। शाम को जसि गाँव में भी विनोबाजी ठहरते, नियमति रूप से साँझ की प्रार्थना-सभा का आयोजन किया जाता और तेलंगाना की ही तर्ज पर देश की तात्कालकि परस्थितियों को सामने रखते हुए विनोबाजी गाँव के समर्थ लोगों और जमींदारों से भूदान करके अपने भाइयों की मदद करने का अनुरोध करते। यह विनोबाजी के व्यक्तत्वि का ही चमत्कार था कि उन्हें वर्धा से लेकर दलि्ली तक की यात्रा के दौरान रास्ते में प्रतदिनि 300 एकड़ की औसत से भूमि भूदान में मलिी। विनोबाजी वर्धा से पदयात्रा करते हुए सागर, झाँसी, आगरा व मथुरा के गाँवों का हाल जानते हुए लगभग दो महीने में दलि्ली पहुँचे।

बहरहाल, वर्धा से दलि्ली तक की पदयात्रा में विनोबाजी ने देशवासयों से जो प्यार और सम्मान पाया, उससे उनके उत्साह, विश्वास और मनोबल को आशाजनक बल मलिा। विनोबाजी ने देशवासयों का आह्वान किया कि सन् 1857 के स्वतंत्रता संग्राम को सौ वर्ष पूरे होने जा रहे हैं, इस पावन वर्ष की पुण्य स्मृति के अवसर पर वे भूदान के रूप में 50 लाख एकड़ भूमि देश के जरूरतमंद लोगों को भेंट देना चाहते हैं। विनोबाजी की इस माँग को देश की जनता ने पूरा सम्मान दिया और देश भर में भूदान आंदोलन चल पड़ा। उत्तर प्रदेश के सर्वोदय कार्यकर्ताओं ने उनका मथुरा में जोरदार स्वागत किया। उन्होंने एक वर्ष के भीतर 5 लाख एकड़ भूमि विनोबा के भूदान के लिए जुटाने का संकल्प लिया।

दलि्ली में प्रधानमंत्री तथा योजना आयोग के सदस्यों से बातचीत करने के बाद विनोबा फिर पदयात्रा पर नकलि व पुनः उत्तर प्रदेश में प्रवेश किया। अप्रैल, 1952 तक उत्तर प्रदेश विनोबा को भूदान में एक लाख एकड़ भूमि दे चुका था। बनारस के नकटि शवपिुरी में सर्वोदय कार्यकर्ताओं का एक सम्मेलन हुआ, जसिमें उनका उत्साह देखते ही बनता था। आशाओं की सीमा ही नहीं थी। कार्यकर्ताओं ने अगले दो वर्षों में सारे देश में 25 लाख एकड़ भूमि भूदान में प्राप्त करने की शपथ ली।

विनोबा की पदयात्रा जारी रही। अब उन्होंने अपने भूदान में कुछ नए आयाम जोड़ने करने शुरू किए। कानपुर में उन्होंने धनी लोगों से धनदान की माँग की, ताकि जनि लोगों को भूमि दी जा रही थी, उन्हें खेती के औजार और बीज खरीदने में भी सहायता दी जा सके। भूदान में ग्रामदान भी जुड़ गया। ग्रामदान के अंतर्गत पूरा गाँव अपनी खेती योग्य भूमि भूदान में सौंपता था, फिर सर्वोदय कार्यकर्ता उस भूमि को सारे ग्राम परविारों में बराबर बाँट देते थे। एक प्रकार से यह सर्वोदय साम्यवाद जैसा था। हमीरपुर जलि में ग्रामदान में विनोबा को पहला ग्राम मंगरोथमलिा।

अब विनोबा ने बहिार में कदम रखा। अब तक सारे देश में भूदान में चार लाख एकड़ जमीन प्राप्त हो चुकी थी।

विनोबा का ग्रामदान अभियान

विनोबाजी की भूदान योजना पूरी सफलता से साकार हो उठी थी। देश के हजारों-हजार गरीब मजदूरों और कमजोर तबके के भूमहीन लोगों को विनोबाजी द्वारा अर्जति भूमि जब दान में मली, तो उनके परविारों को दो जून की रोटी का सहारा मलिा और उनकी आर्थकि स्थिति में आश्चर्यजनक सुधार हुआ। जनता ही नहीं, केंद्र और प्रदेश की सरकारें भी एक अकेले व्यक्ति की इस चमत्कारपूर्ण उपलब्धि से आश्चर्यचकति हो गइऔ। विनोबाजी ने अपने अगले प्रयोग के रूप में अब भूदान के साथ-साथ समूचे गाँवों के दान की योजना सोची और उसकी एक रूपरेखा बनाकर जल्द ही उसे लागू कर दिया।

विनोबाजी की ओर से ग्रामदान की इस योजना का आह्वान होते ही बहुत जल्द ही इसके सकारात्मक परिणाम सामने आने लगे। इस योजना को सबसे पहले साकार करनेवाले गाँव के रूप में उत्तर प्रदेश के मंगरोठ गाँव का नाम सामने आया। मंगरोठ गाँव के बड़े जमींदार श्री शत्रुघ्न सिंह ने विनोबाजी के आह्वान का स्वागत करते हुए अपने गाँव को दान में देने के लिए उनके पास प्रस्ताव भेजा। शत्रुघ्न सिंह एक जाने-माने स्वतंत्रता सेनानी थे और गांधीजी तथा विनोबाजी का बहुत आदर करते थे। प्रस्ताव प्राप्त होते ही विनोबाजी ने गाँव के प्रतनिधिमिंडल से बात की और उनके सहयोग की सराहना करते हुए ग्राम को दान के रूप में स्वीकार कर लिया। इस प्रकार विनोबाजी को ग्रामदान के इस महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम में मंगरोठ पहले गाँव के रूप में दान में मलिा। विनोबाजी ग्रामदान की योजना के अनुसार गाँव की जमीन दान में ले लेने के बाद सर्वोदयी कार्यकर्ताओं द्वारा उसे दोबारा गाँव के ही सभी दानयों में बराबर-बराबर हस्सिों में बाँट दिया गया। इस प्रकार कम जमीनवाले कसिानों के पास गाँव के अन्य कसिानों के समान ही जमीन हो गई। संपत्ति की समानता के इस कार्यक्रम ने गाँव में सद्भाव और भाईचारे की एक नई परंपरा का श्रीगणेश किया, जो गाँव के साथ-साथ देश के लिए भी एक स्वस्थ उदाहरण बन गई। इस गाँव में केवल दो परविार ही ऐसे थे, जो ग्रामदान की इस योजना में सम्मलिति नहीं हुए।

विनोबाजी ने ग्रामदान की योजना को कुछ इस प्रकार तैयार किया था कि दान में लिये जानेवाले गाँव की अधकिांश जनसंख्या सहमत हो, तब ही गाँव को दान में लिया जाए। योजना के अनुसार, सर्वोदय कार्यकर्ता उसी गाँव को ग्रामदान में स्वीकार करते थे, जहाँ कम-से-कम 80 प्रतशति परविार योजना को स्वीकार करने के लिए सहमत हों अथवा दान में लिये जानेवाले गाँव की कुल भूमि का कम-से-कम 50 प्रतशति भाग ग्रामदान के रूप में दिया जाए।

भूदान की तरह ही विनोबाजी के ग्रामदान की सफलता की खबरें हवा में सुंध की तरह तेजी से देश भर में फैलने लगीं और विनोबाजी का ग्रामदान आंदोलन प्रदेशों की सीमाओं को तोड़कर एक से दूसरे प्रदेश में तेजी से फैलने लगा। जल्दी ही ग्रामदान का आंदोलन उड़ीसा प्रसारति हुआ और दूसरे ग्रामदान के रूप में विनोबाजी को उड़ीसा के ग्रामपुर नाम के गाँव से प्रस्ताव मलिा। कुछ ही समय बाद विनोबाजी को तीसरे गाँव से ग्रामदान का प्रस्ताव भी मलि गया। इसके बाद तो ग्रामदान के आंदोलन में अभूतपूर्व रूप से तेजी आई। जनता में ग्रामदान के प्रति ऐसी रुचि जागी कि विनोबाजी के पास आए दनि ग्रामदान के प्रस्ताव आने लगे और सर्वोदयी कार्यकर्ता योजना के अनुरूप गाँवों में जमीन का बँटवारा करने लगे। यह आंदोलन इतना सफल रहा कि जब सन् 1955 के गणतंत्र दवसि के अवसर पर विनोबा ने एक समारोह में भाग लेने के लिए उड़ीसा में प्रवेश किया, तो उस समय तक उनके कार्यकर्ताओं को 93 गाँव ग्रामदान में मलि चुके थे।

कार्यक्रम की सफलता और उड़ीसा के लोगों के अनुरोध पर विनोबाजी को उड़ीसा में ठहरना पड़ा। प्रदेश की जनता विनोबाजी से इतनी अधकि प्रभावति थी कि विनोबाजी उड़ीसा में लगभग 8 महीने रहे और इस अवधि में उन्होंने जनता के अनुरोध पर प्रदेश के 719 गाँवों को ग्रामदान के रूप में प्राप्त किया तथा सर्वोदयी कार्यकर्ताओं ने इन गाँवों की जमीन को योजना के अनुसार लोगों में वभिाजति किया।

दूसरे राज्यों में ग्रामदान का यह आंदोलन प्रायः कम ही चल सका। विनोबाजी की उम्र बढ़ती जा रही थी। व्यस्त दनिचर्िया, अल्पाहार और लगातार परश्रिम के कारण उनका शरीर भी शिथलि रहने लगा था। उसपर भी जब लगातार पदयात्राएँ जारी रहीं तो विनोबा का स्वास्थ्य खराब रहने लगा था। मति्र जब उन्हें रोकने की कोशशि करते तो वे उन्हें समझाते हुए कहते, घमैंने स्वयं को अपने भौतकि अस्तति्व से अलग कर लिया है, अतः अब आहार और दवाओं के अभाव या परश्रिम करने में कोई पीड़ा या असुवधिा नहीं होती।"

विनोबा और विज्ञान

विनोबाजी संस्कृति और विज्ञान के स्वस्थ संगम के समर्थक थे। विज्ञान की प्रगति से वे संतुष्ट थे, लेकिन विश्व भर में विज्ञान का उपयोग करके मानवता के लिए खतरा पैदा करनेवाले संसाधनों के प्रति उनके मन में वतिृष्णा थी। खासकर मारक हथियारों की तेजी

से हो रही बढ़ोतरी को लेकर विनोबाजी खासे चिंतति नजर आते थे। समय-समय पर अपने भाषणों में विनोबाजी ने विज्ञान की अंधी दौड़ का विरोध भी और लोगों को समझाने का प्रयास भी किया था कि वे विज्ञान के द्वारा जनता के हति और तरक्की के संसाधनों का आविष्कार करें। अपने इन्हीं वचिारों को विनोबाजी ने उड़ीसा के गंजम में हुए कांग्रेस महाधविशन में साफ कहा था, "विज्ञान की प्रगति रोकी नहीं जा सकती और न ही इसे रोकना वांछति है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि इसका नियंत्रण नैतकि शक्तयों के हाथ में हो। फिर विज्ञान की प्रगति से किसी को चिंता नहीं होगी।"

उड़ीसा में विनोबा

उड़ीसा अधविशन में शामलि होने के बाद विनोबाजी आंध प्रदेश पहुँचे। वहाँ के लोगों से मलिने और उनके हालातों को स्वयं देखने-समझने के लिए विनोबा पदयात्रा करते हुए पोचमपल्ली पहुँचे। प्रदेश के गाँवों में गरीब मजदूरों और भूमहीिन कसिानों की स्थिति से उनका मन फिर से उद्वेलति हो उठा। उन्होंने एक बार फिर यहाँ भी भूदान आंदोलन चलाया और गाँव-गाँव जाकर लोगों को समझाया। आंदोलन को पर्याप्त सफलता भी मलिी। विनोबा आंध प्रदेश में अक्तूबर, 1955 से 13 मई, 1956 तक रहे। इस अवधि में उन्हें यहाँ 20 गाँव ग्रामदान में मलि।

तमलिनाडु में विनोबा

आंध प्रदेश का दौरा समाप्त करने के बाद विनोबाजी तमलिनाडु पहुँचे। यहाँ उन्होंने कई समारोहों और कार्यकर्ता सम्मेलनों में भाग लिया। यहाँ एक सम्मेलन में एक वशिेष घटना घटी। इस सम्मेलन में विनोबाजी के भूदान आंदोलन से जुड़े वभिन्नि स्थानों के समाजसेवी संगठनों के कार्यकर्ताओं ने भाग लिया। वचिार-वमिर्श के दौरान यह बात सामने आई कि भूदान आंदोलन से जुड़े कार्यकर्ताओं को 'गांधी निधि ट्रस्ट' से वेतन मलता है। विनोबाजी का भूदान आंदोलन तो एक प्रकार से वेतनभोगी कार्यकर्ताओं का कार्यक्रम है। इस आंदोलन को नसि्स्वार्थ आंदोलन कैसे् कहा जा सकता है? बात विनोबाजी को चुभ गई। उन्होंने तत्काल आदेश जारी किया कि अब से कोई भूदान कार्यकर्ता कहीं से वेतन नहीं लेगा, जो कार्यकर्ता इस आंदोलन से हटना चाहते हैं, हट जाएँ।

विनोबा ने कार्यकर्ताओं के समक्ष स्पष्ट करते हुए कहा, "भूदान आंदोलन पूरी तरह जनसेवा की भावना से चलाया गया आंदोलन है। यह सेवा कार्य है, कोई पैसे का तमाशा नहीं। यह नसि्स्वार्थ व समर्पति कार्यकर्ताओं की समाज के प्रति सेवा है।"

इस परविर्तन के बाद विनोबाजी ने तमलिनाडु में अपना भूदान और ग्रामदान का आंदोलन जारी रखा। विनोबाजी के व्यक्तति्व का ही प्रभाव था कि प्रदेश में ग्रामदान में मलि गाँवों की संख्या 40 से बढ़कर 175 हो गई।

केरल में विनोबा

तमलिनाडु में इस व्यापक फेरबदल के बाद विनोबाजी ने अपनी यात्रा का रुख केरल की ओर किया। विनोबा कन्याकुमारी होते हुए केरल पहुँचे। विनोबाजी के मन में एक ऐसी सेना की परकल्िपना थी, जसिके सपिाही किसी भी उपद्रव के समय प्रेम व अहिंसा के द्वारा लोगों के मनों को जीतें और किसी भी प्रकार के बल प्रयोग से बचें। यहाँ उन्होंने अपने संबोधनों में शांति सेना के गठन का वचिार रखा।

केरल में हुई सभाओं में कार्यकर्ताओं के वचिारों और सुझावों के आधार पर विनोबाजी ने कुछ और महत्त्वपूर्ण निर्णय लिये। उन्होंने कार्यकर्ताओं को समझाते हुए घोषणा की कि भविष्य में भूदान की प्रक्रिया में कार्यकर्ता भूमदिान करनेवाले और भूमि ग्रहण करनेवाले दोनों ही पक्षों की काररवाई को लिखति रूप में ही स्वीकार करेंगे, जसिसे भूमि के अधग्िरहण तथा नस्ितारण की प्रक्रिया में आने वाली कानूनी पेचीदगयों को आसान किया जा सके।

विनोबा मंदिर में नहीं गए

केरल में ही मंदिर में प्रवेश के संबंध में एक और घटना घटी। केरल के प्रसद्िध गुरुवायूर मंदिर में प्रवेश और पूजा-पाठ के वधिि-वधिान के संबंध में पुजारयों के नियम वशिेष सख्त हैं। इन नियमों का पालन करनेवाले लोग ही मंदिर में पूजा कर सकते हैं। इन्हीं नियमों के विरोध में कुछ वर्ष पूर्व मंदिर में हरजिनों को प्रवेश दलिाने के लिए गांधीजी को भूख हड़ताल करनी पड़ी थी। यह सब जानते हुए भी इस बार विनोबा अपने कुछ फ्रांसीसी मत्िरों के साथ यहाँ आ पहुँचे।

विनोबा ने पुजारयों से पूछा-"यह मेरे फ्रांसीसी मत्िर हैं। ईसाई हैं। क्या ये भी मेरे साथ मंदिर में प्रवेश कर सकते हैं?"

पुजारयों ने वनम्िरता से मंदिर के नियम के अनुरूप ईसाइयों को मंदिर में प्रवेश कराने में असमर्थता प्रकट की और नविेदन किया कि वे अकेले ही मंदिर में दर्शन तथा पूजा-अर्चना कर सकते हैं।

विनोबाजी ने पुजारयों के इस आमंत्रण को नकार दिया और कहा, "मुझे खेद है, मैं भीतर नहीं जाऊँगा, क्योंकि यदि मैं अपने ईसाई मत्िरों को बाहर छोड़कर भीतर गया, तो मुझे वहाँ भगवान् नहीं मलिेंगे।" और विनोबा बनिा दर्शन किए ही लौट गए।

विनोबा की कर्नाटक यात्रा

इसके बाद विनोबाजी ने कर्नाटक की यात्रा करने का निर्णय किया। कर्नाटक में एलवाल नामक स्थान पर कार्यकर्ताओं ने एक सम्मेलन का आयोजन किया था। इसमें तत्कालीन

प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू सहति केंद्रीय मंत्रमिंडल के अनेक वरिष्ठ मंत्री, राज्य सरकार के अनेक मंत्री तथा दूसरे प्रमुख नेता भी शामलि हुए थे। सम्मेलन में विनोबा के भूदान आंदोलन की प्रधानमंत्री सहति सभी नेताओं ने अपने भाषणों में भूरि-भूरि प्रशंसा की।

लेकिन दुर्भाग्य यह रहा कि प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू द्वारा दिए गए सहयोग के वचन का कभी पालन नहीं हो सका। उनकी यह घोषणा सरकारी घोषणाओं की तरह ही राजनेताओं द्वारा दिया गया एक झूठा आश्वासन मात्र बनकर रह गई।

विनोबा महाराष्ट्र में

कर्नाटक में अपने कार्यकर्ताओं के साथ समय बतिाने और आगे की योजनाएँ बनाने के बाद विनोबा महाराष्ट्र के लिए रवाना हो गए। विनोबाजी जब वहाँ पहुँचे तो उन्हें यह जानकर बड़ा आघात पहुँचा कि भाषा के आधार पर राज्य के वभिाजन को लेकर समूचे महाराष्ट्र में घमासान मचा हुआ है। जगह-जगह आंदोलन हो रहे हैं और राज्य के बड़े माने जानेवाले नेता तक आंदोलनकारयों के कहने पर आंदोलन के पक्ष में भाषणबाजी करके आंदोलन को हवा दे रहे हैं।

विनोबाजी ने आंदोलनकारयों को समझाते हुए शांतभाव से कहा, "मति्रो! इस विषय पर कोई टप्पिणी न कर पाने के लिए मुझे क्षमा कर दो। मैं एक भन्नि प्रकार की दुनिया का जीव हूँ। एक बच्चे की तरह महाराष्ट्र में आया हूँ। मैंने स्वयं को सभी प्रकार की इच्छाओं से मुक्त कर रखा है। मेरी न तो अपनी कोई व्यक्तगित हस्ती है और न ही कोई व्यक्तगित राय है। मेरे सारे प्रयास देश के गरीब और लाचार लोगों को सहारा देने के लिए हैं। मेरे पास देने के लिए केवल प्रेम है और खुला मन, जो दलि की बात आपसे कह दे।"

विनोबाजी पंजाब में

राजस्थान में कुछ दनि ठहरने के बाद विनोबाजी पंजाब पहुँचे। पंजाब की हरी-भरी धरती और मेहनतकश लोगों से भेंट करके विनोबाजी को हार्दकि प्रसन्नता हुई। पंजाब में उन्होंने धार्मकि स्तर के अनेक महत्त्वपूर्ण स्थलों व गुरुद्वारों के भी दर्शन किए। विनोबाजी ने यहाँ अकालयों के तेवरों पर चिंता जताई और अनुरोध किया कि धर्म राजनीति का आधार है, लेकिन राजनीतकि महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए धर्म का सहारा नहीं लिया जाना चाहिए।

इसके बाद विनोबा ने जम्मू-कश्मीर में प्रवेश किया और चार महीने तक वहाँ रहे। कश्मीर के लोगों का दलि जीतने में विनोबा को कोई कठनिाई नहीं हुई। वह पदयात्रा करते हुए ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर गए। वह गाँवों में गए, लोगों से बातचीत की और हर जगह उन्होंने लोगों की कुछ सहायता करने की कोशशि की। अपना सामान विनोबा स्वयं अपनी

पीठ पर लादकर घूमते थे।

विनोबा के दलि में पैगंबर हजरत मुहम्मद के लिए बड़ा सम्मान था। हर पड़ाव पर वह एक-दो व्यक्तयों को सभा में कुरान पढ़कर सुनाने के लिए कहते, वैसे ही जैसे हिंदू गीता का पाठ करते या करवाते थे।

उन्होंने कश्मीर के लोगों से कहा, "कश्मीर छह देशों से जुड़ा है-भारत, चीन, अफगानसि्तान, रूस, पाकसि्तान तथा अमेरकि। कश्मीर के लोगों के लिए आवश्यक है कि वे आध्यात्मकि स्तर पर उठें और कश्मीर की समस्या को हल करने के लिए विश्व जनमत तैयार करें।"

जब विनोबा कठुआ में थे, तो चीन द्वारा तबि्बत हड़प लिये जाने के कारण दलाईलामा भागकर भारत आए थे और उन्होंने यहाँ आकर शरण ली थी। इससे चीन रुष्ट हो गया था।

विनोबा बोले, "हमारा दस हजार वर्षों का इतहिास ही यह है कि यहाँ अनगनति लोग, जातियाँ, नस्लें, धर्म व वचिार आए और सबने यहाँ शरण पाई। वैसे ही दलाईलामा आए और भारत ने उन्हें शरण दी। हमारे चीनी दोस्तों को यह अच्छा नहीं लगा। मैं उन्हें बताना चाहता हूँ कि इसमें हमारे देश की प्रतिष्ठा व परंपरा का प्रश्न है। यहीं बुद्ध का जन्म हुआ था। यह देश किसी को ठुकराता नहीं और न ही किसी से घृणा करता है। हमारे दलि में चीनी दोस्तों के लिए पहले जैसा ही प्यार रहेगा। अगर हमने तबि्बतयों को शरण न दी होती तो हमारा देश अपने मूल आदर्श से गिर गया होता।"

कश्मीर के बाद विनोबा दो सप्ताह हमिाचल में रहे।

विनोबा को कश्मीर यात्रा के दौरान डाकू मानसिंह के पुत्र तहसीलदार सिंह का जेल से पत्र मलिा था। वह जेल में फाँसी की सजा के दनि गनि रहा था। उसने मरने से पहले विनोबा के दर्शन करने की अभलिाषा जाहिर की थी। विनोबा ने अपनी कश्मीर यात्रा के प्रंधक मेजर यदुनाथ सिंह को जेल में उससे मलिने भेजा। जेल में तहसीलदार सिंह से मलिने के बाद वह चंबल गए और मानसिंह गिरोह के कुछ प्रमुख डाकुओं से मलि। उन्होंने आकर विनोबा को बताया कि यदि वह चंबल का दौरा करें, तो बहुत से डाकू आत्मसमर्पण कर सकते हैं, फिर वे अपराध का जीवन छोड़ देंगे। विनोबा को यह वचिार पसंद आया। उत्तर प्रदेश व मध्य प्रदेश के मुख्यमंस्त्रियों ने इस वचिार का स्वागत किया। केंद्रीय गृहमंत्री पंत ने भी इसका अनुमोदन किया। संबद्ध प्रशासनकि व पुलसि अधकिारयों को विनोबाजी का पूरा साथ देने के निर्देश जारी कर दिए गए।

विनोबा ने अपना अभियान 7 मई, 1960 को एक प्रार्थना सभा के साथ शुरू किया। फतेहाबाद में डाकू रामअवतार ने विनोबा के सामने हथियार डालकर आत्मसमर्पण किया तथा भविष्य में कोई अपराध न करने की शपथ ली।

विनोबा ने उपस्थति अधकिारयों को संबोधति किया-"जन्म से कोई डाकू नहीं होता। यह

केवल शोषण, कंजूसी, क्रूरता तथा संवेदनहीनता का परिणाम है। ये डाकू मूल रूप से सीधे, बहादुर तथा निडर लोग हैं। इन्हें अच्छा व न्यायपूर्ण व्यवहार देकर भला व्यक्ति बनाया जा सकता है।"

कुछ डाकू सीधे माफी भी चाहते थे। विनोबा ने उनसे कहा कि कानून तो अपना काम करेगा। वह अलग मामला है। हाँ, उनके मामले में सहानुभूति जरूर दिखाई जाएगी, क्योंकि उन्होंने स्वेच्छा से कानून का साथ दिया है। विनोबा ने वचन नभािया। उन्होंने सर्वसेवा संघ के कार्यकर्ताओं की एक समिति बनाई। इस समिति ने डाकुओं की अदालतों में सहायता की, बचाव पक्ष तैयार किए। इसने चंदा इकट्ठा कर डाकू परविारों को बसाने के लिए प्राप्त भूमि को खेती योग्य बनाया तथा डाकू परविार के लोगों को कुटीर उद्योग में प्रशिक्षित किया। 24 जुलाई, 1960 को राजस्थान होते हुए विनोबा इंदौर पहुँचे। वह एक नकटिवर्ती गाँव में भी गए और वहाँ वह सर्वोदय कार्यकर्ताओं की एक मीटिंग कर रहे थे कि उन्हें पंडति नेहरू का एक आवश्यक पत्र मलिा। पत्र में विनोबा से आसाम आने का आग्रह किया गया था। वहाँ भाषाई दंगों के कारण हालत बगिड़ गई थी। वनिोब मान गए। परंतु उन्होंने कहा कि वह अपनी चाल से जाएँगे पदयात्रा करते हुए, जसिमें बहुत समय लगना था। वह जबलपुर, वाराणसी, बहिार और बंगाल की पदयात्रा करते हुए 5 अगस्त, 1961 को आसाम पहुँचे। वहाँ विनोबा ने कहा, "आसाम बहुजातीय व बहुदेशीय राज्य है। आसाम के लोगों को यह सच्चाई मान लेनी चाहिए। यहाँ कई भाषाई व कई संप्रदायों के लोग रहते हैं।"

ग्वालपाड़ा में वह उन बस्तयों में भी गए, जहाँ दंगों का सर्वाधकि प्रभाव पड़ा था। उन्होंने दंगा पीड़ति लोगों को सांत्वना दी और आसाम का सर्वभारतीय स्वरूप बनाए रखने के लिए कहा।

उन्होंने युवावर्ग से कहा, "युवा साथियो! कम-से-कम आप तो भाषाई संकीर्णता छोड़िए। मैं पुरानी पीढ़ी के लोगों को माफ कर सकता हूँ, क्योंकि वे तो कूपमंडूक हैं ही। युवा लोग आदर्शवादी होते हैं। उनका मन खुला होता है। आपको अपना प्रदेश भविष्य की ओर ले जाना है, न कि पीछे की ओर।"

वहाँ विनोबाजी ने महलिा वर्ग से आसाम को सही मार्ग दिखाने की वशिेष अपील की। याद रहे कि आसाम महलिा प्रधान समाज है। व्यापार व काम-काज अधकितर महलिाओं के हाथ में हैं। यहाँ की महलिाओं की दौड़-धूप के कारण विनोबा को 1,000 गाँव ग्रामदान में प्राप्त हुए।

इस बीच भूदान आंदोलन का जोर घटता जा रहा था। आसाम के भूदान कार्यकर्ताओं ने इसकी ओर इशारा किया, तो उन्होंने कहा, "मैं मनाता हूँ, भूदान के लिए हम अनुकूल वातावरण नहीं बनाए रख सके। हम असफल रहे, कुछ सीमा तक। पर मैं भूदान को मूल लक्ष्य बनाए रखना चाहूँगा। हमें इसे नहीं छोड़ना चाहिए। यह हमें जारी रखना चाहिए। हाँ, इसके साथ कुछ नए कार्यक्रम जोड़े जा सकते हैं।"

5 सतिंबर, 1962 को विनोबा ने पूर्वी पाकसि्तान की धरती पर कदम रखा। वह 16 दनि पाकसि्तान में रहे। वशिाल भीड़ ने उनका स्वागत किया।

पाकसि्तान में भी उन्हेंने भूदान आंदोलन जारी रखा। उनका कहना था कि उन्हें नहीं लग रहा है कि वे किसी और देश में हैं। यहाँ विनोबा को 15 एकड़ भूमि भूदान में मलिी। हर जगह उनसे भारत व पाकसि्तान को लेकर तरह-तरह के प्रश्न लोगों तथा पत्रकारों द्वारा पूछे जाते रहे। उनका जवाब भी वह अपने सूफी अंदाज में ही देते।

विनोबा फिर भारत भूमि पर लौट आए। इस बार वह पश्चमिी बंगाल में अधकि दनि रहे, लगभग दस महीने। बंगाल में बहुत से स्थान देखने की उन्हें सदा से ही इच्छा रही थी। उन्हें ग्रामदान में पलासी गाँव मलिा। यह वही क्षेत्र था जहाँ पलासी का ऐतहिासकि युद्ध लड़ा गया था। यह वह काल था, जब चीन ने भारत की उत्तरी सीमाओं की अतक्रिमण किया था।

एक पत्रकार ने पूछा, "आप अहिंसा में और सत्याग्रह में विश्वास रखते हैं, आप क्यों नहीं अपने कार्यकर्ताओं को लेकर सीमा पर जाते और चीनयों के विरुद्ध सत्याग्रह करते?"

उनका जवाब था, "बाहरी दुनिया अभी अहिंसा व सत्याग्रह के बारे में ठीक से नहीं जानती। अगर देश की जनता को यह विश्वास होता कि देश की बाहरी आक्रमणों से रक्षा भी उन्हीं हथियारों से हो सकती है, जनिका उपयोग कर हमने आजादी की लड़ाई जीती, तो उसने सेना बनाए रखने का विरोध किया होता। यदि मैं अपने कार्यकर्ताओं को लेकर सीमा पर जाऊँगा, तो हम एक और सैनकि दस्ता ही लगेंगे।"

सन् 1965 के वर्ष अपने जन्मदनि पर वह पटना पहुँचे। जबलपुर के मेयर ने इस अवसर पर घोषणा की-"चार वर्ष तक इंतजार क्यों करें? मैं विश्वास करता हूँ कि आप यह काम सन् 1966 या 1967 तक पूरा कर लें, तो गांधीजी की आत्मा आपको नहीं कोसेगी। अभी से यह काम शुरू कीजिए और अपने दबे-कुचले भाइयों का कुछ उद्धार कीजिए।"

दसिंबर, 1965 में प्रधानमंत्री लाल बहादुर शात्री ताशकंद जाने से पहले विनोबाजी से मलिने आए।

विनोबा बीमार पड़ते, लेकिन फिर ठीक होते ही पदयात्रा पर नकलि पड़ते। जैसे उन्होंने भारत का चप्पा-चप्पा पैरों से नापने की ठान रखी हो! वह फिर बहिार की पदयात्रा पर थे। वहाँ भूदान संगठनों को नए सिरे से जमाते जा रहे थे। वह कुछ समय और बहिार में बतिाना चाहते थे, परंतु रत्नगिरी सर्वोदय सम्मेलन में भाग लेने के लिए उन्हें बहिार छोड़ना पड़ा।

विनोबा महाराष्ट्र के प्रसदि्ध तीर्थस्थल पंढरपुर पहुँचे। यहाँ उन्हें तीनों प्रमुख मंदिरों के दर्शन का नमिंत्रण मलिा। विनोबा मंदिरों के दर्शन करने के लिए पहुँचे। इन मंदिरों में किसी ने भी विनोबा व उनके हरजिन साथयों को अंदर जाने से नहीं रोका।

विनोबाजी अपने निर्धारति कार्यक्रम के अनुसार कई राज्यों की यात्रा करने के बाद 22 सतिंबर को गुजरात पहुँचे। वहाँ एक वशिाल भीड़ ने उनका हार्दकि स्वागत किया। भीड़ को संबोधति करते हुए विनोबा ने कहा, "कह नहीं सकता कि मैं गांधीजी के वचिारों को कसि हद तक आत्मसात् कर पाया हूँ, पर उनके वचिारों को जतिना भी मैं समझ पाया, मैंने अपना सारा जीवन उन्हीं के परपिालन को समर्पति कर दिया। इससे मेरा जीवन एक वशिष प्रकार के साँचे में ढल गया है।"

इसी तरह की एक सभा अहमदाबाद में आयोजति की गई, जहाँ विनोबाजी को सुनने लगभग तीन लाख लोग पहुँचे। इतनी बड़ी संख्या होने के बावजूद लोग पूरी तरह अनुशासति और आत्मनियंत्रति थे। विनोबाजी ने इतनी बड़ी संख्या में आने के लिए लोगों का धन्यवाद किया और सभा को प्रसन्नतापूर्वक संबोधति किया।

विनोबाजी राजस्थान में

गुजरात में कुछ दनिों तक ठहरने के बाद विनोबाजी की इच्छा राजस्थान के ग्रामीण क्षेत्रों की यात्रा करने की हुई। परिणामतः जनवरी 1959 में वह राजस्थान आ पहुँचे। यह वह समय था जब विनोबाजी ने भूदान और ग्रामदान आंदोलन की सफलता के बाद देश भर में शांति सेना के गठन के लिए प्रयोग करने शुरू कर दिए थे। राजस्थान में अपनी सभाओं में जनता को संबोधति करते हुए विनोबाजी ने लोगों से शांति सेना में शामलि होने की अपील की। जनता ने विनोबाजी के आग्रह का सकारात्मक उत्तर दिया और शांति सेना के गठन की दशिा में सार्थक पहल भी की।

विनोबाजी के धर्म संबंधी वचिार

विनोबाजी अजमेर में सुप्रसद्धि सूफी संत ख्वाजा नजिामुद्दीन की दरगाह पर गए। वहाँ लोगों ने विनोबाजी का गर्मजोशी से स्वागत किया। इस अवसर पर उपस्थति लोगों को संबोधति करते हुए विनोबा ने कहा, "इसलाम के संदेश बहुत उच्च हैं। यह पवति्र धर्म गरीब व अमीर में अंतर नहीं करता। इस धर्म में बनिा मेहनत किए हुए पैसा लेने पर पाबंदी है। यहाँ तक कि आवश्यकता पड़ने पर किसी को उधार दिए गए धन पर ब्याज लेने की भी मनाही है। इस प्रकार इसलाम जरूरतमंदों की बनिा किसी लोभ-लालच के मदद करने का हामी है। इसलाम में एक नहीं अनेक आदर्श हैं, जो सभी को समानता का अधकिार देने और समानता का व्यवहार करने की सीख देते हैं। यह सीख ही तो प्रजातंत्र का आधारभूत ढाँचा हैं।" उन्होंने कहा, "मैं सभी धर्मों का हृदय से सम्मान करता हूँ और सभी की शिक्षाओं को अपनाने का प्रयास करता हूँ। मैंने सभी धर्मों के मानवता की सेवा करने के आदर्श को जीवन में उतारने का प्रयास किया है। अपनी सोच के आधार पर मैं दावा करता हूँ कि मैं हिंदू हूँ, मुसलमि भी हँ और ईसाई भी।"

मार्टनि लूथर की विनोबा से भेंट

विनोबाजी की राजस्थान यात्रा के दौरान ही अमेरकिा के प्रसदि्ध नीग्रो नेता मार्टनि लूथर किंग अपनी पत्नी कॉरेटा किंग के साथ विनोबा से मलिने कशिनगढ़ आए। मार्टनि गांधीजी से अत्यंत प्रभावति थे। दोनों ने गांधीवादी मूल्यों पर लंबी बातचीत की। दोनों नेताओं ने स्वस्थ और समर्थ समाज की स्थापना के लिए गांधीजी के मूल्यों पर आधारति राजनीति को बढ़ावा देने की आवश्यकता जताई। परमाणु हथियारों के बढ़ते हुए खतरों पर भी दोनों के बीच वसि्तार से चर्चा हुई और निरत्रीकरण के उपायों पर भी वचिार-वमिर्श हुआ। परमाणु शक्ति के बढ़ते हुए वनिाशकारी प्रयोग पर दोनों ही चिंतति थे। विनोबा और लूथर ने परमाणु हथियारों को मानवता के लिए घातक माना और विश्व समाज से अपील की कि वे परमाणु शक्ति का सकारात्मक उपयोग करें। दोनों के बीच देश और विश्व स्तर के अनेक ज्वलंत मुद्दों और समस्याओं पर गंभीर वचिार-वमिर्श हुआ। मुलाकात के बाद अपने भाषणों में मार्टनि लूथर किंग ने कहा कि विनोबाजी में गांधीजी के मूल्यों के वारसि होने की पूरी क्षमता व योग्यता है।

विनोबाजी की पवनार आश्रम में वापसी

रत्नागिरि में सर्वोदय सम्मेलन का आयोजन किया गया था। विनोबा इस सम्मेलन में बहुत व्यस्त थे। इन्हीं दनिों श्रीमती इंदिरा गांधी और श्री जयप्रकाश नारायण के वशिेष अनुरोध पर पाकसि्तान के सर्वमान्य राजनेता सीमांत गांधी खान अब्दुल गफ्फार खाँ पाकसि्तान से भारत आए हुए थे। सीमांत गांधी विनोबा भावे द्वारा चलाए जा रहे समाज-सुधार के कार्यक्रमों और खासकर उनके व्यक्तति्व से बहुत प्रभावति थे। भारत पहुँचने पर सीमांत गांधी ने विनोबाजी से मलिने की तीव्र इच्छा जताई। अपने व्यस्त कार्यक्रम में से समय नकिालकर वे विनोबाजी से मलिने की चाह में स्वयं वर्धा गए, लेकिन विनोबाजी उन दनिों रत्नागिरि सम्मेलन में बेहद व्यस्त थे। पूर्व निर्धारति कार्यक्रमों की व्यस्तता के कारण उन्हें सम्मेलन से फुरसत नहीं मलिी, इसलिए विनोबाजी से सीमांत गांधी की भेंट नहीं हो सकी।

उम्र के प्रभाव और क्षीण होते हुए शरीर के बावजूद अब तक वे अपनी पदयात्राओं के दौरान देश के वभिनि्न राज्यों में 80,000 कलिोमीटर से अधकि की पदयात्रा कर चुके थे। इतने शारीरकि और मानसकि श्रम का उनके स्वास्थ्य पर प्रभाव तो पड़ना ही था।

विनोबाजी के स्वास्थ्य पर पड़ रहे बुरे प्रभाव से उनके संगी-साथी और समर्थक चिंतति हो उठे थे। सभी ने मलिकर विनोबाजी से अपनी व्यस्तता को कम करने और खासकर अधकि परशि्रम वाले कार्य़ों का संकल्प न लेने की अपील की, लेकिन सभी के लिए विनोबाजी का उत्तर मात्र मौन ही रहा।

बँगलादेश की स्वतंत्रता का युद्ध और विनोबा के वचिार

सत्तर के दशक के आखिरी वर्ष और अस्सी के दशक के प्रारंभकि कुछ वर्ष हमारी आजादी के

बाद के इतहिास के सबसे उथल-पुथल भरे वर्ष रहे हैं। इस दौरान देश की सीमाओं के चारों ओर राजनीतकि माहौल गरमा रहा था। घटनाक्रम बड़ी तेजी से बदल रहे थे। अभी भारत चीन के अतक्रिमण और पाकस्तिान के हमले के षत्रों से उभरा भी नहीं था कि पाकस्तिान ने फिर से एक और युद्ध थोप दिया।

परस्थितियों से ववशि हुए भारत को सन् 1971 में बँगलादेश की स्वतंत्रता के लिए युद्ध लड़ना पड़ा। मानवता के पुजारी विनोबा युद्धों को मानवता के लिए कलंक मानते थे। उनका स्पष्ट मत था कि युद्ध गरीब और निरीह जनता के लिए अभशिाप की तरह है। परंतु 1971 के युद्ध में उन्होंने तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी का खुलकर समर्थन करते हुए कहा, "मैं कोई युद्ध नहीं चाहता, न युद्ध का समर्थन करता हूँ, परंतु यह युद्ध भारत पर थोपा गया है। इंदिरा गांधी के पास इस युद्ध का जवाब देने के सवािय और कोई चारा नहीं है।"

पोखरण का परमाणु परीक्षण और विनोबा के वचिार

विनोबाजी परंपराओं के प्रति संवेदनशील रहते हुए भी देशहति और समाज के विकास के मसलों पर बहुत स्पष्ट वचिार रखते थे। विनोबाजी के वचिारों की यह सजगता तब और मुखर होकर सामने आई जब भारत ने पोखरण में परमाणु परीक्षण किया। परमाणु शक्ति के वनिाशकारी परिणामों की दुहाई देते हुए अनेक रूढ़विादी संगठनों और लोगों ने इस परीक्षण की आलोचना की। विनोबा भावे से जब इस संबंध में लोगों ने पूछा तो उन्होंने स्पष्ट कहा कि परस्थितियों के अनुकूल अपने विकास के साधन ईजाद करना हर देश की महती आवश्यकता तो है ही, साथ ही स्वतंत्र अधकिार भी है। आज जब दुनिया के प्रमुख देश परमाणु शक्ति से लैस हो चुके हैं, तो देश के विकास के लिए इस पंक्ति में शामलि होना हमारे लिए गलत कैसे हो सकता है? इतना ही नहीं, विनोबाजी ने देश को आधुनकिता की माँग के अनुरूप सामर्थ्यवान बनाने के लिए तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी की प्रशंसा की और उनके निर्णयों को उचति ठहराते हुए उनमें अपना पूरा विश्वास भी प्रकट किया।

जयप्रकाश नारायण का राजनीति में प्रवेश

देश की बदलती हुई परस्थितियों में समाजवादी व सर्वोदय आंदोलन के सक्रिय नेता जयप्रकाश नारायण खुलकर राजनीति में आ गए और तत्कालीन सरकार के विरोध में जुटी पार्टयों को संगठति करके राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेने लगे। ज्ञातव्य है कि जयप्रकाश नारायण अभी तक विनोबा के साथ कार्य कर रहे थे और सर्वोदय आंदोलन के संचालन में उन्होंने बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमकिा नभिाई थी।

उधर विनोबाजी स्वयं भूदान अथवा सर्वोदय आंदोलन को सक्रिय राजनीति का भाग बनाने के विरोध में थे। स्वाभावकि ही था कि जयप्रकाश नारायण और विनोबाजी की

मान्यताएँ और सद्धिांत इस मुद्दे पर एकमत नहीं रह सके।

सर्वेदय कार्यकर्ताओं में जयप्रकाश नारायण का अच्छा प्रभाव था। देश की परस्थितियों और जनसमर्थन को भाँपते हुए कार्यकर्ताओं का एक बड़ा गुट जयप्रकाश नारायण का समर्थन कर रहा था। परिणामतः कार्यकर्ता विनोबाजी और जयप्रकाश नारायण के समर्थन के नाम पर खुलकर दो खेमों में बँटते जा रहे थे। जयप्रकाश नारायण के समर्थक सक्रिय राजनीति में कूदने की माँग कर रहे थे। जयप्रकाश नारायण के सामने दुवधिा यह थी कि उन्होंने अपना जीवन सर्वोदय को अर्पति कर दिया था, जोकि पूर्णतया अराजनैतकि कार्य था। अब बदलती हुई परस्थितियों में वे स्वयं को राजनीति से दूर नहीं रख पा रहे थे।

बहरहाल, जयप्रकाश नारायण ने राजनीति में आने का अपना इरादा स्पष्ट कर दिया। उनका समर्थन पाकर वे कार्यकर्ता, जो राजनीति में आने के उत्सुक थे, खुलकर जयप्रकाश नारायण के साथ हो लिये और इस प्रकार जयप्रकाश नारायण विनोबा भावे के भूदान कार्यक्रम से अलग होकर पूरी तरह राजनीति में सक्रिय हो गए। विनोबा के भूदान व ग्रामदान कार्यक्रम पृष्ठभूमि में धकेले जा रहे थे। नई सरकार की विरोधी हवा देश में नया वातावरण तैयार कर रही थी।

अपैल 1975 को विनोबा ने सर्वसेवा संघ से नाता तोड़ दिया। सर्वोदय का यह संगठन जयप्रकाश नारायण के पूरे प्रभाव में था तथा अधकि-से-अधकि राजनीति में धँसता चला जा रहा था। अब जयप्रकाश विरोधी दलों के अगुआ बन गए थे तथा गुजरात व बहिार में 'नव निर्माण' आंदोलन चलाकर सरकार को चुनौती दे रहे थे। युवा वर्ग इस आंदोलन को भरपूर समर्थन दे रहा था। राजनैतकि वातावरण कटु तथा वस्फिोटक बन रहा था। नेतागण विनोबा के वक्तव्यों को तोड़-मरोड़कर अपने पक्ष में दिखाने का प्रयत्न करने लगे। नेताओं की इन हरकतों से तंग आकर विनोबा ने मौनव्रत धारण कर लिया।

जून 1975 में इंदिरा गांधी ने इलाहाबाद हाई कोर्ट में मुकदमा हार जाने पर देश में आपातकालीन स्थिति की घोषणा कर दी। सारे विरोधी नेता जेल में डाल दिए गए। विनोबाजी ने इसे 'अनुशासन पर्व' का नाम दिया। कुछ लोगों ने इसका भन्नि-भिन्न अर्थ नकिाला। सन् 1975 के अंत में आपातकाल में नियमों को ढीला कर विरोधी नेताओं को जेल से रहिा किया गया तथा आम चुनावों की घोषणा की गई। सन् 1977 में हुए चुनावों में कांग्रेस का उत्तर भारत से पत्ता साफ हो गया।

जयप्रकाश नारायण द्वारा वभिन्नि विरोधी दलों को टाँक-जोड़कर बनाई जनता पार्टी सत्ता में आ गई, परंतु शीघ ही इस पार्टी के नेता आपस में झगड़ने लगे व बँट गए। ढाई वर्ष बाद इंदिरा गांधी फिर सत्ता में आ गइऔ। उनके सत्ता में आने से पहले ही सन् 1979 में श्री जयप्रकाश नारायण की मृत्यु हो गई।

इंदिरा गांधी विनोबा भावे के पास पवनार जाती रहीं। इन दो वर्ष्रों में विनोबा ने गो-हत्या पर लगे प्रतबिंध पर बहुत जोर दिया।

सन् 1982 के दक्षिणार्द्ध में विनोबा का स्वास्थ्य बहुत बगिड़ा। शरीर अंतमि चरण में पहुँच गया था। 5 दसिंबर को उन्हें दलि का दौरा पड़ा। उनकी हालत काफी कुछ सुधरी, परंतु 8 दसिंबर के बाद विनोबा ने दवा, भोजन या पानी कुछ भी लेने से इनकार कर दिया। इंदिरा गांधी भी उन्हें राजी न कर सकीं। डॉक्टरों को विनोबा के शरीर को शांत व स्थिर देखकर अचंभा हुआ। उसमें कोई अकड़न या मरोड़ नहीं आए।

15 दसिंबर, 1982 को सुबह के नौ बजे विनोबा की साँस धीमी होने लगी और साढ़े नौ बजे पूर्ण विराम लग गया। इस प्रकार विनोबा भावे के शरीर ने आत्मा को मुक्त कर दिया। ऊपर स्वर्ग की ओर एक और यात्रा के लिए और देश को दशिा देनेवाला एक चमकता सतिारा देखते-ही-देखते अनंत में वलीन हो गया।

सर्वोदय और विनोबा के वचिार

वर्तमान भारत में सर्वोदय विनोबाजी वचिार और आंदोलन की प्रेरणा के स्रोत रहे हैं। आज विनोबा और सर्वोदय वचिार एक-दूसरे के पर्याय अनुभव होते हैं। दोनों की वचिार पृष्ठभूमि एक है, एक स्रोत है, एक अभवि्यक्ति है, अतः दोनों को एक ही आध्यात्मकि पृष्ठभूमि को पोषक मानकर यदि हम चिंतन करें, तब न तो विनोबा के साथ पक्षपात करेंगे और न ही इस वचिारात्मक आंदोलन के साथ। विनोबाजी जीवन के सर्वोच्च विकास के लिए नैतकि और आध्यात्मकि मान्यताओं को सर्वोच्च स्थान देते हैं। हमारा वर्तमान समाज जनि मान्यताओं को अपने अंदर समाहति किए जा रहा है, उसका लक्ष्य भौतकि समृद्धि होने के कारण आध्यात्मकिता से दूर करना भी है। इसलिए हमारे जीवन से प्रेम, सहयोग, सद्भाव, सत्य, अहिंसा और पारस्परकि विश्वास के सभी नैतकि मापदंड लुप्त होते जा रहे हैं। यदि समाज में भौतकिवाद का ही प्राधान्य रहेगा, तब मनुष्य आत्मकि विकास और वास्तवकि सुख के नकटि भी नहीं पहुँच सकेगा। यह मानव जाति के लिए सौभाग्य का नहीं,ं वरन् दुर्भाग्य का दनि होगा। विनोबा इस हताश, निराश, वकि्लांत और खोई-खोई सभ्यता के लिए 'अंतःशुद्धि' की बातें करते हैं, क्योंकि 'अंतःशुद्धि' से ही मनुष्य के नैतकि पक्ष का विकास होता है तथा सर्वोदय की भावना वकसिति होती है। सत्य, अहिंसा, प्रेम, ब्रह्मचर्य, अभ्य, अस्तेय, अपरगि्रह, संयम, आत्म-त्याग, शरीर श्रम, स्वदेशी, सर्वधर्म समभाव आदि गुण सर्वोदय की परकलि्पना के आंतरकि आधार हैं। यही सर्वोदय के आंतरकि आधार विनोबा के वचिारों की आध्यात्मकि पृष्ठभूमि को दृढ़ बनाते तथा पूर्णता प्रदान करते हैं।

विनोबा ने सर्वोदय को 'वसुधैव कुटुंबकम्' का गीत सुनाकर 'निर्बैय चिंतन' से अनुप्रेरति किया है। यही सत्यनिष्ठ आदर्श आत्मकि सुख, नैतकि विकास और आध्यात्मकि उपलब्धि, संकोची विनोबा देश के लिए उपलब्धयों के प्रतीक हैं।

विनोबाजी ने कहा था, "सर्वोदय समाज की आधारशलिा कौटुंबकि या पारविारकि भावना है। जैसे कि एक परविार का प्रत्येक व्यक्ति यह मानकर परविार में व्यवहार करता है कि परविार के सभी सदस्यों के हति में ही हमारा हति है। यानी कि पारस्परकि हति की

भावना में परविार के सदस्य विरोध नहीं मानते, बल्कि वे इस भावना को परविार के विकास के लिए अनविार्य मानते हैं। इसलिए तो जसि प्रकार परविार का प्रत्येक व्यक्ति परविार के समस्त व्यक्तयों के सुख या कल्याण का वचिार रखता है, और तदनुसार बरताव करके परविार को आगे बढ़ाता है, उसी प्रकार हममें से प्रत्येक को वचिार भेद होने पर भी सबके सुख और हति का वचिार करके वैसा ही बरताव करना चाहिए, तभी देश का सर्वांगीण विकास संभव हो सकेगा।"

सत्य के एकांगी अस्तति्व की पूर्ति के लिए विनोबाजी अहिंसा को अनविार्य मानते हैं। उनका स्पष्ट मत था, "अहिंसा के बनिा सत्य की खोज और प्राप्ति असंभव है। अहिंसा और सत्य आपस में कुछ इस प्रकार एक-दूसरे से गुँथे हुए हैं कि उन्हें एक-दूसरे से अलग करना असंभव है।"

विनोबा के राजनीतकि वचिार : सर्वोदय की राजनीतकि आकांक्षाएँ

जीवन के अन्य पक्ष हों या राजनीति, विनोबा हर कदम पर अपने वचिारों की पवति्रता को अपनाए रखने के पक्षधर रहे। विनोबा के वचिारों ने तत्कालीन राजनीति को प्रभावति किया, लेकिन विनोबा के राजनैतकि चिंतन ने उनके वचिारों के नैतकि आधारों को किसी रूप में अपने से अलग नहीं होने दिया। विनोबा के राजनैतकि चिंतन में सर्वोदय की कामना सर्वोपरि रही। आजादी के बाद स्वराज तो प्राप्त हो गया, लेकिन अंग्रेजी राज की व्यवस्था से आजादी नहीं मलिी। स्वदेशी राज्य-व्यवस्था भी नैतकि मूल्यों के पालन करने के जसि उद्देश्य को लेकर स्थापति हुई थी, उन्हें नभिा नहीं पाई। अंग्रेजी राज-काज की तरह आजाद भारत में भी राजनीति में भष्टाचार अपनी जड़ें जमाने लगा और राजनेता आम जनता का शोषण करने में जुट गए। जसि आम आदमी के समर्थन से सरकार का गठन होता रहा, राजनेताओं के मन में उसी आम आदमी के शोषण की न केवल लालसा बढ़ने लगी, बल्कि शोषण की यह प्रवृत्ति अब राजनेताओं के चरति्र में ववशता के रूप में भी शामलि हो गई। संसदीय लोकतंत्र के नाम पर शोषण का ऐसा उपक्रम शुरू हुआ कि देखते-ही-देखते गणतंत्र की भावना अधनियिकवाद में बदलने लगी। अंग्रेजी शासन की तरह ही जनता अपने देश और अपने शासन में एक बार फिर असहाय और असमर्थ होकर राज्य के आदेशों को मौन रहकर स्वीकार करने को ववशि हो गई। इन स्थतियों को विनोबाजी ने भाँपा और इसपर खुलकर टप्पिणी करते हुए कहा कि राज्य में सत्ता का केंद्रीयकरण हो गया है और नागरकि परमुखापेक्षी हो गया है।

लोकतंत्र में आस्था

विनोबा की स्पष्ट मान्यता थी कि मानव के व्यक्तति्व के संपूर्ण विकास के लिए देश में पूर्व परकल्पति लोकतंत्र की स्थापना होनी चाहिए और स्वदेशी शासन की आड़ में पनप रही तानाशाही का अंत होना चाहिए। इस प्रकार देश के सर्वांगीण विकास के लिए विनोबा लोकतंत्र को सर्वोत्तम वकिल्प के रूप में स्वीकार करते हैं। विनोबा दुखी हैं तो इस व्यवस्था

से, जसिमें लोकतंत्र की आड़ में पूँजीवाद अबाध गति से बढ़ रहा है और अपना प्रभुत्व स्थापति करके सत्ता पर काबजि हो बैठा है। विनोबा मानते हैं कि लोकतंत्र के नाम पर बढ़ती जा रही पूँजीवाद की इस प्रवृत्ति के पनपने से लोकतंत्र का स्वरूप बगिड़ता जा रहा है। देश के विकास में जनता के वचिारों का न तो कोई स्थान है और न ही अपने विकास के लिए किसी प्रकार का निर्णय करने की शक्ति जनता के पास है। यह शक्ति जनता के नाम पर जनता के हतिैषी बनने वाले कुछ वशिेष व्यक्तयों और पूँजीवाद के पोषक कुछ धनकिों के हाथों में केंद्रति होकर रह गई है।

विनोबाजी मानते हैं कि जनतंत्र सत्ता और शक्ति के अधकिाधकि वकिेंद्रीकरण का समर्थन करता है। जबकि देश में स्थापति वर्तमान जनतंत्र सत्ता और शक्ति, दोनों के ही केंद्रीयकरण में जुटा हुआ है। विनोबाजी लोकतंत्र की स्थापना के लिए इन बाध्यकारी तत्त्वों की समाप्ति को आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार, "राज्य की बढ़ती हुई शक्ति के मध्य जनता के लिए किसी प्रकार की सफलता प्राप्त करना कठनि है।"

सत्ता का वकिेंद्रीकरण तथा 'जनता' का जन्म

विनोबाजी ने लोकतंत्र या गणतंत्र के जनहतिकारी बने रहने के लिए एक वैचारकि कसौटी बनाई और राजनैतकि ढाँचे को उसपर कसने का प्रयास किया। विनोबा मानते हैं कि लोकतांत्रकि ढाँचे में नम्निांकति गुण होने अनविार्य हैं-"सर्व राष्ट्रीय भातृत्व, राष्ट्र के प्रति ज्ञानपूर्वक सहज हार्दकि सहकारति‍ा, समर्थ अल्पसंख्यकों और सर्वसाधारण बहुंख्यकों का हतिैष्य, सबके सर्वांगीण और समान विकास की दृष्टि, राज्य सत्ता का वकिेंद्रीयकरण, दंड व्यवस्था का कम-से-कम उपयोग, जन सुवधिाओं की सुलभता, सत्ता पर न्यूनतम व्यय, कम-से-कम रखवाली, सार्वजनकि तटस्थ तथा मुक्त ज्ञान का प्रचार।" नशि्चति ही विनोबाजी की राज्य सरकार के संगठनात्मक स्वरूप की यह आदर्श अवधारणा व्यवहार में संभव नहीं है। भारत में भी विनोबा के वचिारों की इस आदर्श राज्य सत्ता का होना कठनि ही नहीं, असंभव सा लगता है, और यही हुआ।

विनोबा के सर्वोदय या आदर्श राज्य संबंधी वचिार, जैसा कि 'शोषण मुक्त समाज' की स्थापना आदि वर्तमान व्यवस्था में लागू नहीं हो सके और मात्र कल्पना की बात बनकर रह गए, किंतु विनोबा के वचिारों ने जनता में इतनी जागृति तो अवश्य ला दी कि जनता के मन में यह बात दृढ़तापूर्वक बैठ गई कि लोकतंत्र जनता का शासन है, इसलिए जनता के हति में सत्ता को अधकिाधकि वकिेंद्रति किया जाना चाहिए।

विनोबा अपनी सर्वोदय की धारणा द्वारा वर्तमान लोकतंत्र के दोषों को 'ग्राम स्वराज्य' की स्थापना से दूर करने का प्रयास करते हैं। ग्राम स्वराज्य पूर्णतया लोकतंत्रीय आधार पर सत्ता के केंद्रीयकरण से हटकर उसके वकिेंद्रीकरण की ओर उन्मुख है। विनोबा स्पष्ट रूप से यह मानते हैं कि 'जनता ही वास्तवकि लोकशाही की धरोहर होगी।' लोकशाही का सांस्कृतकि मूल्य यह माना जाएगा कि कोई भी नागरकि एक-दूसरे से डरे नहीं और यह

तभी हो सकता है, जब नागरकिों में अपने कर्तव्य और अधकिारों के प्रति पूरी चेतना हो, जसिसे कोई भी नागरकि किसी का हक न मार सके। विनोबा मानते हैं कि देश में लोकतंत्र का ऐसा स्वस्थ रूप स्थापति हो सके, जसिमें सभी नागरकि एक-दूसरे का विश्वास करें।

विनोबा मानते हैं कि भयमुक्त समाज की स्थापना के साथ-साथ लोकतंत्र में सभी नागरकिों को वोट की समानता का अधकिार भी मलिना चाहिए। नागरकिों की स्वतंत्रता उनके भय का निराकरण और उनके मत या वोट की भूमकि समान मानी जानी चाहिए, तभी लोकशाही में पवत्रिता, पारदर्शति और दूसरों के अधकिारों के प्रति सम्मान की भावना आ सकेगी।

ग्राम स्वराज्य का स्वरूप

ग्राम स्वराज्य की धारणा में देश भर के गाँवों को स्वराज की इकाई के रूप में माना जाता है। इस परकिल्पना में सत्ता केंद्र सरकार से लेकर प्रत्येक गाँव तक वकिंद्रति रहती है। ग्राम स्वराज्य की परकिल्पना में गाँवों के विकास एवं ग्रामीणों के कल्याण के लिए प्रत्येक गाँव में एक ग्रामसभा का गठन किया जाएगा। अपने मूल रूप में ग्रामसभा ही एक प्रकार से गाँव की सरकार है, जसिके अधकिार क्षेत्र में गाँव का पूरा विकास और व्यवस्था शामलि है। गाँव के विकास के लिए ग्रामसभा अपनी सुवधिानुसार 'भूमि सेना' संगठति करती है तथा गाँव में व्यवस्था बनाए रखने के लिए 'शांति सेना'। ऐसी ग्रामसभा की कई इकाइयों को लेकर प्रखंड सभा या ब्लॉक सभा का गठन किया जाएगा, जो गाँवों की व्यवस्था और विकास के लिए उत्तरदायी होगी। प्रखंड सभा के प्रतिनिधि मलिकर जलि स्तर की सभा का गठन करेंगे, जो प्रखंड सभा एवं ग्रामसभा के ढाँचे को मजबूत करने के लिए उत्तरदायी होगी। जलि सभाओं से राज्य सभा तथा राज्य सभाओं से राष्ट्र सभा का गठन किया जाएगा। इस प्रकार सत्ता का केंद्र से लेकर देश की सबसे छोटी इकाई गाँवों तक वभिाजन हो जाएगा और सभी को अपने विकास के पर्याप्त अवसर उपलब्ध हो सकेंगे।

विनोबा मानते थे कि वर्तमान पंचायतें सत्ता का वकिंद्रति स्वरूप होने के बावजूद जनता के शोषण में जुटी हुई हैं। इन पंचायतों के द्वारा गाँवों में सहकारति की भावना जाग्रत् नहीं हो पाई है और न ही जनता का राज्य सरकार के प्रति समभाव ही संभव हो पाया है। इसलिए साधारण जनता इस प्रकार की शोषण प्रणाली से मुक्ति चाहती है। इस व्यवस्था के पर्याय के रूप में ग्राम स्वराज्य का सर्वोदयी आदर्श सत्ता और गाँवों या जनता के बीच पनपे विरोधाभासों को समाप्त करने के लिए एक अत्यंत सकारात्मक भूमकि नभिा सकेगा, ऐसा उनका दृढ़ विश्वास था।

दल रहति लोकतंत्र तथा अप्रत्यक्ष निर्वाचन

विनोबा भावे का यह नशि्चति मत है कि वर्तमान लोकतंत्र को दलाल व्यवस्था तथा निर्वाचन व्यवस्था ने बहुत हानियाँ पहुँचाई हैं। इसलिए वह लोकतंत्र की परशिुद्धता और

पारदर्शिता के लिए दल रहति पद्धति को अपनाए जाने के पक्षधर हैं-"दल रहति पद्धति में कठोर अनुशासनात्मक व्यवस्था के कारण दलालों और प्रतनिधियों को व्यक्तगति हति चिंतन के लिए कोई अवसर नहीं रह जाता।"

विनोबा वर्तमान शासन व्यवस्था में जनसेवकों के जनता पर बढ़ते दबाव को महसूस करते हैं और उससे चिंतति भी नजर आते हैं-धन, प्रचार के साधन और संगठन के बल पर वभिनि्न दल कैसे अपने को जनता के ऊपर लादते हैं, कैसे जनतंत्र यथार्थ में दलाल तंत्र बन जाता है! कैसे दलाल तंत्र अपने प्रभाव को बढ़ाकर स्थानीय चुनाव समतियों और प्रशासन व्यवस्था पर हावी होता जाता है और धीरे-धीरे नहिति स्वार्थों से इतना बँध जाता है कि दलाल गुटों का राज्य बनकर रह जाता है।

वे अपने मत को व्यक्त करते हुए कहते हैं, घवर्तमान चुनाव प्रणाली में कसि प्रकार जनतंत्र केवल मतदान में समिट और सकिुड़कर रह जाता है। कसि प्रकार मत देने का यह अधकिार तक, उन शक्तशिाली दलों के द्वारा अपना उम्मीदवार खड़ा करने की पद्धति के कारण बुरी तरह सीमति हो जाता है, क्योंकि मतदाताओं को अपना काम चलाने के लिए उन्हीं में से किसी एक को चुनना पड़ता है।"

विनोबा का आर्थकि चिंतन

विनोबा के आर्थकि चिंतन में धन का सर्वोच्च स्थान नहीं है। विनोबा और सर्वोदय के आर्थकि चिंतन में मानव तत्त्व की किंचनि्मात्र भी उपेक्षा नहीं होती। इसलिए विनोबा के लिए मनुष्य ही संपत्ति है, सोना-चाँदी नहीं। इस मनुष्य नाम को सर्वोदय-संपत्ति की नीति के नियमों की अवहेलना करने का कोई अधकिार नहीं-"नीति-अनीति का वचिार किए बनिा धन बटोरने के नियम बनाना केवल मनुष्य की घमंड दिखाने वाली बात है। सस्ते-से-सस्ते खरीदकर महँगे से महँगा बेचने के नियम के समान लज्जाजनक बात मनुष्य के लिए दूसरी नहीं है।"

स्वामति्व वसिर्जन का समर्थक

विनोबा का आर्थकि चिंतन गांधीजी के ट्रस्टीशपि सदि्धांत को स्वीकार करते हुए भी स्वामति्व वसिर्जन की पद्धति में संशोधन करता है। गांधीजी ने पूँजीपति से यह आशा रखी कि वह स्वयं अपनी संपत्ति का संरक्षक बन जाए तथा उसके आंशकि लाभ को स्वयं ग्रहण करे, शेष लाभ को समाज हति में दे दे। इस व्यवस्था में किसी भी व्यक्ति को उसके संपत्ति के अधकिार से वंचति करने की व्यवस्था नहीं है। विनोबा इसके वपिरीत स्वामति्व के मोह को तलिांजलि देना आवश्यक मानते हैं। यदि ऐसा नहीं होगा, तब समाज में अनाचार और हिंसा फैल जाएगी-"हमारे यहाँ गरीबी इस हद तक पहुँच गई है कि गरीब जनता को दूसरी जगह से उभारना बहुत ही आसान है। कह नहीं सकते कि फिर वह अहिंसा से ही काम लेगी। इसलिए हमें नशि्चय करना चाहिए कि ट्रस्टीशपि के सदि्धांत का अमल करने की

हम पूरी कोशशि करेंगे और ज्यादा जायदाद न रखेंगे।

घइतनी जायदाद जायज और इतनी नाजायज, ऐसी कोई लकीर थोड़े ही खींच सकते हैं? ऐसा कहकर यह बात टाल देंगे तो आगे आनेवाला खतरा अटल है।"

ग्रामोद्योगों पर बल

सर्वोदय समाज की आर्थकि दृष्टि में उत्पादन समाज की आवश्यकता के अनुरूप होगा, लाभ से प्रेरति नहीं होगा। 'वपुलता के लिए संयोजन' की आकांक्षा का सार परावलंबन से मुक्ति तथा ग्राम स्वावलंबन की नींव को दृढ़ करना है। जब तक ग्राम स्वावलंबन के लिए सफल प्रयास नहीं किए जाएँगे, तब तक ग्रामों को उपेक्षति कर दिया जाता रहेगा। विनोबाजी गांधी की तरह भारत के आर्थकि पुनर्निर्माण के लिए ग्रामों के पुनर्निर्माण पर बल देते हैं। इस कारण उन्होंने ग्रामोद्योगों को अपनाने पर वशिष बल दिया। वह जब श्रमदान की बात करते हैं, तब उनका आशय श्रम को प्रतिष्ठति करने से है। वह ग्राम स्वराज्य को ग्रामोद्योगों से सशक्त बनाना चाहते हैं। औद्योगीकरण में केंद्रीयकरण की प्रवृत्ति है, जसिमें शोषण और उत्पीड़न की गंध है, बेकारी और दीनता की गंध है। आज के भारत को इससे मुक्त करने की आवश्यकता है। ग्रामोद्योग बढ़ते हुए बेकारी के बोझ को भी हलका कर सकते हैं। यदि उन्हें केंद्रति उद्योगों की प्रतस्पिर्धा से बचा लिया जाए, तब वह भारत की तसवीर भी बदल सकते हैं। मुट्ठी भर लोगों के हाथ से आर्थकि शक्तयों को लेकर बिखेरने की आवश्यकता है, तभी वास्तवकि स्वराज्य संभव होगा।

विनोबा के सामाजकि वचिार

सर्वोदय समाज की रचना में विनोबा ने सर्वधर्म समभाव, स्त्री-पुरुष समानता, अस्पृश्यता नविारण, स्वदेशी व्रत को उसकी सहायक शक्ति के रूप में अवतरति करने की आवश्यकता पर बल दिया है। शोषणवहीिन तथा वर्गविहिन समाज के आदर्श का अर्थ है कि सर्वोदय में समानता को सर्वोच्च और अक्षुण्ण रखा गया है। वर्तमान समाज की संरचना का जब हम अध्ययन करते हैं, तब हमें सामाजकि जीवन में मातृशक्ति की अवहेलना, दलति और पिछड़ी जातयों का वस्तिार, धर्म के आधार पर अल्पसंख्यकों के प्रति दुर्भाव स्पष्ट रूप से आक्रोशति करता है। इससे मुक्ति के लिए वह जो मुक्त समाज व्यवस्था प्रतिष्ठति करना चाहते हैं, वह बहुत कुछ ग्रामदान से सद्धि हो जाती है। ग्रामदान में जमीन की मल्कियित पर कोई दावा नहीं करता। इससे शोषण की मुख्य जड़ नष्ट हो जाती है।

सामाजकि जीवन में विनोबा समानता और स्वतंत्रता को सभी की पूँजी और धरोहर बनाना चाहते हैं। स्त्री को वह किसी भी रूप में पुरुष का परमुखापेक्षी बनाने की प्रवृत्ति का समर्थन नहीं करते है।

विनोबाजी के मानस में नारी

विनोबाजी का कहना था कि मृदुता, भक्ति, त्याग, प्रेम, संयम आदि गुण स्त्रियों में स्वाभावकि रूप से होते हैं। अतः स्त्रियों को आवश्यकता है तो पुरुष के उन प्रमुख गुणों को अपनाने और साधने की, जो उसमें प्राकृतकि रूप से होते हैं, जैसे-बुद्धि की प्रखरता और साहस, धैर्य, ववकि, संघर्ष की क्षमता आदि। ब्रह्मचर्य की साधना करनेवाली स्त्री को पुरुष के इन्हीं गुणों को अपनाना पड़ेगा, तभी तो गुण पूर्ति संभव हो सकेगी। ब्रह्मचर्य की साधना करनेवाली स्त्री को पुरुष बनना पड़ेगा। उसके लिए बुनियाद ब्रह्मविद्या होगी और ज्ञान, कर्म तथा भक्ति उस ब्रह्मविद्या को प्राप्त करने के साधन बनेंगे।

विनोबाजी की ब्रह्मचर्य साधना

विनोबाजी ने बचपन से ही धार्मकि और नैतकि जीवन जिया था। उन्होंने अपने जीवन में ब्रह्मचर्य की साधना को अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना और आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन किया। वे ब्रह्मचर्य को मात्र पुरुषों के लिए ही आवश्यक नहीं मानते थे, अपतिु नारी के लिए भी ब्रह्मचर्य पालन को एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानते थे। विनोबाजी का वचिार था कि ब्रह्मचर्य देह का विषय नहीं है, यह उससे कहीं आगे आत्मा और मन का विषय है। उनका मानना था कि ब्रह्मचर्य की साधना स्त्री या पुरुष होने के अहंकार या अस्तति्व-बोध से कभी पूरी नहीं हो सकती। इस साधना में स्त्री और पुरुष दोनों को ही अपने अस्तति्व-बोध से अलग होना होता है।

विनोबाजी को ब्रह्मचर्य-पालन की शिक्षा उनके परविार से विरासत में मलिी थी। इस संदर्भ में विनोबाजी अपनी पूज्य माताजी का स्मरण करते हुए कहते हैं, घहमारी माँ ने तो हमसे कहा था कि 'अगर माता-पिता का पुत्र उत्तर गृहस्थाश्रमी बना, अर्थात् ब्रह्मचर्य का परपिूर्णता से पालन करने के बाद गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट हुआ, तो वह सात पीढ़यों का उद्धार करता है और अगर पुत्र नैष्ठकि ब्रह्मचारी रहा तो अपने कुल की बयालीस पीढ़यों का

उद्धार करता है।"

माता की इन शिक्षाओं का विनोबाजी और उनके भाइयों के जीवन पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि घर के तीनों पुत्रों ने ब्रह्मचर्य के पालन को अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया। विनोबाजी यह मानते हैं कि माता की यह शिक्षा सिर्फ शिक्षा के लिए ही नहीं थी, भविष्य में जब उनके पुत्रों ने इस शिक्षा के कारण ब्रह्मचर्य को अपने जीवन में अपनाया तो परविार के सदस्य तो सहम गए, लेकिन विनोबाजी की माता ने पूरे धैर्य के साथ कहा कि उन्हें अपने पुत्रों की सोच पर पूरा विश्वास है कि वे जो भी निर्णय लेंगे, उनके जीवन के लिए निरापद ही होगा, साथ ही समाज के लिए भी लाभकर होगा।

स्त्रयों का ब्रह्मचर्य पालन और विनोबा की पीड़ा

स्त्रयों को लेकर समाज में प्रचलति धारणा, खासकर रूढ़यों को लेकर विनोबा भावे हार्दकि रूप से पीड़ति नजर आते हैं। उन्हें इस बात से गहरी पीड़ा है कि समाज में पुरुष और स्त्रयों के ब्रह्मचर्य पालन के प्रति दोहरे मानदंड अपनाए जाते हैं। यदि कोई पुरुष ब्रह्मचर्य का पालन करे तो उसे सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है, किंतु कोई महलिा चाहे कतिनी भी निष्ठा से ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहे, समाज उसकी भावनाओं को स्वीकार नहीं पाता और उसपर तरह-तरह के बंधन लगा दिए जाते हैं। इस संबंध में स्वयं अपने ही परविार का उदाहरण देते हुए विनोबा भावे कहते हैं, "हम तीनों भाई तो ब्रह्मचारी नकिले, परंतु मेरी एक छोटी बहन थी, उसको तो संसार के क्रमानुसार शादी करनी पड़ी। तब से मेरे मन में वचिार आता रहा है कि वह क्यों ब्रह्मचारिणी न रह सकी? क्योंकि हमारा समाज पुरुष-प्रधान है।"

विनोबाजी अपने ब्रह्मचर्य संबंधी भाषणों में बार-बार ब्रह्मचर्य की महत्ता को उसके मूलभूत गुणों के आधार पर समझने पर बल देते हैं। ऐसे ही एक बार कस्तूरबा ग्राम में ब्रह्मचारयों के सम्मेलन को संबोधति करते हुए विनोबाजी ने स्पष्ट किया, घआज मैं यहाँ मातृस्थान (कस्तूरबा ग्राम) में आया हूँ तो मुझे सिर्फ इतना ही कहना है कि मैं यहाँ पुत्र के नाते आया हूँ, लेकिन कन्या के नाते भी आया हूँ।"

हम स्त्री-शक्ति जगाने की बात करते हैं। परंतु वास्तव में देखा जाए तो शक्ति का जो मूल स्तो है, वह न तो स्त्री-शरीर में है और न पुरुष-शरीर में। शक्ति का मूल स्रोत तो हमारे अंतर में नहिति आत्मा में है। शात्र और आत्मदृष्टा सभी मानते हैं कि आत्मा स्त्री-पुरुष के भेद से रहति है। आत्मा में स्त्री-पुरुष भेद है ही नहीं। इधर स्त्री और पुरुष दोनों के जीवन का उद्देश्य भी एक ही है। मानव मात्र के जीवन का उद्देश्य है-पूर्णता प्राप्त करना। सामाजकि दर्जा, आर्थकि अधकिार, नागरकि अधकिार, कुटुंब में स्थान, नैतकि योग्यता, शिक्षण-समता, मानसकि भाव, गुणोत्कर्ष-ये सारी बातें स्त्री या पुरुष की नहीं, अपतिु मानव मात्र की हैं। इसलिए ये स्त्री और पुरुष दोनों में ही समान होती हैं।

विषय को और अधकि स्पष्ट करने के लिए विनोबाजी भारतीय परंपरा से उदाहरण देते हुए

परमात्मा की एकरूपता का उल्लेख करते हैं। भारतीय धर्म और दर्शन प्रकृति और परमात्मा को वलिग करते हुए स्पष्ट कहता है कि एक ववििधि रूपधारी जड़ है, तो दूसरा एकरस चेतन। एक को भारतीय दार्शनकिों ने कहा 'प्रकृति' और दूसरे को 'पुरुष'। कुछ लोगों ने इन्हें 'माया' और 'महेश्वर' नाम भी दिए। इन्हीं दोनों के संयोग से संसार चल रहा है। 'प्रकृति' शब्द स्त्रीलिंग है और 'पुरुष' पुल्लिंग। इसी शाब्दकि लिंग-भेद का उपयोग कर कवयों ने कहा कि स्त्री 'प्रकृति-तत्त्व' का प्रतनिधित्वि करती है और पुरुष 'पुरुष-परमात्म तत्त्व' का।

विनोबाजी भारतीय दर्शन का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं, घवस्तुतः स्त्री-पुरुष में एक ही पुरुष-तत्त्व, जो चेतन है, समान भाव से मौजूद है और दोनों के शरीर उसी प्रकृति-तत्त्व के बने हैं। दोनों की संसारासक्ति और संसार-बंध समान है तथा मोक्ष का अधकिार भी दोनों को समान है, लेकिन काव्य-शक्ति कसि प्रकार लोक धारणाओं को भमति करके कसि सीमा तक अनर्थ कर सकती है, उसका ये 'प्रकृति' और 'पुरुष' शब्द एक जीवंत उदाहरण हैं।"

त्री-शक्ति के उपयोग में नहिति है विकास की वुंजी

विनोबाजी मानते हैं कि प्रकृति द्वारा निर्धारति स्त्रयों के गुण हिंदुस्तान की स्त्रयों में पूरी तरह प्रकट हुए हैं। इसलिए यदि हिंदुस्तान में इसी स्त्री-शक्ति का उपयोग करने की योजना बनाई जाए, तो हिंदुस्तान के उद्धार की चाबी मलि जाएगी।

विनोबाजी स्त्रयों में जजिीविषा की इसी शक्ति को वैज्ञानकि आधार पर स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि कुछ वैज्ञानकिों ने शोध करके कहा है कि अधकि जिंदगी जीनेवाली स्त्रियाँ जतिनी होती हैं, उतने पुरुष नहीं होते। मतलब, स्त्री के शरीर में जीवन शक्ति पुरुष के शरीर से कम नहीं है। दूसरी बात, एक स्त्री और एक पुरुष, दोनों समान उम्र के हों और समान काम करते हों, तो पुरुष का आहार 2000 कैलोरीज का होगा, जबकि स्त्री को 1600 कैलोरीज का आहार ही पर्याप्त होगा। अतः एक तो स्त्रयों की शक्ति कम नहीं है और दूसरे उन्हें पुरुषों की अपेक्षा आराम की आवश्यकता भी कम होती है। इस प्रकार स्त्री शरीर का यह गुण ही है कि वह शक्ति और श्रम के आधार पर प्रकृति से पुरुष की अपेक्षा कहीं अधकि क्षमताएँ लेकर जनमी है।

नारी का महत्त्व वैदकि सत्य के आलोक में देखना होगा

भौतकि दृष्टि से स्त्री शरीर की वशिषताएँ बताने के बाद विनोबाजी आत्म-क्षात्कार के लिए नारी को अयोग्य ठहराए जाने की धारणाओं का खंडन करते हुए कहते हैं कि यह तो मैंने शरीर-शक्ति की दृष्टि से कहा, परंतु शक्ति का मूल स्रोत शरीर नहीं, आत्मा है, और आत्मा में स्त्री-पुरुष भेद है ही नहीं। तो यदि आत्म-साक्षात्कार की दृष्टि से अथवा ब्रह्मचर्य धारण करने आदि धार्मकि संस्कारों की दृष्टि से स्त्री-पुरुष के कल्पति भेद को भुला दिया जाए, तो

फिर चाहे स्त्री हो या पुरुष, यदि अपने को आत्मरूपेण देखना शुरू करेगा, ते शक्ति आएगी ही। इसलिए हमें नारी के बारे में लगाए गए प्रतबिंधों पर वैदकि सत्य के आलोक में वचािर करना होगा। तभी हम सही निर्णय पर पहुँच सकेंगे।

वेदों में माता का महत्त्व सर्वोपरि

अपने वचािरों की पुष्टि के लिए विनोबाजी वेदों के साक्ष्य को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि-वेद में स्पष्टतः उल्लेख है-'वस्याँ इद्रासि मे पतिु। माता च मे छदयथः समा वासो'-अर्थात् हे इंद्र! तू हमारे पिता से बढ़कर है। हे ईश्वर! तू और मेरी माँ ये दो ही ऐसे हैं, जो मेरे पापों को, मेरे अपराधों को ढाँकते हैं, अतः तुम दोनों ही मेरे लिए समान हो। इसलिए तो गाया गया है-'त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।' इसमें परमात्मा के लिए सर्वप्रथम माता का संबोधन आया है।

स्त्री और पुरुष संबंधी यही धारणा उपनिषदों में भी मलिती है। देवताओं का उल्लेख करते हुए उपनिषद् सबसे पहले माता को ही देवता के रूप में स्वीकार करता है। 'मातृदेवो भव' माता को देवता मानने के बाद फिर अन्य देवताओं की चर्चा करता है, जैसे कि दूसरे स्थान पर 'पतिृदेवो भव' कहकर पिता को देवता स्वीकार किया गया है। फिर तीसरे स्थान पर 'आचार्यदेवो भव' कहकर आचार्य को और तदुपरांत 'अतिथदिवो भव' कहकर अतिथि को देवता स्वीकार किए जाने की आज्ञा दी गई है। इस प्रकार उपनिषद् में भी माता को पहला देव माना गया है, पिता को दूसरा, आचार्य को तीसरा और अतिथि को चौथा। इसके अलावा माता, हजार पिताओं से भी बढ़कर है-यह तो उपनिषदों ने गाया ही है। शात्रों ने यह भी कहा है कि 'जननी जन्मभूमश्चि स्वर्गादपि गरीयसी'। अर्थात् जननी और जन्मभूमि दोनों स्वर्ग से भी बढ़कर हैं।

भारत में आज भी माता का महत्त्व सर्वोपरि है

विनोबाजी कहते हैं कि भारत का इतहिास साक्षी है कि वेद और उपनिषदों में दिए गए ये आदेश कोई सतयुग की बातें नहीं हैं, अपतिु इसी युग में अनेक महापुरुष ऐसे हुए हैं, जनिकी प्रतिष्ठा में सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान उनकी माता का ही है। सुप्रसद्धि संत ज्ञानदेव का एक अभंग प्रसद्धि ही है। यही नहीं, इस देश में ऐसी माताएँ हुई हैं, जन्हिोंने अपने शशिुओं को शिक्षा देने में वास्तव में चमत्कार कर दिया है। जैसे कि अपने शशिु को पालने में सुलाकर, पालना हलिाते-हिलाते ही माता मदालसा ने बच्चे को वेदांत सिखा दिया।

अपनी बात को प्रमाणति करते हुए विनोबाजी कहते हैं कि ऐसे एक-दो नहीं, भारतीय इतहिास में अनगनित उदाहरण भरे पड़े हैं, जनसि बच्चे के भविष्य-निर्माण में माता के योगदान के महत्त्व का पता चलता है। जैसे कि शविाजी को, साने गुरुजी को बचपन में माता से ही बोध मलिा और उसी समय वह उनके हृदय में घर कर गया। श्रुति को शंकराचार्य ने 'माता' कहा है। हम लोग भी ज्ञानेश्वर को 'ज्ञानोबा माउली' (ज्ञानदेव मैया)

कहते ही हैं। गुरु को भी मराठी में 'माउली' कहा जाता है।

त्री के लिए 'अबला' शब्द अपमानजनक

संस्कृत में बहनों के लिए कई शब्द हैं। उनमें एक शब्द है-महिला। स्त्री को भारत में 'महिला' कहते हैं। महिला इतना उन्नत शब्द है कि मुझे इस शब्द पर गर्व होता है। दुनिया की 20-25 भाषाओं का मुझे ज्ञान है-अपने इस भाषा ज्ञान के आधार पर मैं निस्संकोच कह सकता हूँ कि महिला जैसा उन्नत शब्द मुझे उन भाषाओं में से किसी में भी नहीं मिला। महिला यानी महान् शक्तिशाली, बहुत ताकतवाली। बहुत बड़ा शब्द है यह। यह शब्द ही सुझा देता है कि स्त्री के बारे में भारत की क्या राय रही है और इस देश में नारी को महिला कहकर उससे क्या अपेक्षा की गई है। निस्संदेह महिला जैसा संबोधन देकर भारतीय मनीषा ने नारी के शक्ति-संपन्न स्वरूप को रेखांकित किया है। पता नहीं कब और कैसे, किसने नारी के प्रति अबला और शक्तिहीन जैसे शब्दों का अपमानजनक प्रयोग कर दिया और समाज ने इन शब्दों को कुछ इस प्रकार अपनाया कि शक्ति का मूल आधार नारी आज तक कमजोरी की इस धारणा से उबर नहीं पाई है।

'स्त्री' शब्द ही गुणों के विस्तार का बोधक है

प्राचीन भारत में नारी के लिए एक नहीं, ऐसे अनेक शब्द मिलते हैं, जो उसकी गरिमा को गौरव की सीमा तक प्रसारित करते हैं। हमारे यहाँ नारी के लिए प्रयोग होने वाला वैसा ही एक अन्य शब्द है-त्री। 'स्त्री' शब्द भी अपने आप में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण शब्द है। वास्तव में यह जो 'स्त्री' शब्द है, वह संस्कृत की 'स्तृ' धातु से बना है। संस्कृत में 'स्तृ' का अर्थ होता है-विस्तार करना, फैलाना। विस्तार किसका? निश्चित ही गुणों का विस्तार और नारी के गुण क्या हैं? ये गुण हैं-प्रेम, दया, करुणा, पालन की प्रवृत्ति, त्याग, समर्पण और अथक परिश्रम आदि। यदि हम गौर से देखें तो सचमुच दुनिया की सारी औरतों ने मानवता की रक्षा के लिए अपने इन्हीं सदगुणों को दुनिया भर में प्रसारित करके अपने अत्यंत महत्त्वपूर्ण दायित्व का पालन किया है। प्रेम को समूची दुनिया में फैलाना, स्त्री का यह कार्य उसको दिए गए स्त्री संबोधन से सूचित ही है। प्रेम दुनिया के सबसे महत्त्वपूर्ण शब्दों में से एक है। यह प्रेम ही तो है जिस पर समूची मानवता का दायित्व टिका हुआ है। प्रेम को हमने नितांत संकुचित अर्थों में ले लिया है, जबकि मानव सभ्यता का इतिहास साक्षी है कि प्रेम एक अनमोल शब्द है।

भारत की नारी महिला थी और महिला है

वैसे तो बहनों के लिए एक दूसरा शब्द भी प्रचलित है 'अबला'। समाज में और कविताओं में अबला शब्द खूब प्रयुक्त हुआ है। अबला के माने है-बल से रहित, अर्थात् दुर्बल या कम ताकतवाली, यानी कि जिसकी रक्षा दूसरों को करनी होगी-रक्षणीया। बड़ा अजीब

विरोधाभास है कि नारी को इधर अबला भी कहा और उधर महलिा भी कहा। दो नाम दे दिए। परंतु मैंने देखा है, हिंदुस्तान में स्त्रियों की कई संस्थाएँ खड़ी हैं, लेकिन कहीं अबला समिति देखी नहीं, महलिा समिति देखी हैं। यानी कि बहनों ने परीक्षा की है और महलिा शब्द चुन लिया है। मतलब, महलिाओं ने तय किया कि हमारी महान् शक्ति बनेगी, अल्प-शक्ति नहीं, बल्कि संस्कृत में तो 'शक्ति' शब्द ही स्त्रीलिंग है।

प्राचीन भारत में समाज और स्त्री

'मनुस्मृति' में एक वाक्य है, जसिका अर्थ लोग ठीक से समझते नहीं। अर्थ समझने के लिए संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान चाहिए। दूसरी बात यह है कि भाषा के अर्थ देश, काल और वातावरण के अनुकूल चलते हैं और समय के साथ-साथ बदलते रहते हैं। आज जनि शब्दों का जो अर्थ होता है, वह अर्थ प्राचीन काल में नहीं होता था। मनु कहते हैं-

बाल्ये पतिुर्वशे तिष्ठेत्। पाणगि्राहस्य यौवने।।

पुत्राणां भर्तरि प्रेते। न भजेत् स्त्री स्वतत्रताम्।।

अर्थात् बाल्यकाल में स्त्री को पिता के वश में रहना है, यौवन में पति के वश, आयु के वार्धक्य में पुत्र के वश में रहना है, न भजेत् स्त्री स्वतत्रताम्-इसका अर्थ यही है कि जब स्त्री को बाल्यकाल से लेकर सक्षम रहने तक परविार के किसी-न-किसी दायति्व को नभिाते रहना है, तो फिर उसके जीवनयापन की जमि्मेदारी को वह खुद कैसे सँभाल सकती है-अर्थात् उसे अपने को जीवनयापन संबंधी जमि्मेदारयों से स्वतंत्र रखना चाहिए। बात बड़ी स्पष्ट है कि नारी जब बचपन में अपने पिता को सहयोग देगी, युवावस्था में पति को सामाजकि दायति्वों में सहयोग देकर एक कुशल नागरकि के रूप में स्थापति करेगी और पुत्र हो जाने पर पुत्र को संस्कारवान बनाएगी तो आखिर उसके अपना पेट पालने की, आजीवकिा-संपादन की जमि्मेवारी तो स्त्री पर नहीं होनी चाहिए। उसपर यह जमि्मेवारी डालना कि तुम बच्चे भी पैदा करो, उनका पालन-पोषण करो और ऑफसि में जाकर काम भी करो, यह तो किसी भी प्रकार से उचति नहीं है। उचति तो क्या मेरी दृष्टि में तो यह स्त्री पर इतना बड़ा जुल्म है कि इससे अधकि जुल्म की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता।

प्राचीन काल में ववािह और भारतीय नारी

भारतीय दर्शन में शादी करने या न करने का अधकिार जतिना पुरुष को है, उतना ही स्त्री को भी है। वैदकि काल में नारी का यह अधकिार पूरी तरह सुरक्षति था। उस काल में आज जैसी व्यवस्थाएँ नहीं थीं। नारी और पुरुष में न तो भेद था और न ही महत्त्व की दृष्टि से कोई छोटे-बड़े जैसी धारणा थी। दोनों ही समाज के विकास में बराबर की भूमकिा नभिाते थे। नारी यदि ब्रह्मवादनिी रहना चाहती थी तो यह उसका मौलिक अधकिार था। वह स्वेच्छा से वैसा कर सकती थी। जैनों में आज भी उत्तम और श्रमाणियाँ हैं। रोमन कैथोलकि में भी ब्रह्मचारिणी स्त्रियाँ होती हैं, प्रोस्टेंटस में नहीं होती हैं, लेकिन समय के साथ-साथ

हिंदुओं की धार्मकि मान्यताओं में परविर्तन आया और 'कलविर्ज्य' प्रकरण में हिंदू-धर्म में शादी की जम्मिेवारी स्त्री पर डाली गई।

भारतीय मनीषा में नारी सर्वेच्च आदर की पात्र

शंकराचार्य का वाक्य है-'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।' अर्थात् कोई कुपुत्र पैदा हो सकता है, लेकिन माता कभी कुमाता नहीं हो सकती। शंकराचार्य परव्रािजक थे, फिर भी माता के लिए कतिना आदर! उन्होंने माता को वचन दिया था कि आखिरी दनिों में तेरा दर्शन करने आऊँगा। तब तक उन्होंने क्षेत्र-संन्यास नहीं लिया था। अंतमि समय माता का दर्शन किया और उनका अंतमि श्राद्ध वगैरह करने के बाद फिर बदरी-केदार जाकर क्षेत्र-संन्यास लिया। तात्पर्य यह है कि उन्होंने संन्यास लेने के बाद भी मातृविषयक कर्तव्य पूरा किया। इस सबका तात्पर्य यह है कि हमारे यहाँ स्त्री-पुरुष की बराबरी का सवाल ही नहीं उठता; क्योंकि स्त्रयों को हमारे यहाँ प्राचीन काल से लेकर अब तक पुरुषों से ज्यादा अधकिार दिया गया है। इसलिए स्त्रयों को समान अधकिार होना चाहिए, यह कहना, दूसरे शब्दों में उनके उच्च अधकिार को कम करना है।

त्री को मताधकिार सहज प्राप्त हुआ

पश्चमिी देशों, जैसे कि यूरोप में, इंग्लैंड वगैरह में स्त्रयों को वोट का अधकिार नहीं था। इसलिए उन्हें अपना मताधकिार पाने के लिए आंदोलन करना पड़ा। वहाँ बहनों ने पार्लियामेंट में जाकर पुरुषों पर अंडे फेंके। लंबे-लंबे आंदोलन किए, तब जाकर उन्हें वोट का अधकिार मलिा; लेकिन भारत में स्त्रयों को वोट का अधकिार प्राप्त करने के लिए कुछ भी करना नहीं पड़ा; बल्कि यहाँ यह अधकिार स्वाभावकि ही माना गया कि जैसे पुरुषों का हक है, वैसे ही स्त्रयों का भी है। दूसरी बात यह है कि यहाँ पर स्त्री प्राइम मनिस्टिर हो सकती है और थी भी। चीफ मनिस्टिर, गवर्नर हो सकती है और है भी। तात्पर्य यह है कि आज भारत में स्त्रियाँ किसी भी स्थान पर जा सकती हैं। भारत की सोच इस बारे में सदा ही उदार रही है, और इसका एक बड़ा कारण यह है परस्थितियाँ चाहे कैसी भी हों, लेकिन हमारे रक्त में नारी को सम्मानति मानने के संस्कार अनादि काल से निरंतर प्रवहमान हैं। इसलिए हम नारी को सदा सम्मान की दृष्टि से देखते हैं।

श्रीकृष्ण, महावीर और गांधी स्त्रयों के तीन उद्धारक

भारत में नारी सम्मान की परंपरा बहुत पुराने जमाने से चली आई है, और आज भी यह परंपरा हमारे संस्कारों में पूरी शक्ति के साथ रमी-बसी है। यह परंपरा कम-से-कम पाँच हजार साल की तो है ही। इसके इतहिास की कहानी हमारे हजारों ग्रंथों में भरी पड़ी है। जहाँ तक मुझे मालूम है, स्त्रयों के उद्धार के लिए भारत में जो कोशशिें हुइऔ, उनमें प्राचीनकाल में देखें तो भगवान् श्रीकृष्ण और उसके बाद महावीर स्वामीजी, जैसे-ये दो

नाम तो प्रमुख रूप से नजर आते ही हैं और यदि हम अर्वाचीन काल की बात करें तो नसि्कोंच इसी क्रम में गांधीजी का नाम चमकता हुआ दिखाई देता है। बीच का सारा समय बलिकुल शुष्क गया हो, ऐसी बात भी नहीं है। उस काल की भी अपनी एक कहानी है। परंतु भारतीय परंपरा में ये तीन नाम तो ऐसे हैं, जो भुलाए नहीं जा सकते।

त्री और पुरुष के प्रति श्रीकृष्ण की अभेद-दृष्टि

श्रीकृष्ण ने समाज को दशिा देने के लिए अप्रतमि काम किया। श्रीकृष्ण के नारी सम्मान के लिए किए गए कार्य में पारंपरकि वैदकि संन्यास-दीक्षा से कुछ हटकर प्रयास किए गए हैं। उनका कार्य वास्तव में संन्यास दीक्षा का नहीं, बल्कि स्त्री-पुरुष में भक्ति-भावना को समान रूप से संचरति करने का है। श्रीकृष्ण का निर्देश कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि वे स्त्री और पुरुष के अनासक्त तथा निर्लपि्त भाव से रहते हुए आपस में किसी प्रकार का संकोच न रखने पर बल देते हैं।

वसिंगतियाँ तो हर काल में रही हैं

वसिंगतियाँ तो हर काल में रही हैं। समय-समय पर ऐसे अवसर आते रहे हैं, जनसि लगता है कि स्त्री और पुरुषों के बीच गहरी खाई है। ऐसा ही एक काल आया, जब पुरुष संन्यासी स्त्रयों का दर्शन भी नहीं कर सकते थे। मीरा का प्रंग विख्यात है। उस समय संन्यासयों का इतना कड़ा रुख था कि स्त्रयों को दर्शन देना तक उनको स्वीकार नहीं था, तो फिर ऐसे में स्त्रयों को संन्यास देने की बात कैसे की जा सकती थी? लेकिन उस जमाने में भी कुछ समय बीतते-बीतते आखिर भक्ति-मार्ग ने स्त्रयों के संन्यास लेने का रास्ता खोल दिया। मारवाड़ में मीराबाई, उत्तर प्रदेश में सहजोबाई, महाराष्ट्र में मुक्ताबाई आदि कई स्त्रियाँ भक्त-शिरोमणि नकिलीं।

श्रीमद्भगवद्गीता में नारी विषयक दृष्टकिोण

भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता के दसवें अध्याय में नारी की सप्तशक्तयों का वसि्तार से ववरिण प्रस्तुत किया है। ये शक्तियाँ इस प्रकार हैं-'कीर्ति श्रीर्वाक्य नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा।' इसमें कोई सुव्यवस्थति वागीषा नहीं है, लेकिन इस वाक्य में मैंने व्यवस्था देखी। सात व्यक्तयों का चुनाव करके नारीणाम्-नारियें में इन शक्तयों के रूप में हूँ, ऐसा भगवान् ने अपना स्वरूप बताया। इसमें मैंने एक योजना देखी, इसलिए उसमें मेरा चिंतन चला।

कीर्ति, कृति की सुंध है

'कीर्ति' के माने हैं-कृति के परिणामस्वरूप दुनिया में पैदा होनेवाली सद्भावना। कीर्ति-संकीर्तन नाम भी इसी भावना का द्योतक है। कृति मूल है। कृति में कीर्ति अंतर्भूत है। कृति

की परंपरा को आगे बढ़ाने वाली शक्ति को 'कीर्ति' कहते हैं। कीर्ति एक स्त्री-शक्ति मानी गई है। वैसो् तो कृति की परंपरा चलाने की जम्मिेवारी सारे समाज पर ही पड़ती है, परंतु कह दिया कि 'नारीणां कीर्ति'। तो कृति की सुंध फैलाने की जम्मिेवारी स्त्रयों पर वशिष रूप से आ गई।

श्री अर्थात् लक्ष्मी, कांति और शोभा का संतुलन

दूसरी शक्ति है-श्री। 'श्री' शब्द बहुत पुराने जमाने से चला आया है। श्री-राम, श्री-कृष्ण हम कहते हैं। यह शब्द ऋग्वेद का है। अग्नि का वर्णन करते हुए उसकी 'श्री' का वर्णन किया है- 'सदर्शतः श्री'। 'अग्नि' को कांति दर्शन-श्री यानी दर्शनीय कहा गया है। अग्नि से लक्ष्मी पैदा होती है। श्रम-शक्ति में भी 'श्री' है। इस तरह 'श्री' शब्द के मुख्य अर्थ हुए-लक्ष्मी, कांति, शोभा आदि।

ववकि से 'स्मृति' सार्थक होती है

स्मृति का वश्लिेषण करते हुए विनोबाजी कहते हैं कि 'स्मृति' बहुत ही सूक्ष्म मानसकि शक्ति है। मनुष्य के द्वारा जो कर्म किए जाते हैं, वे तो पूर्णता को प्राप्त होने पर समाप्त हो जाते हैं, लेकिन उन कर्मों के दौरान घटी अच्छी-बुरी घटना का सुखमय या दुखमय संसार सदा के लिए चित्त पर अंकति हो जाता है और परस्थितियों के आने पर वह उभरकर मानस-पटल पर हलिोरें लेने लगता है। शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म होने के कारण संस्कार भी दोनों प्रकार के होते हैं। उन संस्कारों का रिकॉर्ड मन में सुरक्षति होता है। इन्हीं सुरक्षति संस्कारों के संग्रह को 'स्मृति' कहते हैं। उनमें से कुछ वशिष स्मृतियाँ ही दीर्घकालीन होती हैं; क्योंकि सबकी सब स्मृतयों का बोझ चित्त नहीं उठाता। इसलिए चित्त उनमें से सामान्य सी या अनावश्यक स्मृतयों को फेंक देता है और जो कुछ रह जाता है, उसको 'स्मृति-शेष' कहेंगे। अच्छी स्मृति का अच्छा और बुरी का बुरा असर, जो चित्त में शेष रह गया है, वही 'चित्त स्मृति-शेष' कहा जाता है। अच्छी स्मृति का अच्छा और बुरा असर चित्त पर होता है। अच्छे और बुरे चित्त स्मृति-शेष को अलग-अलग करके संचति करने का काम 'विवेक' करता है। इस प्रकार ववकि का अर्थ है-चित्त की चयन-शक्ति।

अमृत के नाम पर विष परोस रहा है साहत्यि

मैंने देखा है कि विषय-वासना को प्रेरणा देने वाले शृंगारकि साहत्यि ने मनुष्य की वासना को भड़काने में बड़ी भूमकिा नभिाई है। उसे लिखनेवाला मनुष्य तो वासना को उत्तेजति करने के बारे में सोच-सोचकर अपने मानसकि स्तर को वकिृत करता ही है, उससे भी कहीं अधकि ऐसे साहत्यि को पढ़नेवाला वचिारों की कुत्सति अवस्था के कारण वासना के गर्त में गिर सकता है। इसलिए शृंगारकति के नाम पर रचे गए, वासना बढ़ाने वाले साहत्यि से समाज को, और खासकर बच्चों को अलग रखना ही होगा।

माँ के सामने सुरक्षा का अहसास

माता के सामने कैसी असुरक्षा? होना तो यह चाहिए कि ब्रह्मचारी के सामने यदि कोई स्त्री आती है, तो वह अपने को ज्यादा पवत्रि और सुरक्षति महसूस करे। मेरा अपना तो यह अनुभव है कि जब सामने कोई स्त्री आती है, तो लगता है कि मेरी माता ही आ गई है। इसलिए मुझे अधकि सुरक्षा मालूम होती है। माता पास खड़ी हो, तो हम गलत काम नहीं करते। उसी तरह ब्रह्मचारी को स्त्री के सान्नधि्य से अधकि सुरक्षा महसूस होनी चाहिए। अतः ब्रह्मचारी को स्त्रीs के संपर्क से बचना चाहिए, यह खयाल ही गलत है। उसके मन में स्त्री को लेकर नाहक कृत्रमि मर्यादाएँ डाली जाती हैं, जो लाभ के स्थान पर नुकसानदायक ही साबति होती हैं।

पुरुष के दोषों का नुकसान उठा रही है आज की स्त्री

सामाजकि मान्यताओं ने स्त्री के प्रति एक ही प्रकार की दृष्टि वकसिति की है और वह है कि स्त्री को वासनात्मक दृष्टि से देखने की दृष्टि। इस दृष्टदिोष के लिए जम्मिेवार पुरुष वर्ग है और इसके कारण वभिन्नि प्रकार के बंधनों या पिछड़ेपन का खामियाजा उठाना पड़ रहा है स्त्री को। सभी धर्मों में नारी की लगभग यही स्थिति है। मुसलमानों का परदा लीजिए, उसके मूल में भी यही बात है। हिंदुओं में स्त्री की अपात्रता मानी गई है। यह सब गलत है। प्रोटेस्टेंटों का खयाल करीब-करीब मुसलमानों जैसा ही है। वे मानते हैं कि ब्रह्मचर्य अशक्य वस्तु है और गृहस्थाश्रम ही आदर्श है, लेकिन कैथोलकिों में भाई और बहन, दोनों ब्रह्मचारी होते हैं। इसलिए साधना में एक सामाजकि विषय आता है कि स्त्री की तरफ कसि दृष्टि से देखना चाहिए! स्त्री-पुरुष के संबंध की तरफ देखने की हमारी आज की दृष्टि में आमूलचूल परविर्तन किए जाने की आवश्यकता है।

ब्रह्मचारी की नारी विषयक दृष्टि

ब्रह्मचारी की दृष्टि यह नहीं होनी चाहिए कि वह स्त्री को देख ही नहीं सकता। मुझे रामायण का एक प्रंग याद आता है। जब रावण सीता को हरण कर ले गया, तब लंका जाते समय सीता ने अपने गहने एक-एक करके फेंक दिए, जसिसे रामचंद्र को पता चले कि उसे कसि रास्ते से ले जाया गया है। प्रभु रामचंद्र ने लक्ष्मण को सीता के गहने दिखाए और पूछा कि क्या तुम गहने पहचानते हो? तब लक्ष्मण ने जवाब दिया-

'नाहं जानामि केयूरे, नाहं जानामि कुण्डले।

नूपुरे त्वभजिानामि, नति्यं पादाभवन्दिनात्।'

अर्थात् केयूर और वुंडल, जो ऊपर के हसि्से के गहने हैं, वे मैं नहीं पहचानता, लेकिन नूपुरों को पहचानता हूँ, क्योंकि प्रतदिनि सीताजी की पाद-वंदना करते समय मैंने उनके नूपुरों को देखा था।

वात्सल्य और प्रेम का अंतर समझना जरूरी है

एक बार किसी ने मेरे एक मित्र की कहानी सुनाई। उसने गाय का एक सुंदर बछड़ा देखा। उससे रहा नहीं गया और प्रेम से उस बछड़े को उठा लिया। उसने तो मेरे मित्र के वात्सल्य का वर्णन करने के लिए यह कहानी सुनाई, लेकिन मैंने कहा कि इसमें क्या वात्सल्य है? सुंदर बछड़ा देखा और उठा लिया। वह गंदा होता, तभी तो वात्स्ला्य की जरूरत थी; क्योंकि प्रेम से उसे साफ करने के लिए वात्सल्य आवश्यक था। अगर वह किसी गंदे बछड़े को देखते ही उठा ले और प्रेम से साफ करे, तब तो हम उसका प्रेम समझेंगे, लेकिन अगर आप किसी सुंदर वस्तु को देखते ही फौरन उठा लेते हैं, तो इस प्रकार तो आप अपनी सौंदर्य भावना को उस बछड़े को आधार बनाकर भोग रहे हैं। सूक्ष्म वश्लिेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाएगा कि इस प्रकार के व्यवहार में सेवा नहीं है, भोगवृत्ति कार्य कर रही है।

मैं मानता हूँ कि अगर कोई बच्चा भयभीत है, तो उसे उठा लेना चाहिए, उसे ढाढ़स दलिाना चाहिए। लेकिन उसने गाय के सुंदर बछड़े को तो नाहक उठा लिया। उसमें क्या भाव था?

सामाजकि जीवन में भी संसर्ग नहीं, संपर्क रखें

हमारे यहाँ रविाज है कि एक-दूसरे से मलिने पर नमस्कार करते हैं और पश्चमि में शेकहैंड करते हैं। हमारी मान्यताओं के अनुसार दोनों प्रकार के व्यवहार अलग-अलग हैं। भारतीय व्यवहार संपर्क का सूचक है और पश्चमिी व्यवहार संसर्ग की श्रेणी में आता है। हम संसर्ग को नहीं, संपर्क को उचति मानते हैं। यह एक साधारण उदाहरण मात्र है। हमारी और यूरोपवासयों की अलग-अलग परंपराएँ हैं। शेकहैंड करना उनकी परंपरा है और ऐसा कर लेने से यूरोप के लोग निंदति नहीं होते। हमारा नमस्कार का रविाज जरा मर्यादाशील है। यह एक अलग बात है।

यूरोप के लोग सम्मान करने के लिए फूलों का गुलदस्ता बनाकर हाथ में देते हैं। उस गुलदस्ते में सभी फूल एक साथ बँधे होते हैं। हमारे यहाँ माला देने का रविाज है, जसिमें हर फूल अलग-अलग पिरोया रहता है। हर फूल स्वतंत्र होता है। एक साधारण सी् चीज है, लेकिन गुलदस्ते में संसर्ग है, संपर्क नहीं और माला में संपर्क है, संसर्ग नहीं। माला में सब फूलों को जोड़ने वाली कड़ी है-धागा, इसलिए संपर्क है। माला भारत की सभ्यता की प्रतीक है और गुलदस्ता पश्चमि की सभ्यता का।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि संसर्ग में शरीर के स्पर्श की क्रिया प्रमुख नहीं है। प्रमुख है स्पर्श होने में आने वाली भावना। उदाहरण के लिए, बीमार की सेवा के लिए जो संसर्ग होता है, वह संसर्ग नहीं माना जाएगा, लेकिन कोई छोटा, मासूम बच्चा है, माँ-बाप, भाई-बहन, पड़ोसी चार-पाँच बार आकर उनका चुंबन लेते हैं। यह तरीका बहुत ही गंदा और गलत है। माताएँ बच्चों का चुंबन लेती हैं। मैं खूब सोचता हूँ कि इससे क्या होता होगा? यह तो एक संसर्ग है। इससे भावनाओं की संतुष्टि भले ही हो जाए, लेकिन मेरी सोच में तो यह रविाज बहुत गंदा है।

मानस, औरत और दत्तक संतति के तीन प्रकार

मनुष्य की जो त्रविासना गनिाई गई हैं, उसमें एक पुत्र-वासना भी है। परंतु पुत्र-संतति भी तीन प्रकार की होती हैं-मानस पुत्र, औरस पुत्र और दत्तक पुत्र। मानस पुत्र महापुरुषों की वचिार-संपत्ति को आगे ले जाता है। औरस पुत्र शरीर-संपत्ति का मालकि होता है, जैसाकि या तो वह बाप का रोग विरासत में लेता है या फिर बाप का मजबूत शरीर, और दत्तक पुत्र तो बाप की केवल संपत्ति ही लेता है। इसलिए स्थूल संतति-निर्माण के लोभ में नहीं पड़ना चाहिए।

जो लोग मोक्ष पाने के लिए नकिले थे, उन्होंने धर्म, अर्थ और काम की भावना का परत्यािग कर दिया था। ईसा मसीह खुद ब्रह्मचारी थे।

मानव जीवन का अंतमि संबल मोक्ष

मानव जीवन का अंतमि उद्देश्य है-मोक्ष। भारतीय दर्शन की दृष्टि में मोक्ष ऐसी अवस्था है, जो धर्म, अर्थ और काम से परे है। उम्र के आखिरी हस्सिे में धर्मार्थकाम की तृप्ति के बाद सबको मोक्ष वासना होनी चाहिए और मेरे जैसे भीरु और आलसी के लिए बचपन से ही संन्सास ही एकमात्र लक्ष्य है। 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्। गृहाद् वा वनाद् वा।' बहुत उत्तम या नंबर एक की बात तो यह है कि ब्रह्मचर्य से ही संन्यास लें। नंबर दो की बात यह है कि गृहस्थाश्रम से संन्यास ले लें, और नंबर तीन की बात यह है कि वानप्रस्थाश्रम से संन्यास लेना चाहिए। यानी कि तीन सीढ़ियाँ चढ़ने के बाद चौथी चढ़ना। यदि आप पहली सीढ़ी से चौथी सीढ़ी पर कूद सकते हो तो कूदो। नहीं तो धीरे-धीरे एक-एक सीढ़ी चढ़ो। अगर आपको अपना जीवन सार्थक करना है, तो आखिरी मोक्ष की सीढ़ी तो चढ़नी ही पड़ेगी।

धर्मचर्चा में श्रोताओं के प्रश्नों का विनोबा द्वारा समाधान

विनोबाजी जब धार्मकि उपदेश देते तो श्रोता बहुत प्रभावति होते और धर्म के बारे में नई सी लगने वाली इतनी सरल बातों को सुनकर तथा सामयकि परप्रिेक्ष्य में उनकी संगति बिठाने के लिए अपनी जज्ञिासाओं को प्रश्न के रूप में विनोबाजी के सामने रखते। विनोबाजी इन प्रश्नों का उत्तर देकर उनकी जज्ञिासा शांत करते। यहाँ हमने सुधी पाठकों के लाभार्थ ऐसे ही कुछ प्रश्नों का संकलन प्रस्तुत किया है-

प्रश्न : सांसारकि कर्तव्य अदा करते हुए प्रतकूिल संयोग तथा वातावरण में रहनेवाला व्यक्ति आत्मोन्नति के लिए क्या कर सकता है?

विनोबा : 'सांसारकि कर्तव्य नाम का कोई भी कर्तव्य नहीं', ऐसा अपने मन में पक्का नश्चिय करना होगा। लड़की समझती है कि माँ की जम्मिेदारी मुझ पर है। उसकी जम्मिेवारी तुझ पर है कि परमेश्वर पर? मान लो, आज परमेश्वर तुझे उठा लेगा, तो तेरी माँ को कौन सँभालेगा? लेकिन रोज परमेश्वर का दर्शन करना यह फर्ज है, कर्तव्य है। उसके

लिए शरीर को खलिाना पड़ता है और हम जो खाते हैं, वह समाज से मलिता है। इसलिए समाज की थोड़ी सेवा करें। यह सेवा कर्जा चुकानेवाली है। भगवान् की भक्ति कैसे हो, आत्म-साक्षात्कार कैसे हो, अहंकार कैसे मटि-इसके लिए कोशशि करना हमारा कर्तव्य है। बाकी कोई सांसारकि फर्ज या जमि्मेवारी नहीं। हमारे समाज में लड़की की शादी के लिए कुछ अपेक्षा भी नहीं रहती। परंतु लड़की यदि मोक्ष-प्राप्ति की साधना करना चाहती है तो माता-पिता दुखी होते हैं और उससे सांसारकि कर्तव्य की अपेक्षा रखते हैं। यह गलत बात है। माँ-बाप में तो 'पालक-वृत्ति' होनी चाहिए। उनके तीन लक्षण हैं-

(1) अपने पर जतिना प्यार करते हैं, उससे अधकि अपने बच्चे पर करना।

(2) बच्चे को अच्छी शिक्षा देकर तैयार करना।

(3) आखिर में बच्चों को सारा कारोबार सौंप देना।

ऋग्वेद में एक वचन आता है 'गृहे गृहे दमे दमे'-हर घर में साधना चलती है। 'दम' शब्द गृह का एक पर्यायवाची शब्द है। प्राचीन काल में घर के उस भाग को जहाँ जीवन नियमयुक्त बने, ऐसी साधना जहाँ होती थी, उसको 'दम' कहते थे। यह शब्द वैदकि संस्कृत से लैटनि में गया और लैटनि से अंग्रेजी में उतर आया। आज भी अंग्रेजी में 'मैडम' शब्द है, फ्रेंच में 'मादाम' शब्द है-यह शब्द सही मायने में घर की गृहिणी के लिए प्रयुक्त होते हैं। गृहिणी, जो घर में सभी सदस्यों के निर्वाह की व्यवस्था करती है।

भारतीय दर्शन में 'काम' अत्यंत महत्त्वपूर्ण देवता

कोई भी कार्य करने की प्रेरणा 'काम' से मलिती है। 'काम' न होता तो मुझे माँगने की प्रेरणा ही न होती। इसलिए हमारी धर्म-परंपरा में जैसे अग्नि देवता है, ठीक वैसे ही काम भी देवता है। क्योंकि दोनों ही देने का कार्य करते हैं, लेकिन देवताओं का जैसे उपयोग होता है, ठीक वैसे ही दुरुपयोग भी हो सकता है। जैसा अग्नि का दुरुपयोग हो सकता है, वैसे ही काम का भी दुरुपयोग हो सकता है। फिर भी अग्नि देवता हैं, वैसे ही यह काम-देव हैं।

सर्जन की प्रक्रिया है-प्रजनन-प्रक्रिया

कवयों को काव्य की प्रेरणा होती है, परिणामतः कवतिा का सर्जन होता है। वैज्ञानकिों को खोज की प्रेरणा होती है, परिणामतः नए-नए आविष्कार सामने आते हैं। इसी प्रकार की अनेकानेक प्रकार की सर्जन प्रक्रियाएँ हर समय हमारे इर्द-गिर्द होती रहती हैं। ये सब भनि्न-भिन्न सर्जन-प्रेरणाएँ अपेक्षाकृत सूक्ष्म हैं। इनकी अपेक्षाकृत संतानोत्पत्ति अत्यंत स्थूल प्रेरणा है। यदि हम प्रक्रिया की सूक्ष्मता पर उसके परिणाम अर्थात् सर्जन की ओर ध्यान देंगे, तो सर्जन-शक्ति दवि्य रूप धारण करती हुई दिखाई देगी। यही देखना तो

वास्तव में देखना है। हमारे धर्माधकिारियों ने दृष्टि की इसी सूक्ष्मता से मानसकि क्रिया-प्रक्रियाओं को देखा-परखा और वश्लिेषण किया तथा इसी रूप में उनको ग्रहण भी किया। इसी दृष्टि से हमारे यहाँ ब्रह्मचारी हनुमानजी का जीवन बड़ा ही प्रेरणास्पद है। शात्रों में ब्रह्मचारी हनुमानजी को सीताजी और श्रीराम का सेवक माना गया है।

गृहस्थाश्रम में सभी आश्रमों का समन्वय

एक तरफ ब्रह्मचर्य, दूसरी तरफ गृहस्थाश्रम, दोनों हों। गृहस्थाश्रम अगर शात्रसम्मत हो, यानी हमारे शात्रकारों की आज्ञा के मुताबकि हो, तो वह ब्रह्मचर्य से बहुत ज्यादा पवति्र है। इसलिए शात्रकारों ने गृहस्थाश्रम को सर्व आश्रमों का समन्वय कहा है। ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम, संन्यासाश्रम इन चारों आश्रमों के जो गुण हैं, वे सब गुण गृहस्थाश्रम में मौजूद हैं, अगर वह शात्रों के मान्यता के अनुरूप है। छांदोग्य-उपनिषद् के अंत में 'गृहिणा उपसंहारः' आया है। छांदोग्य का उपसंहार गृहस्थाश्रम से किया है-कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्याय अधीयाः।

गृहस्थ कैसा् होना चाहिए-कुटुंब में, पवति्र स्थान में बैठकर रोज स्वाध्याय करे, यह ब्रह्मचर्याश्रम का पहला लक्षण है और 'धार्मकिान् वदधित्'-अपनी संतति को धार्मकि बनाए, यह गृहस्थाश्रम का दूसरा लक्षण हुआ। 'अहिंसन् सर्वभूतानि, अन्यत्र संप्रतिष्ठाप्यः।'-यह तीसरा लक्षण वानप्रस्थाश्रम का है। 'अहिंसन् सर्वभूतानि, अन्यत्र तीर्थेभ्यः'-किसी भूत की हिंसा न करे-यह चौथा लक्षण संन्यासाश्रम का लक्षण है। इस तरह चारों आश्रमों का सार गृहस्थाश्रम में आता है।

परत्री के साथ व्यभचिार

एक बार कशिोरलाल भाई से मेरी बात हो रही थी। मैंने कहा, "क्या नरसी मेहता, क्या तुकाराम, क्या कहते हैं ये लोग? 'पराविया नारि माउली समान', 'परत्री जेने मात रे!' ब्रह्मचर्य की बात तो करते ही नहीं ये लोग।" तब कशिोरलाल भाई ने कहा, "आपको इसका अनुभव नहीं है। जानता हूँ कि परत्री को जसिने माता माना, ऐसा गृहस्थ लाख में एकाध होगा। अपनी पत्नी के साथ उनका व्यभचिार चलता ही है अखंड। परंतु दूसरी किसी स्त्री के साथ व्यभचिार नहीं किया होगा जनि गृहस्थों ने, ऐसे गृहस्थों की गनिती की जाए तो लाख में एकाध मलिेगा। इसलिए उन संतों ने कहा कि परत्री को माता मानो।"

काम के संदर्भ में स्त्रयों में भी जागृति आवश्यक

काम के संदर्भ में मजबूरी के कारण ही सही, जो भूल पुरुष करते हैं, वही भूल स्त्रियाँ भी करती हैं। इसलिए आवश्यक है कि स्त्रयों को भी अपनी भूल सुधारनी होगी। इसके लिए पहली बात तो यह है कि जब तक स्त्रयों में ब्रह्मचर्य का तत्त्व दाखलि नहीं होगा, तब तक स्त्रयों का उद्धार नहीं होगा, यह पक्की बात है। गंदे सनिमा को सरकार रोक सकती है। गंदे

साहत्यि को रोका जा सकता है। यह सब अपने हाथ की बात है। अगर हम इस तरह की खराब चीजें रोकेंगे, तो इस विज्ञान के जमाने में ब्रह्मचर्य-पालन अत्यंत सरल होगा। लेकिन इसके साथ-ही-साथ स्त्रियों को चाहिए कि वे अपने आचरण से पुरुषों की कामवृत्ति को संतुलति करें और उन्हें ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए मानसकि रूप से तैयार करें।

ममता तो हो लेकिन मोह नहीं

यदि कोई महलिा ऐसा सोचती है कि भगवान् के दिए बच्चे हैं, उनकी सेवा कर रही हूँ, अपना कुछ नहीं है। साथ ही यदि उसकी सोच ऐसी हो कि भगवान् की चीज है, जब भगवान् बुलाए, तब खुशे से जाने को राजी रहे, तो घर-गृहस्थी चलानेवाली वह औरत भे मुक्ति पा सकती है। इसके वपिरीत कोई संन्यासी घूमता है, परोपकार का, नसि्स्वार्थ काम करता है, लेकिन उसमें उसकी आसक्ति बँध जाती है, इसलिए जाने का मौका आने पर झिझकता है, तो समझना चाहिए कि उसे मुक्ति मलिने वाली नहीं है।

सार यह है कि हम घर का संसार देखते हैं कि दुनिया का संसार, यह महत्त्व का नहीं। चित्त में आसक्ति रखी या नहीं, यह महत्त्व का विषय है।

गृहस्थ की परभिाषा

सामान्यतः गृहस्थ की जो व्याख्या की जाती है, उसमें कहा जाता है कि 'गृहे तिष्ठति इति गृहस्थः।' अर्थात् जो घर में रहता है, वह गृहस्थ है, लेकिन यह गृहस्थ की अधूरी परभिाषा है। गृहस्थ की एक परभिाषा और है, जसिमें कहा गया है-'गुणानां मध्ये तिष्ठति इति गृहस्थः।' अर्थात् जो तीनों गुणों में तटस्थ बुद्धि से रहता है, वह गृहस्थ है।

कुछ वद्विानों ने 'शरीरं गृह मुच्यते' कहकर शरीर की घर से तुलना की है। अर्थात् गृहस्थ वह है, जो शरीर रूपी घर में भी तटस्थ भाव से रहता है। जो यह सत्य जानता है कि गुण ही गुणों में वर्तते हैं या फिर गुण ही कर्म करते हैं, मैं कोई कर्म नहीं करता हूँ। ऐसा जाननेवाली बुद्धि ही सत्यबुद्धि है, और ऐसा सोचनेवाला ही सत्य सोचता है।

आत्म में स्थति होने की साधना है-संन्यास आश्रम

वानप्रस्थ के बाद का चौथा और सबसे महत्त्वपूर्ण आश्रम है संन्यास आश्रम। जसि प्रकार उपरोक्त तीनों आश्रमों के विषय में भारतीय संहतिा ने गुणों पर आधारति स्थिति को स्वीकार किया है, बाहरी आवरण मात्र को नहीं। ठीक उसी प्रकार संन्यास आश्रम के विषय में भी आत्मशुद्धि एवं चित्त की स्थिरता पर वशिष बल दिया गया है। संन्यास काषाय वत्र यानी रंगीन वत्र पहनने से नहीं होता है। मैं आत्मा हूँ, यह नश्चिय करना ही संन्यास है। इस तरह की मानसकिता, जहाँ प्राणी देहाभ्यास से ऊपर उठ जाए और यह मानने लगे कि देह तो भौतकि अस्तत्वि है। मैं भौतकि अस्तत्वि नहीं हूँ, मैं देह नहीं हूँ, मैं तो सर्वव्यापक

और सर्वसमर्थ आत्मा हूँ-यह धारणा ही संन्यास है।

मैंने देखा है कि गेरुआ कपड़े पहनने से तो अहँकार समर्पति होने के बजाय और दृढ़ होता है। एक तरह से तो यह वज्ञिापन ही है। समाज के सेवक बनने के बजाय आजकल तो संन्यासी समाज की सेवा लेने के अधकिारी हो जाते हैं। इसलिए मेरी सलाह है कि बाह्यवेश सादा हो और अंतर में संन्यास की भावना उत्तरोत्तर मजबूत होती चली जाए। तभी सही मायने में संन्यास साधना का उद्देश्य पूरा हो सकेगा।

गहने सुवर्ण की बेड़ी हैं

आज स्त्रियों के नाक, कान में छेद करके उनमें गहने पहनाए जाते हैं, यह सारा ईश्वर के खलिाफ अविश्वास प्रस्ताव है। जन्म के साथ कोई बच्चा गहने पहनकर पैदा नहीं होता। ईश्वर चाहता तो क्या इस तरह छेद नहीं बना सकता था? ईश्वर ने मोती में भी छेद नहीं रखा। परंतु हम समुद्र में से मोती नकिालकर उसमें छेद कर देते हैं और स्त्रियों के कान-नाक में छेद करके उसमें वे मोती डालते हैं। उनके नाक, कान, गला, हाथ, पाँव आदि सबमें सुवर्ण-मोती के गहने पहनाते हैं, तो क्या वहाँ पूरी कोलार की सोने की खान इकट्ठी करनी है? सही बात तो यह है कि गहनों के रूप में पुरुषों ने स्त्रियों के हाथ-पाँव में बेड़ी डाल दी है। वह बेड़ी सुवर्ण की है, इसलिए 'बेड़ी' नहीं कहलाती है। लोहे की होती तो उसे 'बेड़ी' कहते। परिणाम यह होता है कि स्त्री अकेली बाहर नहीं जा सकती है और हम्मित से काम भी नहीं कर पाती है। पुरुषों ने प्रकृति के विरुद्ध आचरण करके स्त्रियों को ऐसा बना दिया है।

स्त्री को 'भीरु' कहकर वे पुरुषों के हाथ में सुरक्षति रहनी चाहिए, यह धर्म-वचिार नहीं है। धर्म कहता है कि प्रत्येक में आत्मा है। परमेश्वर का वर्णन करते हुए उपनिषदों में कहा गया है कि 'तू ही स्त्री है, तू ही पुरुष है।' इसलिए स्त्रियों के बारे में ऐसी कमजोर करने वाली सोच सरासर गलत है।

कपड़े यथासंभव सादे व मर्यादति हों

कपड़े का उपयोग तो शरीर ढकने के लिए किया जाना चाहिए। अपनी सामर्थ्य के अनुसार हम कम या अधकि कीमत का कपड़ा पहनते हैं, लेकिन वचिार की बात तो यह है कि हमें ऐसा कपड़ा नहीं पहनना चाहिए, जसिसे लोगों का ध्यान हमारी तरफ खिंचे। स्त्रियों की तरफ लोगों का ध्यान जाए, यह अच्छी बात नहीं। इसलिए बाहर जाते समय पोशाक सादी होनी चाहिए। कपड़े की उपयोगतिा शरीर के रक्षण के लिए और लज्जा ढाँकने के लिए है, ऐसा मैं मानता हूँ। परंतु आजकल की पोशाकें ऐसी हैं कि शरीर को तो चौबीसों घंटे खतरे में रहना पड़ता है, बल्कि सारी लज्जा ही बाहर नकिली पड़ती है। ऐसे चुस्त कपड़े नहीं पहनने चाहिए। अपनी देह कोई प्रदर्शन की चीज नहीं है। इस प्रकार का प्रदर्शन तो वचिारों की नम्निता प्रदर्शति करता है, प्रौढ़ता नहीं। इसलिए हमें वचिारों की प्रौढ़ता पर ही निर्भर

रहना चाहिए।

त्री को पतमति‍ा नहीं पतव्रिता बनना चाहिए

कहा जाता है कि स्त्रियों को पति-देवता के पीछे जाना चाहिए। ज्ञानेश्वरी में एक वाक्य आया है-'पतचियाँ मता अनुसारोनी पतव्रिता'। जब मैंने यह पढ़ा तो सोचता ही रहा कि ज्ञानेश्वर को यह क्या सूझा? लेकिन बाद में राजवाड़े की ज्ञानेश्वरी की संशोधति आवृत्ति मेरे पास आई, जसिमें पुराने पाठ-भेद बताए गए थे। उसमें मैंने पढ़ा- 'पतचियाँ व्रता अनुसरोनी पतव्रिता'-पति के व्रत को बढ़ावा देनेवाली पतव्रिता होती है। ज्ञानदेव ने यह नहीं लिखा होगा कि पति के मत का अनुसरण करनेवाली पतव्रिता होती है, लेकिन समाज को ज्ञानदेव का यह ववरिण अच्छा नहीं लगा होगा। इसलिए 'व्रता' के बदले 'मता' कर दिया। इससे पता चलता है कि पुरुष-प्रधान समाज में हर उस वचिार को बदल दिया गया है, जो पुरुषों के अनुकूल नहीं है। इस प्रकार की सोच को व्यभचिारी सोच कहा जाएगा, या फिर अत्याचारी सोच।

पतव्रिता का अर्थ

आज के समाज में पातव्रित्य का यह अर्थ माना जाता है कि पति भला-बुरा जैसा भी हो, उसमें पत्नी को लीन हो जाना है। स्त्री का कोई स्वतंत्र अस्तत्वि नहीं है। पति का अनुसरण करना ही उसका सबसे बड़ा धर्म है, चाहे पति समाज विरोधी कार्यों में ही क्यों न लगा हो! जबकि 'पतव्रिता' शब्द से यह अर्थ नहीं नकलता है, और न ही पतव्रिता जैसे मूल्य का निर्धारण करनेवाले वद्विानों ने यह बात सोची होगी। पातव्रित्य का अर्थ पति के व्रत में योग देना है। व्रत अपने आप में सार्थक और धार्मकि शब्द है, जसिमें सकारात्मक भावना भरी हुई है। अर्थात् 'पतव्रिता' का अर्थ हुआ-पति के अच्छे कार्यों में सहयोग देना। लेकिन इस शब्द के अपनाने में भी व्रत और मत का ही अंतर है। इसीलिए पति के कार्यों का अंधानुकरण ही पतव्रित मान लिया गया है।

तो क्या पति यदि शराब पीनेवाला हो, तो उसके शराब पीने में मदद भी पातव्रित्य होगा? मेरा वचिार है नहीं। शराब पीनेवाले पति को सहयोग नहीं देना है, बल्कि उसका हाथ पकड़ना है और शराब का प्याला फेंक देना है। उससे कहना चाहिए कि 'तुम शराब नहीं छोड़ोगे, तो मैं तुम्हें नहीं खलिाऊँगी।' तसि पर वह यदि कहे कि 'मैं तुझे पीटूँगा' तो कहना चाहिए कि 'पीटो, उससे तुम्हारे हाथ दुखेंगे, लेकिन मैं तुम्हारे लिए रसोई नहीं बनाऊँगी।' यह पातव्रित्य-धर्म है। स्त्री का यह धर्म है कि वह पुरुष को अंकुश में रखे। स्त्रियाँ पुरुषों की बराबरी न करें, बल्कि उन्हें अंकुश में रखें।

पुरुष को नपुंसक बनाना उचति नहीं

संतति नियमन की पहली पद्धति के मुताबकि पुरुषों को नपुंसक करने में एक बात समझ

लेनी चाहिए कि प्रजनन-शक्ति रोकने के साथ वचिारों की, चिंतन की प्रजनन-शक्ति भी कुंठति होती है। आज तक कोई नपुंसक वाल्मीकि या शेक्सपीयर हुआ हो, ऐसा ध्यान में नहीं आता। प्रजनन-शक्ति के साथ प्रतभिा भी दीन और क्षीण होती है। डॉक्टरों का इस बारे में कोई अलग अभप्रिाय हो, संशोधन हो तो मैं नहीं जानता। इसलिए ऐसे उपाय अपनाने के पहले यह समझ लेना चाहिए कि इससे मनुष्य केवल जननेंद्रिय तक ही निरुपयोगी नहीं होता, अपतिु मानसकि धरातल से लेकर शारीरकि स्तर तक सब प्रकार के सर्जनात्मक कार्य़ों के प्रति नकम्मिा हो जाता है।

त्री का गर्भाधान रोक देने पर स्त्री-अत्याचार बढ़ेगा

संतति नियमन का दूसरा उपाय सुझाया जाता है कि स्त्रयों को गर्भाधान न हो तो संतति नियमन हो सकता है। इसके बाद भी स्त्री-पुरुष संबंध बनें तो इस प्रकार के संबंधों को मैं स्त्री पर किया जाने वाला एक बलात्कार ही मानता हूँ। वह तो निरा व्यभचिार ही कहा जाएगा।

ववािह के संबंध को मैं पवत्रि मानता हूँ, परंतु यदि स्त्री का बंध्याकरण किया गया तो आने वाले समय में यह सलसिलिा स्त्री की गरमिा और पवत्रिता के लिए उचति नहीं रहेगा। परपुरुष संबंध ही अत्याचार होता है, ऐसा नहीं। पति होने पर भी ऐसी स्थिति में संबंध रहे तो वह अत्याचार ही है। उसको क्षम्य कैसे माना जाए, यह मेरी समझ में तो आता नहीं। फिर स्त्री की स्त्री के नाते क्या गौरव और महमिा रह जाएगी? स्त्रियाँ केवल पुरुषों की वासना का साधन बनकर रह जाएँ तो यह स्थिति असहनीय ही है।

भ्रूण-हत्या घृणति ही नहीं, महापातक है

दवाइयों द्वारा जो गर्भपात किया जाता है, उससे शरीर पर बड़ा खराब असर होता है। स्त्री पर इसे सीधे-सीधे विष का हमला ही समझना चाहिए। बात यहीं नहीं रुकती, स्त्री को फिर गर्भधारण का हमला सहना होता है। यानी कि पहले गर्भधारण का हमला और उसपर फिर दवाइयों का हमला! इसमें तो स्त्री-शक्ति पर अत्याचार की पराकाष्ठा हो जाती है।

विज्ञान ने इसे नाम दिया है-स्लोटरिंग डफिंसलेस लाइफ। 'स्मृति' में लिखा है कि हत्या करना गलत है, लेकिन उससे भी ज्यादा गलत है-भ्रूण-हत्या। किसी अशक्त वृद्ध की हत्या की जाए तो वह अपने संरक्षण के लिए कुछ नहीं कर सकेगा, फिर भी मारनेवाले पर कम-से-कम पत्थर तो फेंक ही सकता है, लेकिन भ्रूण तो इतना अशक्त होता है कि वह तो किसी प्रकार का प्रतिरोध कर ही नहीं सकता। ऐसे असमर्थ की हत्या महापातक नहीं तो और क्या है?

गर्भ निरोधक मानव अवमूल्यन के कारक

कृत्रिम साधनों के संदर्भ में आध्यात्मकि दृष्टि से मेरा जो आक्षेप है, यह एक नसि्सहाय जीव की हत्या करने से भी कहीं आगे मानव के अवमूल्यन के लिए जमि्मेदार है। उपनिषद् में कहा गया है कि जब पति-पत्नी का संयोग होता है, तब उस वीर्य के द्वारा एक जीवात्मा अपने जन्म का मार्ग ढूँढ़ता है। आप यदि ब्रह्मचर्य का पालन करते हो, और केवल संतानोत्पत्ति के हेतु से ही संभोग करने की गृहस्थनिष्ठा रखते हों, तब तो पति-पत्नी के संयोग के साथ एक मानवात्मा को मूर्तमिान होने का मौका मलिना ही चाहिए। परंतु आज मानव ही मानव का मूल्य घटा रहा है। एक ओर युद्ध में असंख्य लोग मारे जाते हैं, दूसरी ओर गर्भपात को कानून की मान्यता दलिाने का प्रयत्न हो रहा है, यह दिखा रहा है कि मानव का मूल्य कम हो रहा है। दुनिया में सबकुछ महँगा है, शाक-भाजी भी महँगी है, सिर्फ मनुष्य सस्ता होता जा रहा है। मनुष्य का अवमूल्यन हो रहा है।

भावी प्रतभिाओं की हत्या भी हो सकती है गर्भ निरोध से

आज परविार-नियोजन के नाम से मानव को बंध्य करने की प्रक्रिया चल रही है। भावी के गर्भ में कैसी-कैसी ताकत पड़ी है, आप जानते नहीं। अगर यह प्रक्रिया जारी रही तो आप 'गांधी' को रोकेंगे। उसी गर्भ से गांधी हुए, ज्ञानदेव, नामदेव और शुकदेव हुए। कौन कह सकता है, ऐसा कोई महान् पुरुष पैदा होता भी, पर आपने बीच में ही रोका। गर्भ-हत्या भ्रूण हत्या है। भ्रूण-हत्या से बढ़कर पाप नहीं। बच्चे की गर्भ में ही हत्या-यह महापातक है। क्योंकि भावी, जो महान् आनेवाला था, उसको आपने रोका। यह आज के जीवन की शोकांतकिा है।

बनिा संयोग का ट्यूब-बेबी

नर और मादा का जो संयोग होता है, उसमें प्रेम होता है। इसलिए उससे जो संतति उत्पन्न होती है, उसको बचपन से प्रेम मलतिा है। क्योंकि संगम में प्रेम होता है। अब ट्यूब-बेबी के प्रयोग हो रहे हैं। आपको जानकारी नहीं है, ऐसे बच्चे जन्म लेंगे। अभी तक यह नहीं हुआ है कि बच्चा पैदा होने के लिए माँ की भी जरूरत नहीं है। बाप के शरीर से भी आवश्यक चीज ले ली और दोनों को काँच की शीशी में रख दिया। माँ-बाप के बनिा ट्यूब में ही बच्चा जनमा, ऐसा अभी नहीं हुआ है। ऐसा जो भला मनुष्य पैदा होगा, उसको 'मातृदेवो भव' नहीं, वह स्वयं ही 'देव' है। स्टेट प्रोडयूस्ड (स्टेट का बनाया) है। यह वधिहिीन संस्कृति है।

विषय-वासना की नविृत्ति के विषय में ययाति के अनुभव

'विषय-वासना से मुक्ति सहज ही मलिेगी, ऐसे भम में जो रहता है, वह स्वयं अपनी कब्र खोदता है', ऐसा महाराज ययाति ने कहा है। वे बूढ़े हो गए थे, लेकिन वासना-तृप्ति नहीं हुई थी। इसलिए उन्होंने अपने बेटों से जवानी माँगी। बच्चें ने दे दी। जवान होकर भोग भोगा, लेकिन फिर भी उनकी तृप्ति नहीं हुई। फिर महाराज ययाति ने अपना अनुभव एक श्लोक में

बता दिया-

'न जातु कामः कामानाम् उपभोगेन शाम्यति।

हविषा कृष्णवर्त्तेव भूय एवाभविर्धते।।'

अर्थात् काम के उपभोग से काम-शक्ति कम नहीं होती। घी से जैसे अग्नि बढ़ती है, वैसे वह बढ़ती चली जाती है। चाहे शक्ति घट जाए, इच्छा बढ़ती ही रहती है। इसलिए उसको तोड़ना ही होता है।

स्त्रियाँ जरा सोचें!

आजकल अकसर कहा जाता है कि समाज में संतान की आवश्यकता कम है, इसलिए संतति नियमन करो। यह बात सही है। बहनें को इस बारे में सोचना चाहिए। वे एक बहुत बड़ा काम करती थीं संतति-निर्मिति का, जसिमें पुरुषों को जो क्लेश होता है, उससे कहीं ज्यादा दुख तो स्त्रियों को सहना होता है। इसमें कुछ भी आनंद नहीं, ऐसी बात नहीं है, फिर भी स्त्री को काफी क्लेश भोगना पड़ता है। गर्भाधारण से लेकर संतानोत्पति तक की चिंता बहनें ही करती हैं। अब बहनों को सोचना है कि इतना कठनि कार्य का जम्मिा वे उठाती हैं, फिर भी समाज को अगर संतान की जरूरत नहीं है, तो वे ऐसा कार्य क्यों करें? वे अपने त्याग को दूसरी दशिा में लेजाएँ।

परमभक्त आंडाल

जैसे कश्मीर में लल्ला, राजस्थान में मीरा, महाराष्ट्र में मुक्ता हैं, वैसे ही दक्षिण की आंडाल हैं, जो ईश्वर की परमभक्त थीं। उसकी भक्ति से लोग इतने द्रवति हुए कि दक्षिण के एक मंदिर में आंडाल को भगवान् की मूर्ति के साथ ही स्थापति कर दिया गया है।

त्री का शील मटिा तो देश मटिगा

आज शहरों की दशा बड़ी ही खतरनाक है। नागपुर, पूना आदि सब शहरों में स्त्रियाँ कहीं अकेली जाती हैं तो पुरुषों के आक्रमण का डर बना रहता है। अहमदाबाद में, गांधीजी की नगरी में, भी यह सब चलता है। रास्ते में स्त्रियों को सताने के लिए अंग्रेजी में एक शब्द है- इवटीसिंग। आदम और 'इव' हो गए। 'इव' को सताना यानी स्त्री को सताना। और इव-टीसिंग का दूसरा अर्थ है इवनिंग के समय। शाम को विद्यार्थी आदि बहनों को सताते हैं। पढ़ी-लिखी लड़कियाँ रास्तों पर चलती हैं, तो लड़के उनके पीछे लगते हैं। यह क्या बात है? यह जो शील-भंश हो रहा है, जसिमें गृहस्थाश्रम की प्रतिष्ठा ही गिर रही है, उसका विरोध करने के लिए बहनों को सामने आना चाहिए। माताओं को समझना चाहिए कि नारी का शील किसी भी देश का आधार होता है। अगर देश का आधार शील ही नहीं रहा, तो देश टकि नहें सकता। इस संदर्भ में माताओं को ही अपने इतहिास की शिक्षा लड़कों को देनी

चाहिए।

शहरों की स्थिति शोचनीय ही नहीं, लज्जाजनक है

इंदौर में मैंने दीवारों पर इतने भद्दे चत्रि देखे कि जनिकी याद से आँखों में आँसू आते हैं। माता-पिता इन चत्रिों को कैसे सहन करते हैं? इससे पहले नौ साल तक मुझे किसी शहर में घूमने का मौका नहीं मलिा, इसलिए मैं शहर की हालत नहीं जानता था। लेकिन इंदौर में मैंने जो देखा, उससे मेरा हृदय बहुत ही व्यथति-व्याकुल हो उठा। तभी से मेरे ध्यान में आया कि शील-रक्षा की मुहमि होनी चाहिए और स्त्रयों को शांति-रक्षा और शील-रक्षा का दुहरा काम करना होगा। उसके बनिा संस्कृति नहीं टकिगी। यह कतिनी शोचनीय और लज्जाजनक बात है! जरा सोचिए कि हम कहाँ जा रहे हैं?

धर्म कानून से ऊँचा है

इंदौर में मैंने जो हालत देखी, उससे मुझे लगा कि ये गंदे पोस्टर्स दीवारों पर से हटने ही चाहिए। यदि कानून से न हटें तो धर्म से हटाना होगा। धर्म कानून से ऊँचा होता है, अधकि होता है। जो कानून धर्म का रक्षण न करता हो, उस कानून को ठीक करने के लिए कानून-भंग करना आवश्यक हो जाता है।

धर्म में पाप के प्रति घृणा नहीं, दया है

इसलिए ऐसा समाज बनाना चाहिए, जसिमें हम पापों को घृणा का विषय नहीं मानेंगे। किसी के हाथ से गलती होने पर जैसे हम उसे ठीक करते हैं, उसके प्रति दया दिखाते हैं, वैसी ही भावना पाप के संबंध में भी होनी चाहिए। सत्य की महमिा बढ़ानी चाहिए और समझना चाहिए कि असत्य सबसे बड़ा पाप है।

भगाई हुई बहनों को स्वीकार करें

पिछले सालों में हिंदू-मुसलमानों के संघर्ष में एक-दूसरे ने एक-दूसरे की बहनें भगाइऔ। बाद में जब उन्हें छुड़ाने का प्रयत्न शुरू हुआ, तब मुसलमानों ने तो अपनी बहनों को स्वीकार कर लिया, पर हिंदुओं ने स्वीकर नहीं किया। उनसे कहना पड़ा कि वे स्वीकार करें। इसमें हिंदुओं की दृष्टि गलत थी। ये बहनें अपनी इच्छा से नहीं गई थीं, जबरदस्ती भगाई गई थीं। ऐसी हालत में उनके वहाँ बच्चे हो गए, तो भी उन्हें पतति न माना जाए। यह सब हिंदुओं को समझाना पड़ा। यह अनुदार वृत्ति दूर होनी चाहिए। जसि प्रकार रोगयों के दवाखाने चलते हैं, उसी प्रकार 'रेस्क्यू होम्स' भी दया के विषय समझकर चलाए जाएँ।

स्त्रयों पर आक्रमण में स्त्रयों का क्या दोष?

बँगलादेश में हजारों स्त्रयों पर आक्रमण हुआ। इसमें स्त्रयों का कोई दोष मैं मानूँगा नहीं। उनकी संतान को योग्य संतान मानूँगा और उन स्त्रयों को सर्वथा दोष-मुक्त मानूँगा। आजकल लड़ाइयों में एक शब्द चला है-'वार बेबीज'। लड़ाई में स्त्रयों पर अत्याचार होते हैं। उसमें से जो संतान पैदा होती हैं, उसे 'युद्ध-संतान' (War Babies) कहते हैं और वह जायज पैदा होती है। युद्ध के साथ यह होता है, ऐसा माना जाता है। बँगलादेश में पुरुषों की तरफ से जो पशुता प्रकट हुई, वह अत्यंत घृणास्पद थी। सुना है कि वहाँ हजारों स्त्रियाँ गर्भिणी हो गइऔ! पाकस्ितान की सेना ने वहाँ कत्ल किए, यह तो मैं समझ सकता हूँ। वह पाप कम है, लेकिन यह पाप ज्यादा है। ऐसे काम में ईसाई लोग हमेशा सेवा के लिए आगे आते हैं। हिंदुओं की कल्पना होती है कि ये बच्चे तो व्यभिचार से पैदा हुए हैं, लेकिन यह सोचना गलत है। उन स्त्रयों को मैं निर्दोष मानूँगा और उनकी संतान को जायज मानूँगा। उन स्त्रयों को तथा बच्चों को समाज में स्थान देना चाहिए।

गार्गी और याज्ञवल्क्य का प्रंग

वैदकि काल में स्त्रियाँ बड़ी ही ज्ञानवती होती थीं। एक प्रंग है, याज्ञवल्क्य की सभा में चर्चा चल रही थी। गार्गी उठ खड़ी हुई और उसने याज्ञवल्क्य से कहा, 'जैसे काशी या वदिह का क्षत्त्रिय वीर बाण मारता है, वैसे ही मैं तुझे प्रश्नरूपी बाण मारती हूँ। अपनी छाती सामने कर, मैं प्रश्नों से ताड़ना करूँगी।' उसने दो सवाल पूछे। याज्ञवल्क्य ने जवाब दिया। तब उसने हम्मित के साथ पंडतिों से कहा, "पंडतिो! अब याज्ञवल्क्य से चर्चा मत करो। इसे नमस्कार करो, इससे कठनि सवाल नहीं होंगे आपके।" गार्गी वीर के समान खड़ी होकर हम्मित के साथ कहती है, "मुझसे कठनि सवाल कौन पूछेगा?" वह वेद और उपनिषदों का जमाना था और आज? गार्गी की कहानी पढ़कर मन में कई वचिार उठे। उस जमाने में गार्गी के सवाल सबसे कठनि थे, लेकिन याज्ञवल्क्य उनका जवाब दे सका। क्या इस युग में ऐसी कोई गार्गी पैदा नहीं होगी, जसिके सवालों का जवाब कोई भी याज्ञवल्क्य न दे सकेगा और हार मान लेगा?

मातृहस्तेन भोजनम्, मातृमुखेन शिक्षणम्

भगवान् कृष्ण जब अपने गुरु के घर से पढ़ाई करके वापस लौट रहे थे, तब उनके गुरु ने उनसे वरदान माँगने का कहा। तब भगवान् ने वर माँगा-'मातृहस्तेन भोजनम्'-मैं जब तक जीऊँ, मुझे माँ के हाथ का भोजन मलि। कहते हैं कि जब तक भगवान् जीए, तब तक उनकी माँ मरी नहीं और उन्हें माँ के हाथ का भोजन मलिता रहा। जब यह कहानी मैं सुनता हूँ, तो मुझे लगता है कि यदि मुझे वर माँगने को कहा जाता तो 'मातृहस्तेन भोजनम्' के साथ 'मातृमुखेन शिक्षणम्' जोड़देता।

रसोई-एक उपासना

कहते हैं, स्त्रियाँ उत्पादन का काम नहीं करतीं, सिर्फ रसोई करती हैं। अगर नई चीज पैदा करने को उत्पादन कहते हैं, तो वह तो ब्रह्मदेव ही करता है।

प्रथम ही नहीं, सर्वश्रेष्ठ गुरु होती है माता

बच्चे को सबसे पहले शिक्षा देनेवाली माँ है। माँ प्रथम गुरु है। बाद में पिता और गुरु आते हैं। जब तक माँ-बाप मौजूद हैं, तब तक बच्चों को ज्ञान मलतिा रहेगा। परमेश्वर की योजना ही ऐसी बनी है कि जहाँ उसने बच्चे को भूख दी, वहाँ माँ के स्तन में दूध भी पैदा किया। बच्चे को भूख के साथ माँ को पलिाने की प्रेरणा दी। इस तरह बचपन से माँ के जरिए प्रेम की शिक्षा दी जाती है। बच्चों को मातृभाषा सिखाने के लिए सरकार कतिने-कतिने करोड़ रुपए खर्च करती है, लेकिन माँ तो दूध पलिाते-पलिाते बच्चे को मातृभाषा सिखाती है। दुनिया भर के बच्चे माँ से भाषा सीखते हैं। माँ बच्चों को कहती है कि यह देखो चाँद! बच्चा सुनता है। माँ फिर उससे पूछती है कि चाँद कधिर है, बताओ? वह परीक्षा लेती है। बच्चा उँगली से बताता है कि चाँद कहाँ है। बाद में वह बोलने लगता है। च् च् च् न् द और फिर 'चाँद-चाँद' कहता है, यानी पहले वस्तु ग्रहण करता है और फिर बोलता है। यह जो सारा ज्ञान है, भाषा सीखने का ज्ञान है, क्या वह विद्यालयों की शिक्षा से कम है? दो-ढाई साल में शून्य में से ज्ञान पैदा किया जाता है और माताएँ ही यह सब करती हैं। इसलिए सबसे प्रथम और सबसे श्रेष्ठतम गुरु तो माता ही है।

विनोबाजी का गीता-दर्शन

विनोबा की दृष्टि में गीता में वर्णति स्थितप्रज्ञ

विनोबाजी ने अपने अंतमि समय तक कर्मयोगी की तरह समाज की सेवा की। उनका शरीर शिथलि हो गया, लेकिन सेवा भावना यथावत् रही। नश्चिति ही इस प्रकार की भावना उनके परपक्वि और सुस्थिर वचािरधारा का ही परिणाम थी। विनोबाजी के व्यक्तत्वि और उनकी सेवा भावना को देखते हुए ही देश ने उन्हें 'संत' की उपाधि से सम्मानति किया।

विनोबाजी की सेवा भावना जतिनी प्रखर थी, उससे कहीं अधकि उनका आध्यात्मकि चिंतन मुखर था। विनोबाजी ने भारतीय मनीषा के आदर्शों को अपने जीवन में पूरी गंभीरता के साथ अपनाया था। विनोबाजी कृष्ण के दर्शन से गहराई से प्रभावति दिखाई देते हैं। वशिषकर गीता को समझने और उसके नियमों को अपने जीवन में उतारने में उनका साधक मन खूब रमा है। गीता पर समय-समय पर दिए गए उनके प्रवचनों में जो अर्थगांभीर्य झलकता है, उससे स्पष्ट है कि विनोबा ने गीता के मर्म को अंतर की गहराई तक जाकर समझा है और अपनाया है। गीता पर दिए गए विनोबाजी के प्रवचनों में से कुछ का सार संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत है-

गीता में एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण शब्द है स्थतिप्रि्रज्ञ। विनोबाजी ने गीता के इस स्थितप्रज्ञ की बड़ी ही मार्मकि व्याख्या की है। स्थितप्रज्ञ पर अपने वचािर व्यक्त करते हुए विनोबाजी कहते हैं-'स्थितप्रज्ञ के लक्षण' गीता का अतशिय प्रसद्धि वभिाग है। अत्यंत प्राचीन काल से लेकर आज तक जतिनी प्रसद्धिि 'स्थितप्रज्ञ के लक्षण' वभिाग को मलिी है, इतनी प्रसद्धिि प्रायः गीता के किसी भी दूसरे वभिाग को नहीं मलिी होगी। इसका कारण है, 'स्थितप्रज्ञ' गीता का आदर्श पुरुष वशिष है। यह शब्द भी गीता का खास शब्द है। गीता के पूर्ववर्ती ग्रंथों में वह नहीं मलताि। गीता के बाद के ग्रंथों में वह खूब मलता है।

स्थितप्रज्ञ की तरह गीता में आदर्श पुरुषों के और भी वर्णन हैं। कर्मयोगी, जीवनमुक्त, योगारूढ़, भगवद्भक्त, गुणातीत, ज्ञाननिष्ठ इत्यादि अनेक नामों से अनेक आदर्श चत्रि

भिन्न-भिन्न स्थानों पर आए हैं। परंतु इन आदर्शों को औरों ने भी उपस्थित किया है।

पूर्व भूमिका-सांख्य-बुद्धि व योग-बुद्धि

स्थितप्रज्ञ के लक्षणों को समझने के लिए उसके पहले की भूमिका और उसके मूल में निहित वैचारिक पृष्ठभूमि पर गंभीरतापूर्वक विचार कर लेना उपयोगी होगा। यह प्रकरण गीता के दूसरे अध्याय के अंत में आया है।

इसके पहले विवेचन के दो भाग आ गए हैं-

(1) सांख्य-बुद्धि अर्थात् आत्मज्ञान, अथवा ब्रह्मविद्याशात्र।

(2) योग-बुद्धि अर्थात् आत्मज्ञान के अनुसार जीवन की कला।

शात्र तथा कला मिलकर ब्रह्मविद्या परिपूर्ण बनती है। यह बात हर एक विद्या पर लागू होती है। उदाहरण के लिए हम संगीतविद्या को ही लें। किसी ने संगीतशात्र तो सीख लिया, परंतु कंठ से व्यक्त करने की कला नहीं सधी, तो वह संगीत किस काम आएगा? इसके विपरीत, गले में कला तो है, परंतु शात्र-ज्ञान नहीं है, तो फिर प्रगति का मार्ग कुंठित हुआ समझिए। ठीक वही स्थिति अध्यात्म-विद्या की, अर्थात् मनुष्य के जीवन की है। मनुष्य का तत्त्वज्ञान उसकी बुद्धि में गुप्त रहेगा, प्रकट होगा उसका आचरण। उसके आचरण से ही उसके तत्त्वज्ञान का नाप संसार को तथा उसको भी मालूम होगा। आचरण और ज्ञान में अंतर भले ही रहे, पर विरोध हरगिज नहीं रहना चाहिए, और अंतर भी सतत कम करते रहना चाहिए। आचरण और ज्ञान के अंतर को कम करने का काम योग-बुद्धि का है।

तुलसीदासजी ने संतों को लक्ष्य करके एक त्रिवेणी की कल्पना की है। भक्ति-गंगा, कर्मयोग-यमुना, इस तरह उपमाएँ देकर ब्रह्मविद्या को उन्होंने गुप्त सरस्वती का स्थान दिया है। इस उपमा के द्वारा उन्होंने यह सूचित किया है कि ब्रह्मविद्या सदैव सरस्वती की तरह अव्यक्त ही रहनेवाली है। उसके लिए योग-बुद्धि की प्रत्यक्ष बुनियाद बेकार है। जैसे दियासलाई में आग अव्यक्त स्वरूप में रहती है। दियासलाई रगड़ने से वह प्रकट होती है। जनसामान्य को वह तभी दिखाई देती है जब प्रकट हो जाती है और जनसामान्य के लिए उपयोगी भी वह तभी होती है। ठीक इसी प्रकार तारों में बहती अव्यक्त बिजली का कार्य सूक्ष्म बुद्धि ही जान सकती है। वही बिजली जब व्यक्त हो जाती है, तब उसका सामर्थ्य हर किसी को दिखाई देता है। सांख्य-बुद्धि और योग-बुद्धि का पारस्परिक संबंध भी ऐसा ही है।

योग-बुद्धि की आखिरी मंजिल-स्थिर समाधि अर्थात् स्थितप्रज्ञता

योग-बुद्धि का पहला स्वरूप है कर्तव्य-निश्चय। कर्तव्य-निश्चय हुए बिना साधना आरंभ ही नहीं होती। कर्तव्य का निश्चय हो जाने के बाद दूसरी अवस्था आती है एकाग्रता की।

एकाग्रता का अर्थ यहाँ साधना में तन्मयता, फल पर ध्यान न देते हुए साधना में लीन हो जाने की वृत्ति, एक साधन का नश्चिय करके उसको निष्ठापूर्वक अपनाना अर्थात् साधन-निष्ठा। यह दूसरी मंजलि है। उसके आगे की तीसरी मंजलि है चित्त की निर्वकिार दशा अथवा समता की स्थिति। समता की यह स्थिति ही 'समाधि' नाम से जानी जाती है। यह वह स्थिति है जसिमें साधक की मति स्थिर, अचल हो जाती है, विषय या वकिारों के किसी भी झोंके से जब डगमगाती नहीं है, तो स्थितप्रज्ञावस्था प्राप्त होती है। जसि पर वकिारों की, वचिारों की, बल्कि वेद-वचनों की भी सत्ता शेष नहीं रही है; जसिकी समाधि अचल है, स्थिर हो गई है, वह स्थितप्रज्ञ है। इस तरह योग-बुद्धि की ये चार मंजलिें हैं-

(1) साधन-नश्चिय,

(2) फल-निरपेक्ष एकाग्रता,

(3) समता अथवा समाधि

(4) स्थिर-अखंड-समाधि।

समाधि अर्थात् चित्त वृत्ति के नश्चिल और सहज रूप में स्थति हो जाने की यह अवस्था ही 'स्थितप्रज्ञावस्था' के नाम से कही गई है।

दुहरी समाधि-वृत्तपिरक तथा स्थतिपिरक

भगवान् द्वारा स्थितप्रज्ञ के विषय में किए गए वविचन पर वचिार करने से पहले यहाँ 'समाधि' शब्द को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए, क्योंकि इस शब्द से बहुत ही भम पैदा हुआ है। समाधि का आमतौर पर अर्थ किया जाता है ध्यानसमाधि। यदि कोई आदमी समाधि में है, यानी जसि बात का वह चिंतन कर रहा है, उसके अलावा उसे दूसरा कोई भी संवेदन नहीं होता, तो फिर अर्जुन का यह प्रश्न ही उड़ जाता है कि समाधस्थि पुरुष बोलता कैसे है, चलता कैसे है, फिरता कैसे है? इस कठनािई को देखकर कुछ भाष्यकारों ने स्थितप्रज्ञ के दो और वभिाग कर डालेहैं-

(1) समाधि में रहते हुए स्थितप्रज्ञ कैसे बरतता है।

(2) समाधि में न रहते हुए स्थितप्रज्ञ कैसे बरतता है।

इस तरह कुछ वद्विानों ने स्थितप्रज्ञ का दुहरा ववेचिन करने का प्रयास किया है। मेरे वचिार से इस ववेचिन में कल्पनाशीलता तो है ही, परंतु इसमें वचिारदोष भी है। इसमें इस बात का ध्यान नहीं रखा गया है कि गीता में प्रतपिादति की गई समाधि की प्रस्तुत

अवस्था भनि्न प्रकार की है। चढ़ने-उतरने वाली समाधि ध्यान-समाधि है। स्थितप्रज्ञ की समाधि इससे भनि्न है। वह ज्ञान-समाधि है। वह न चढ़ती है न उतरती है। 'नैनां प्राप्त वमिुह्यति' इस तरह उसका वर्णन किया गया है, अर्थात् वह एक स्थिति है, वृत्ति नहीं। ध्यान-समाधि एक वृत्ति है। चार-चार दनि टकि जाने पर भी उसके उतरने की अपेक्षा रहती है, यह ज्ञान समाधि की तरह स्थिर नहीं है।

स्थितप्रज्ञ की समाधि वृत्ति नहीं है

स्थितप्रज्ञ की समाधि वृत्ति नहीं है, वह नविृत्ति है। 'निवृत्ति' शब्द से लोग घबराते हैं। वे समझते हैं कि नविृत्त हो जाना अर्थात् 'यह तो सभी प्रकार के कर्मों को त्यागकर खामोश होकर या शांत होकर बैठ जाना है', परंतु ऐसा नहीं है। आखिर खामोश बैठना भी तो एक वृत्ति ही है। स्थितप्रज्ञ में वह वृत्ति भी नहीं रहती है। वह सब तरह की वृत्तयों से नविृत्त है।

नविृत्त हो जाने का अर्थ यह नहीं है कि स्थितप्रज्ञ ध्यान नहीं करेगा। किसी सेवा-कार्य का चिंतन करने के लिए, अथवा फुरसत के समय में, वह कुछ समय ध्यानादि करेगा, परंतु ऐसा करना उसका लक्षण नहीं है। उसका लक्षण तो है-स्थिर बुद्धि। कर्मयोग जैसे एक उपयोगी साधन है, वैसे ध्यान भी उपयोगी साधन है, परंतु कर्मयोग की तरह ही ध्यान भी स्थितप्रज्ञ की वास्तवकि स्थिति नहीं है।

इस विषय में गीता और योग-सूत्रों की एकवाक्यता

पतंजलि के योगशात्र के कारण 'समाधि' शब्द का अर्थ 'ध्यान-समाधि' रूढ़ हो गया है। परंतु पतंजलि ने भी 'ध्यान-समाधि' को अंतमि स्थिति नहीं माना है। पतंजलि के सूत्र सुव्यवस्थति एवं शात्रसम्मत होने के साथ-साथ अनुभव पर आधारति हैं। उनके कुल 195 सूत्रों में पहले तीन सूत्र सारभूत हैं। ब्रह्मसूत्र की चतुसूत्री की तरह योगसूत्र में यह त्रिसूत्री हैं-

(1) अथ योगानुशासनम्।

(2) योगश्चित्तवृत्तर्निरोधः।

(3) तदा द्रष्दु स्वरूपे अवस्थानम्।

इन तीन सूत्रों में पतंजलि का सारा योग दर्शन समाहति है। परंतु इसमें समाधि का तो कहीं नाम भी नहीं आया है। प्राप्तव्य तो योग है, और 'चित्तवृत्तर्निरोध' उसकी व्याख्या है। समाधि अर्थात् ध्यान-समाधि भी एक वृत्ति ही है और उसका उपयोग पतंजलि ने चित्त की वृत्तयों का निरोध करनेवाले योग को प्राप्त कराने के लिए शिरोमणि साधन के रूप में बताया है।

श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञापूर्वक

यह पतंजलि की योग के शिखर पर चढ़ने की सीढ़ी है। आरंभ में श्रद्धा, उससे वीर्य अर्थात् उत्साह, तत्पूर्वक स्मृति अर्थात् आत्म-स्मरण, तत्परपिाक तन्मयतारूपी ध्यान-समाधि, उससे प्रज्ञा, और प्रज्ञा स्थिर हुई कि वही योग है। इन सीढ़ियों से योग प्राप्त होता है, ऐसा उन्होंने स्पष्ट कहा है। अर्थात् योग की प्राप्ति के लिए, समाधि के बाद उन्होंने प्रज्ञा बताई है। यह 'प्रज्ञा' शब्द पतंजलि ने गीता से ही लिया है। अर्जुन के प्रश्न से पूर्व के श्लोक में भगवान् ने कहा है कि समाधि में बुद्धि के अचल हो जाने पर तुझे योग की प्राप्ति होगी। 'योग' ही पतंजलि का अंतमि शब्द है। उसका साधन उन्होंने प्रज्ञा बताया है और समाधि को प्रज्ञा-लब्धि का साधन बताया है। प्रज्ञा क्या है? इस संबंध में मैं कहना चाहूँगा कि समाधि का ध्यान-स्वरूप मटिकर जब उसे सदा की सहज स्थिति का स्वरूप प्राप्त होता है, तब वह अवस्था 'प्रज्ञा' कहलाती है। इस तरह पतंजलि के सूत्रों में गीता के वविचन का समन्वय है।

'स्थित'-प्रज्ञ में कंपन और वक्रता नहीं

स्थितप्रज्ञ की कल्पना में बुद्धविाद की परकाष्ठा है। बुद्धि, शुद्ध बुद्धि को बोध का साधन माना गया है। राग-द्वेषादि वकिारों से अलपि्त बुद्धि-ज्ञान का सही साधन हो सकती है। हम कहते हैं कि फलाँ बात मेरी बुद्धि को नहीं जँचती। गीता कहती है-'मेरी बुद्धि को' मत कह; 'मेरी' वशिेषण को छोड़कर केवल शुद्ध बुद्धि क्या कहती है, यह देख! 'मेरे' पन में अहंकार है, वकिार है, पारंपरकि संस्कारों की गुलामी है, परस्थिति का बंधन है। तू 'मदबुद्धविादी' है या बुद्धविादी? जब बुद्धि वकिार रहति हो जाती है, सब समाधयों से अलग हो जाती है, तब वह स्थिति होती है। तात्पर्य है कि वह सीधी तनकर खड़ी रहती है, डगमगाती नहीं है, उसमें कंपन नहीं रहता-

सो।़विकम्पिेन योगेन युज्यते।

अर्थात् जब बुद्धि को निष्कंप योग प्राप्त होता जाता है, तब साधक स्थितप्रज्ञ की अवस्था प्राप्त करने योग्य हो जाता है।

कंपन और वक्रता का अधकि वशि्लेषण

कंपन और वक्रता, दोनों का थोड़ा पृथक्करण कर लेना चाहिए। वस्तुतः ये दोनों मलिकर एक ही दोष हैं। चरखे के तकुए से यह बात समझ में आ जाती है। जो तकुआ टेढ़ा होता है, वही काँपता है। यही बात बुद्धि की है। सरल-सीधी बुद्धि कभी नहीं काँपती। इस तरह कंपन और वक्रता, दोनों के एकरूप होने पर भी वचिार की दृष्टि से उनका पृथक्-पृथक् अर्थग्रहण करना चाहिए। सूक्ष्म दृष्टि से देखें, तो कंपन मुख्यतः बुद्धि का दोष है और वक्रता मन का दोष। मन एक तरह से बुद्धि का ही हसि्सा है, तो हम भी वचिार की सुवधिा के लिए उसे बुद्धि से अलग कर लेते हैं। छोटे बच्चे का मन बलिकुल सरल होता है, अतः वह

बड़ी तेजी से ज्ञान को ग्रहण कर सकता है। इसलिए ज्ञान-दृष्टि से ऋजुता को सबसे महत्त्वपूर्ण गुण समझना चाहिए। बिना ऋजुता के निश्चित और निष्कंप ज्ञान प्राप्त नहीं होगा। 'अर्जुन' शब्द का अर्थ भी व्याकरण की दृष्टि से अपने मूल में 'ऋजु बुद्धिवाला' है।

बुद्धि और प्रज्ञा का भेद

गीता का 'प्रज्ञा' शब्द विशेष अर्थ का द्योतक है, जबकि 'बुद्धि' शब्द सामान्य है। बुद्धि मनुष्य के मनोविकारों के अनुसार बदलने-पलटनेवाली होती है। मनुष्य की मानसिक कल्पनाओं के रंग समय और परिस्थिति के अनुरूप बुद्धि पर चढ़ते-उतरते रहते हैं। यह रंगीन बुद्धि या समय और परस्थितियों के अनुरूप बदल जाने वाली बुद्धि जीवन के बारे में अचूक निर्णय करने का कार्य नहीं कर सकती। सीधी सी बात है, जिस बुद्धि पर मानसिक कल्पनाओं का, विकारों का, पसंदगी-नापसंदगी का, वृत्तियों का रंग नहीं चढ़ता, जो केवल ज्ञान का कार्य करती है, वह 'प्रज्ञा' है। इसीलिए प्रज्ञा एक होती है और वह तटस्थ होती है। वह वस्तु-स्वरूप पर स्पष्ट लक्ष्य रखकर निर्णय दिया करती है।

मगर बुद्धि का स्वभाव ऐसा नहीं है। बुद्धि समय और परस्थितियों के अनुसार बदल जाती है। जब बुद्धि पर रंग चढ़ जाता है, तो एक ही बुद्धि की अनेक बुद्धियाँ बन जाती हैं। जैसे कि दया का रंग चढ़ जाने पर दया-बुद्धि, द्वेष का रंग चढ़ जाने पर द्वेष-बुद्धि कहलाने लगती है। इस प्रकार अनेक मनुष्यों को चारों ओर खींचने का, त्रस्त करने का, व्याकुल करने का, जर्जर करने का काम अलबत्ता बुद्धि ही करती रहती है। ऐसी हजार बुद्धियाँ भी व्यक्ति का मार्गदर्शन करने में बेकार हो सकती हैं। शुद्ध बुद्धि, अर्थात् प्रज्ञा ही ठीक निर्णय देती है, क्योंकि उसका न तो अपना कोई रंग होता है और न ही उसपर अन्य प्रकार के रंग चढ़ते हैं । वह तो थर्मामीटर की तरह होती है। स्वयं थर्मामीटर को बुखार नहीं चढ़ा होता, इसी से वह दूसरों के ताप का मापक हो सकता है।

शरीर-शक्ति की अपेक्षा बुद्धि-शक्ति श्रेष्ठ

बुद्धि किसी के पास कम या ज्यादा हो, इसका महत्त्व नहीं है। महत्त्व स्वच्छ बुद्धि का है। आग की छोटी सी् चिनगारी भी कार्यकारी हो सकती है। वह कपास के ढेर को जला सकती है। इसके विपरीत कोयला बड़ा होने पर भी उसमें दब जाता है। यानी कि बुद्धि शक्ति कम हो या ज्यादा, यदि वह स्वच्छ है तो सार्थक हो जाती है। यह बुद्धि की शक्ति की एक महत्त्वपूर्ण खूबी है।

शारीरिक शक्ति की बात ऐसी नहीं है। कोई सींकिया पहलवान इस जन्म में गामा बन सकेगा या नहीं, इसमें संदेह हो सकता है। किसी अल्प-बुद्धि मनुष्य के लिए राष्ट्रकार्य-संचालन का नेतृत्व साधना संभव नहीं, परंतु नितांत अल्प-बुद्धि और अशिक्षित मनुष्य भी इस जन्म में निस्देंह स्थितप्रज्ञ हो सकता है। उसके लिए गठरी भर बुद्धि की जरूरत नहीं है। प्रज्ञा की एक चिनगारी ही काफी है। भारी-भरकम बुद्धि चाहे संसार में कितने ही काम-

काज और उथल-पुथल करती रहे, परंतु त्रिभुवन को भस्म करने का सामर्थ्य तो केवल प्रज्ञा की छोटी सी चनिगारी में ही हो सकता है।

मन और बुद्धि में अनबन नहीं होनी चाहिए

मेरी दृष्टि से मनुष्य में केवल बुद्धि ही होनी चाहिए, मन का न रहना ही श्रेष्ठ है। मन को बुद्धि में वलीन हो जाना चाहिए, मन यानी संकल्प-वकल्पि। मन यानी कामनाओं की गठरी। संकल्प-वकल्पि या कामनाएँ सब ऐसी होनी चाहिए, जो बुद्धि का अनुसरण करनेवाली हों। मन और बुद्धि में अनबन नहीं होनी चाहिए, खींचतान नहीं होनी चाहिए। बस बुद्धि कहे और मन करे। निर्णय करना बुद्धि का काम है। बुद्धि कानून बनाने वाला महकमा है। मन उसपर अमल करनेवाला महकमा। उसे बुद्धि के क्षेत्र में बलिकुल दखल नहीं देना चाहिए। जसिका काम हो, वही करे। जीभ का कार्य मात्र इतना ही महसूस करना हो कि लड्डू मीठा लगता है या कड़वा, वह खाने के योग्य है या अयोग्य! लड्डू कतिना खाएँ, यह तय करना उसका काम नहीं। यह बुद्धि का कार्यक्षेत्र है। मन इसमें फजिूल ही टाँग न अड़ाए। इस तरह जब मन और बुद्धि के कार्यक्षेत्र को हम अलग-अलग निर्धारति कर लेंगे, तो झंझट होने के आसार धीरे-धीरे समाप्त होते जाएँगे।

स्थितप्रज्ञ की वधिायक व्याख्या और आत्मदर्शन

अब व्याख्या के वधिायक अंग का वचिार करें। 'आत्मन्येवात्मना तुष्टः' यह वधिायक लक्षण है। स्थितप्रज्ञ आत्मा में ही संतुष्ट रहता है। बाहरी दिखावे की अपेक्षा वह भीतरी दृश्य से ही तृप्त होता है। वस्तुतः बाहरी दृश्यों से भीतरी दर्शन ही अधकि सुंदर तथा भव्य होता है। कवि जसि दृश्य का वर्णन अपने काव्य में करता है, उस प्रत्यक्ष दृश्य की अपेक्षा भी उसके अंतर में उतरा हुआ दृश्य कहीं अधकि सुंदर होता है। इसीलिए कवतिा में होने वाला दृश्यांकन बाह्य सृष्टि की अपेक्षा अधकि रमणीय होता है। वह रमणीय आत्मदर्शन इस वधिायक लक्षण में सूचति किया गया है। इन दोनों लक्षणों को मलिाकर स्थितप्रज्ञ का संपूर्ण दर्शन होता है। वह कामनाओं का त्याग करता है और संतोष का झरना उसके चित्त में निर्बाध गति से बह रहा होता है।

यह वचिार करने योग्य प्रश्न है कि सचमुच कामनाओं में आनंद या समाधान है भी? अनुभव नहीं बताता कि कामनाओं से शांति, शीतलता, समाधान प्राप्त होता है। उलटे उनसे मन सतत छटपटाता रहता है। छटपटाहट मनुष्य को बेचैन कर देती है, चित्त में आग सी लगा देती है। अतः ऐसे डर की बलिकुल जरूरत नहीं है कि कामना के चले जाने से शीतलता कम हो जाएगी। कामना में जो समाधान मालूम होता है, वह सुख का आभास मात्र ही है। आनंद तो कामना की तृप्ति में, अर्थात् दूसरे शब्दों में उसके अभाव में होता है। कामना के पूर्ण होने का अर्थ है-एक तरह से उसका शमन होना, नष्ट होना।

आत्मदर्शन व कामना-त्याग परस्पर कार्य-कारण हैं

यहाँ जो दुहरा लक्षण बताया गया, वह केवल वधिायक तथा वधिेय ही नहीं, बल्कि उसमें से एक-दूसरे प्रकार का भी दुहरा अर्थ नकलता है। इनमें पहला प्रारंभकि और दूसरा प्रगट स्वरूप का है। ऐसा भी कह सकते हैं, पहला है-तमाम कामनाओं का त्याग कर देना, जो साधनरूप है। दूसरा लक्षण कामना-त्याग से प्राप्त शांत और आनंददायक स्थिति का द्योतक है। अतः पहला साधन रूप है और दूसरा है उसका फलति रूप प्रगट, शांत, आनंददायक। 'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा वन्दित्यात्मनि यत्सुखम्' अर्थात् बाह्य विषयों से चित्त जब अलग हो जाता है, तब पता चलता है कि अंदर कतिना आनंद भरा है! इस वाक्य में गीता ने आत्मदर्शन का यह एक वशिष क्रम सूचति किया है।

आत्मदर्शन के इस क्रम के वपिरीत स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में ही आगे चलकर ऐसा भी कहा है कि जैसे-जैसे आत्मदर्शन होता जाता है, वैसे-वैसे कामना का रस सूखता जाता है। इसका अर्थ तो स्पष्टतः यह हुआ कि आत्मदर्शन साधन है और कामना-नाश उसका फल।

कामना-त्याग की चार प्रक्रियाएँ

यहाँ सब कामनाओं का निःशेष त्याग बताया गया है, अर्थात् कामना कंटक की तरह मानी गई है। काँटा सोने का होने पर भी चुभेगा ही। छुरी सोने की होने पर भी प्राण ले सकती है। अतः गीता का यह सद्धिांत है कि मन का कोना-कोना झाड़-पोंछकर सारी कामनाएँ नकिाल फेंकनी चाहिए।

साधकों को विरोधाभास सा लगेगा, लेकिन यह स्पष्ट करना उचति ही है कि गीता के ही आधार पर यह भी कहा जाता है कि कुछ कामनाएँ रहने देने में गीता को आपत्ति नहीं है। 'धर्मविरुद्धो भूतेषु कामो।ऽस्मि भरतर्षभ' यह वचन प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किया जाता है। अतः इस प्रश्न पर वचािर कर लेना चाहिए। वास्तव में सतही तौर पर ये दोनों प्रकार के वचन विरोधाभासी प्रतीत होते हैं, लेकिन गौर से देखा जाए तो इन दोनों वचनों में कोई विरोध ही नहीं है। एक वाक्य में उस मुकाम का निर्देश किया गया है, जहाँ हमें पहुँचना है और दूसरा वाक्य यह सूचति करता है कि कामनाओं का त्याग कैसे किया जाए! वस्तुतः कामना-नाश की प्रक्रिया के साधारणतः चार प्रकार हैं-

(1) वस्तिारक प्रक्रिया।

(2) एकाग्र प्रक्रिया।

(3) सूक्ष्म प्रक्रिया

(4) वशिुद्ध प्रक्रिया।

उपरोक्त सभी प्रक्रियाओं पर हम एक-एक कर वचिार करते हैं-

कर्मयोग की वसि्तारक प्रक्रिया

कामना जो व्यक्तगति होती है, उसे सामाजकि रूप देना, यह कर्मयोगी की कामना-नाश की एक युक्ति है। कोई देहात के सज्जन अपने लड़कों को पढ़ाना चाहते हैं, तो वे अपने गाँव में एक पाठशाला ही खोलने का नशि्चय कर लें। और इस प्रकार अपने लड़के की पढ़ाई के साथ-साथ ही गाँव के और लड़कों के लिए भी पढ़ाई की सुवधिा कर दें। इस तरह का कार्य अपनी कामना को सामाजकि रूप प्रदान करने की श्रेणी में आएगा।

ध्यानयोग की एकाग्र प्रक्रिया

अपने मन की अनेक वासनाओं में तुलना करके देखिए कि उनमें से सबसे प्रबल वासना कौन सी है! शेष वासनाओं को छोड़कर उसी एक वासना को आगे ले आइए और मन को उसी की धुन लगने दीजिए। उसी में अपना चित्त एकाग्र कीजिए। मान लीजिए, किसी विद्यार्थी को और वासनाओं के साथ वेदाभ्यास की भी इच्छा है, परंतु वह अन्य वासनाओं से बलवती है तो वह गुरु-गृह जाकर रहेगा, जो मलिेगा, वही खाकर अध्ययन करेगा, अर्थात् वह मीठा खाने की वासना को मार डालेगा, अच्छे कपड़े पहनने की वासना को समाप्त कर देगा। इस तरह अपनी मुख्य वासना को प्रमाण मानकर उसके अनुसार अपना सारा जीवन बनाया जाए, यह ध्यानयोग की युक्ति है।

ज्ञानयोग की सूक्ष्म प्रक्रिया

इस प्रक्रिया में स्थूल वासनाओं को त्यागिए और सूक्ष्म वासना को ग्रहण कीजिए, ऐसी युक्ति बताई जाती है। यदि सजने-धजने का शौक है, तो शरीर को सजाने की अपेक्षा अंतरंग को सजाओ, अपनी बुद्धि को सजाओ, चतुर बनो, नई विद्या प्राप्त करो, कला सीखो। शरीर के स्थूल शृंगार की अपेक्षा यह बौद्धकि शृंगार कहीं अधकि सूक्ष्म oë¢गार है। इस बौद्धकि शृंगार से भी और अधकि सूक्ष्म शृंगार है-हृदय को शुभ गुणों से मंडति करना। शरीर को अच्छे-अच्छे वत्रों से सजाना या सुंधति करनेवाले इत्र लगाने की अपेक्षा बुद्धि-चातुर्य सजावट का अधकि अच्छा तरीका है, अधकि सुंधति इत्र है; और सुंधि से भी कहीं अधकि सुंधति इत्र है-हृदय की शुभ-गुण संपदा।

भक्ति-योग की वशिुद्ध प्रक्रिया

इस प्रक्रिया में हम वासना के व्यक्तगति और सामाजकि अथवा स्थूल और सूक्ष्म, ऐसे भेद नहीं करते। शुभ वासना और अशुभ वासना-ऐसा भेद करते हैं। मात्र अच्छी वासनाओं को रखिए, बुरी वासनाओं को त्याग दीजिए। यदि मीठा खाने की इच्छा हुई, तो मिठाई न खाकर आम खा लीजिए। मिठाई से नुकसान हो सकता है, उससे रजोगुण भी बढ़ेगा, पर

आम स्वास्थ्य के लिए अच्छा होता है और उससे सत्त्वगुण भी बढ़ेगा। इस प्रक्रिया में हम आरंभ में ही वासना को मारने के लिए प्रयास शुरू नहीं करते, अपितु एक के स्थान पर दूसरे साधन का चयन करके उसे अपनाने का तरीका आजमाते हैं।

वशिुद्ध प्रक्रिया सब प्रकार से सुरक्षति

इन चारों प्रक्रियाओं के अंत की यह वशिुद्ध प्रक्रिया सबमें निरापद है। अतः सबसे उत्तम है और प्रायः भक्तियोग ने इसी को स्वीकार किया गया है। अन्य प्रक्रियाओं में शक्ति है, पर खतरा भी बहुत है। वसि्तारक प्रक्रिया में कामना को सामाजकि बनाने के लिए कहा गया है, पर वह कामना ही अशुभ रही तो? उदाहरण के लिए यदि किसी को मदिरा पीने की ही इच्छा हुई तो क्या वह इस प्रक्रिया के अनुसार मदिरा पीने का सार्वजनकि क्लब खोलेगा? तो इससे तो उसका और समाज का भी अधःपतन हो जाएगा। इसका मतलब तो यह हो हुआ कि केवल सामाजकि बना देने से ही कोई वासना शुद्ध हो जाती है, से बात नहीं है। एकाग्र प्रक्रिया में भी वही खतरा है। जसि वासना पर चित्त एकाग्र करना है, यदि वही अशुभ हो तो सभी कुछ समाप्त हो सकता है। ऐसे में लाभ के स्थान पर नुकसान अधकि हो सकता है।

इंद्रिय-जय के विज्ञान की प्रस्तावना

स्थितप्रज्ञ के लक्षण वस्तुतः पहले चार श्लोकों में ही पूरे हो गए। अब इंद्रिय-निग्रह के विज्ञान और तत्त्वज्ञान पर वचिार करेंगे। पहले तीन श्लोकों में विज्ञान बताया जाएगा। अब तक उत्तरोत्तर सरल साधन बताए गए। जैसे-

(1) पहले कहा-कामना छोड़ ही दो।

(2) फिर कहा-कामना का परिणाम मत होने दो; तृष्णा, क्रोध और भय, इनमें उसका पर्यवसान मत होने दो।

(3) फिर बताया-परिणाम हो भी, तो उसे काबू में रखो, बुद्धि पर उसका आक्रमण मत होने दो। और,

(4) अंत में कहा कि इंद्रयों को ही समेटो। इस तरह भनि्न-भिन्न व्यूहों के द्वारा उनका वविरण दिया गया, ताकि पता चले कि साधना का श्रीगणेश कैसे किया जाए! इसका यह अर्थ नहीं कि साधक को अंतमि सीढ़ी तक पहुँचे बनिा स्थितप्रज्ञता प्राप्त हो जाएगी। अंत में इंद्रयों को समेटना तो सिर्फ इसलिए कहा गया है कि वह सबमें सुलभ साधन है। परंतु नगि्रह और संयम, दोनों से इंद्रयों को वश में कर लें, तो इतने से ही मनुष्य स्थितप्रज्ञ नहीं हो सकता। यही नहीं, बल्कि सच्चाई तो यह है कि इतने से तो इंद्रिय-जय भी पूरा नहीं होता।

हाँ, उपरोक्त प्रक्रिया से इंद्रयों पर काबू पाना आ जाने पर उस नियंत्रण के सहारे भीतर की सारी कामनाओं को काटकर फेंक देना आसान अवश्य हो जाता है। 'मैं जैसा संकल्प करूँगा, वैसा ही इंद्रियाँ आचरण करेंगी', इस अनुभूति से प्राप्त शक्ति के सहारे कामना का बीज ही चित्त से बाहर नकिाल फेंकना है। जब यह कामना-बीज नष्ट हो जाएगा, तभी हम समझेंगे कि इंद्रिय-निग्रह सफल हुआ। इंद्रिय-निग्रह की हमारी नाप इतनी सूक्ष्म है, और वही अब एक श्लोक में बताई जाती है। यह 'इंद्रिय-निग्रह' नहीं कहा जा सकता, बल्कि यह तो 'इंद्रिय-निग्रह' के विज्ञान का आरंभ है।

निराहार, प्राथमकि साधना, रस-निवृत्ति साधना की पूर्णता

विषया वनिविर्तन्ते निराहारस्य देहनिः।

रसवर्जं रसो। प्यस्य परं दृष्ट्वा नविर्तते।।

अर्थात् 'निराहार की साधना से साधक के स्थूल विषय तो छूट जाते हैं, परंतु विषयों की सूक्ष्म अवस्था अर्थात् उन विषयों के प्रति राग और रुचि तो शेष रह ही जाती है। वह फिर पर-दर्शन से नवृित्त होती है।' यह इस श्लोक का भावार्थ है। विषय छूट गए, विषयों से इंद्रयों को समेट लिया, तो इतने ही से यह नहीं समझना चाहिए कि इंद्रिय-जय पूर्ण हो गया। 'निराहार' शब्द के 'आहार' का अर्थ 'रसना का आहार' तो है ही, परंतु इसके अलावा 'सब इंद्रयों के भोग', यह व्यापक अर्थ भी लेना होगा। अर्थात् यह शब्द यहाँ लक्षणात्मक है।

श्रीमद्भगवद्गीता की गुरु-दृष्टि

दार्शनकि दृष्टि से कहना हो तो सिर्फ इतना ही बताना बाकी है कि सभी कामनाएँ छोड़ दो। आरंभ की स्थितप्रज्ञ की व्याख्या दार्शनकि की भाषा में की है। परंतु दार्शनकिों का ढंग और है और शक्षिक का ढंग और। शक्षिक विद्यार्थी की भूमकिा और अधकिार का खयाल करके बोलता है। यह तो वह जताकर कह देता है कि अंतमि साधना पूर्ण हुए बनिा डप्लिोमा नहीं मलिेगा; परंतु साथ ही यह भी बताता है कि आज का पाठ क्या होगा! अर्थात् एक ओर शात्रीयता को कायम रखकर भी और दूसरी ओर दयालु होकर ऐसा भी साधन बताता है, जसिसे विद्यार्थी को आशा मालूम हो और धीरज बँधे। गीता की पद्धति इसी प्रकार वत्सलतापूर्ण है।

प्राथमकि साधना अपूर्ण हो सकती है, ढोंग नहीं

असल में कहना यह है कि जब तक भीतर का रस नष्ट नहीं होता, तब तक प्रयत्न जारी रखना चाहिए। तब तक क्या करें? तब तक का मूल कार्य बाहर से इंद्रयों को समेटना ही है। इसपर कुछ लोग कहते हैं, 'यह तो ढोंग हुआ! अंतर का रस-राग ज्यों-का-त्यों है और बाहर से बलात् इंद्रयों को रोकने में लगे हैं।' लोग तो यहाँ तक कह देते हैं कि यह तो आत्मघाती कदम है, जन्हिें आत्मनाश करना हो, वे साधक ही ऐसे अतार्ककि प्रयोगों के चक्कर में पड़ें।

यदि कोई साधक पर ढोंग का इलजाम लगाना ही चाहे, तो वह उसी समय साबति हो जाएगा; क्योंकि साधना पूर्ण होने तक उसका केवल प्रयत्न ही जारी रहने वाला है। तब तक उसकी मनोवस्था और आचार में फर्क दिखाई देगा ही। वह प्रार्थना में बैठेगा, तो भी मन इधर-उधर दौड़ता रहेगा। तो कहते हैं-"वह प्रार्थना ही न करे। प्रार्थना तो ढोंग है।" साधक पर ऐसा आरोप तभी साबति होगा, जब यह सद्धि किया जा सके कि वह लोगों को बताने के लिए प्रार्थना का दिखावा करता है। पर वह ऐसा तो करता नहीं। जब ढोंग की नीयत न हो, तो उसे ढोंग कैसे कहेंगे?

साधना की पूर्णता पर-दर्शन, अर्थात् आत्मदर्शन

जब तक आंतरकि रुचि अर्थात् रस के प्रति राग की भावना नहीं मटिती, तब तक सूक्ष्म अर्थ में इंद्रिय-निग्रह नहीं सध सकता। यह रुचि कैसे मटि? इसका उत्तर दिया है भगवान् श्रीकृष्ण ने-'पर-दर्शन' शब्द से, जो आत्म-दर्शन का सशक्त साधन है।

पर-तत्त्व का अर्थ है-सबसे पहले पार का तत्त्व। वस्तुतः वह तत्त्व सबसे पहले पार का नहीं है। परंतु उलटी ही भाषा चल रही है। इसी उलटी भाषा का असर यह होता है कि हम शरीर से अर्थात् देखने में आने वाले सबसे बाह्य तत्त्व से गनिती शुरू करते हैं। शरीर सबसे बाहरी है, उसे सबसे नजदीक का मानते हैं। उसके बाद मन को, मन के बाद बुद्धि को और बुद्धि के बाद कहीं आत्मा को अपने से दूर या सबसे बाहर का तत्त्व मानने लगते हैं। ऐसी उलटी गनिती के कारण ही जो हमारे सबसे नजदीक का है, वह सबसे दूर का हो बैठता है। 'इंद्रियाणि पराण्याहु इंद्रियेभ्यः परं मनः' इत्यादि वचनों में गीता ने ऐसी भाषा को अपनाया दीखता है।

इंद्रयों का उद्डं स्वभाव : मनु का एतद्विषयक वचन

इस प्रकार का ववििचन सुनने के बाद कोई भी सहज ही कह देगा कि 'वाह! उत्तरोत्तर सरल साधन बताता हूँ, ऐसा आश्वासन देकर हमको खूब फँसाया-पहले मिठाई दिखाकर फिर डंडा दिखाया।' भीतरी रस छोड़ना सरल नहीं। यह कैसे सधेगा? अब इसी की प्रक्रिया बतानी है। परंतु इससे पहले आक्षेपकों के आक्षेप को ही भगवान् इस श्लोक में दृढ़ करते हैं-

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य वपश्चितिः।

इद्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।।

अर्थात् "प्रयत्नशील और वचािरवान मनुष्य की इंद्रियाँ भी जोर मारकर उसके मन को खींच ले जाती हैं।" ऐसा ही एक वचन मनु का भी है। अनेक लोग उसका और गीता के इस श्लोक का एक ही अर्थ करते हैं।

मनु की और गीता की भूमकिा समान नहीं

मनु के उपरोक्त वचन का वस्तुतः गीता के वाक्य के साथ मेल नहीं बैठ सकता। मनु ने साधारण मनुष्य के लिए व्यवहार की सामाजकि मर्यादा बताई है और गीता का वविचन आध्यात्मकि दृष्टि से किया गया है। "मनुष्य को अपने पर जरूरत से ज्यादा विश्वास नहीं रखना चाहिए। बाह्यतः भी इंद्रयों का नग्रिह उससे हो ही सकेगा, यह नहीं कह सकते," ऐसा मनु का आशय है।

गीता साधकों के बारे में यह नहीं कहना चाहती कि तुमसे स्थूल अथवा बाह्य इंद्रिय-निग्रह भी नहीं सध सकता। यहाँ यह गृहीतार्थ माना गया है कि इंद्रयों को बाह्यतः रोककर हम निराहार हो सकेंगे। गीता को यह मान्य है कि हम चाहें तो विषयों से इंद्रयों को हटा सकते हैं। वह इतना ही नहीं, बल्कि ऐसा भी कहती है कि ऐसा अवश्य करना चाहिए।

ज्ञानी और प्रयत्नवान मनुष्य के मन को भी इंद्रियाँ खींच सकती हैं

गीता मानती है कि ऐसा साधक जो अच्छी तरह वचािरपूर्वक प्रयत्न करता है, उसका भी यह हाल हो जाता है। 'यततो ह्यपि, वपश्चितिः अपि' इस तरह 'अपि' शब्द का अर्थ दोनों जगह लेना है। 'वपश्चित्' शब्द में 'वपिः' और 'चत्' ये दो शब्द हैं। 'वपिः' शब्द वस्तुतः संस्कृत के 'वप्' शब्द की द्वितीय ा का बहुवचन है। 'वप्' ज्ञानार्थक धातु है। यही 'वप्र' शब्द में है। 'वप्र' यानी ज्ञानी। वपश्चित् यानी अनेक ज्ञानों को जाननेवाला, अनेक मर्मों का ज्ञाता। "ऐसा ज्ञाता भी है और प्रयत्नशील भी है, किंतु उसके लिए भी 'सूक्ष्म इंद्रियजय' को साधना कठनि होता है, क्योंकि इंद्रियाँ उसके मन को भी लुभाना चाहती हैं।" ऐसा भाव यहाँ गीता का है।

ज्ञान और ततिक्षापूर्वक प्रयत्न, मनुष्य की दो महान् शक्तियाँ

ज्ञान और ततिक्षापूर्वक प्रयत्न-ये दो महान् शक्तियाँ मनुष्य के पास हैं। तीसरी कोई शक्ति उसके पास है ही नहीं। अब यदि यह कहा जाए कि मनुष्य को उपलब्ध ये दोनों शक्तियाँ लगा देने पर भी इंद्रियाँ सिरजोर होकर मन पर काबू जमा लेती हैं, तो फिर मुश्कलि ही समझना चाहिए। यत्नवान वपश्चित् पुरुष का अर्थ हुआ-तत्त्वज्ञान और ततिक्षा, इन दोनों शक्तयों से संपन्न पुरुष। गीता के दूसरे अध्याय में आरंभ में ही इसी पुरुष को 'धी' अर्थात् बुद्धि और 'धीर' यानी बुद्धमिान, ज्ञानी की संज्ञा दी गई है। परंतु अकेले ज्ञान से साधना पूरी नहीं होती। ज्ञान तो है, पर सहन करने की शक्ति अर्थात् ततिक्षा नहीं है, तो मनुष्य टकि नहीं सकेगा। मनुष्य को अत्यंत दारुण यंत्रणा देने पर यह कहना कठनि है कि केरे ज्ञान-बल से वह अंत तक सब सह सकेगा।

एक वैज्ञानकि की कथा प्रसद्धि है-'पृथ्वी घूमती है' यह तथ्य प्रतपिादति करने के कारण उसे बहुत सताया गया। तब उसने कहा, "लाओ, आप लोग जो कहेंगे, उसपर दस्तखत कर देता हूँ।" वे लोग 'पृथ्वी नहीं घूमती है' इस आशय के मजमून पर सही कराना चाहते थे। वह अधकि कष्ट सह नहीं सका, इसलिए बेचारे को मजबूर होना पड़ा। परंतु जब सही करने

का समय आया, तब उसने कहा, "मैं क्या करूँ? मेरे 'नहीं' कहने पर भी वह तो घूमती है, घूमती है और अवश्य घूमती है।" भावार्थ यह कि ज्ञान के साथ ततिक्षिा भी चाहिए। अक्ल के साथ दृढ़ता चाहिए। 'धीर' शब्द के दूसरे अर्थ में वह आ जाती है।

ज्ञान के साथ ही भक्ति भी आवश्यक

जब और जहाँ मनुष्य की पुरुषार्थ-शक्ति वुंठति हो जाती है या टूट जाती है, बस वहीं से भक्ति आवश्यक हो जाती है। परपूिर्ण प्रयत्न किए बनिा भक्ति के लिए गुंजाइश नहीं है। ईश्वर ने जो शक्ति हमें दे रखी है, हमारे भीतर जो शक्ति बसती है, वही 'वासुदेव' शक्ति है। वह ईश्वर की ही शक्ति है, वह ईश्वर ने हमें पहले से ही दे रखी है। कुछ शक्ति उसने हमें दे रखी हैं, कुछ अपने पास रख छोड़ी हैं। यह जो देव-प्रदत्त शक्ति हम समझते हैं, यह हमारी भूल है। वस्तुतः वह ईश्वर की ही शक्ति है। इसके वपिरीत ईश्वर ने जो शक्ति अपने पास रख छोड़ी है, वह भी हमारी ही शक्ति है। अपने पास की शक्ति का पूर्णतया उपयोग करने पर ही उस ईश्वरीय शक्ति की माँग का अधकिार प्राप्त हो पाता है।

गजेंद्र-मोक्ष का परिष्कृत दृष्टांत

गजेंद्र-मोक्ष का उदाहरण देते हुए भक्ति-मार्ग में यह बताया जाता है कि पहले ग्राह से जब गजेंद्र की लड़ाई हुई तो पहले गजेंद्र ने अपनी शक्ति से ग्राह पर वजिय प्राप्त करने का भरसक प्रयत्न किया। जब तक गजेंद्र अपनी शक्ति से लड़ता रहा, तब तक भगवान् उसकी सहायता के लिए नहीं आए। भक्ति-मार्ग मानता है कि गजेंद्र को अपनी शक्ति का अहंकार था। जब तक गजेंद्र को अपनी शक्ति पर अहंकार रहा, तब तक भगवान् उसकी रक्षा के लिए नहीं आए। क्योंकि गजेंद्र को यदि अपनी शक्ति का अहंकार था, तो ईश्वर ने उसका गर्व-परहिार होने का पूरा अवसर दिया। जब गजेंद्र के गर्व का परहिार हो गया तो भगवान् ने स्वयं आकर उसकी सहायता की। यही बात बाली और सुग्रीव के संग्राम के समय घटति हुई। जब तक सुग्रीव अपनी शक्ति से बालि से लड़ता रहा, श्रीराम ने बाली को नहीं मारा। जब सुग्रीव थक गया और उसे लगने लगा कि बाली उसे मार डालेगा, तब उसने भगवान् की ओर आशा भरी नजरों से देखा और भगवान् ने उसकी रक्षा के लिए बाली को बाण मार दिया।

ईश्वर के शरणागत होना पराधीनता नहीं

इस प्रकार ईश्वर के शरणागत होने पर ही उनकी कृपा प्राप्त होती है। कोई यह समझ सकता है कि पहले शरणागत होकर ईश्वर पर निर्भर हो या बाद में, परंतु आखिर तो ईश्वर पर ही निर्भर रहना पड़ता है। किसी को इस प्रकार ईश्वर पर निर्भरता पराधीनता भी लग सकती है। परंतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि देखा जाए तो, ज्यों ही हमारी शक्ति खत्म हुई, त्यों ही पराधीनता आ गई। परंतु ईश्वर की शक्ति का आवाहन करना, सचमुच में पराधीनता नहीं

है।

मान लीजिए कि आपने कोट की जेब के दो हिस्से कर लिये और दोनों में पैसे भरकर रख लिये। ऊपर के हिस्से के पैसे खर्च हो जाने पर अंदर के हिस्से से निकाल लिये। दोनों हिस्से हैं तो अपनी ही जेब के न? अथवा कुछ रुपए आपके अपने ट्रंक में है और कुछ बैंक में जमा हैं, ऐसा ही समझ लीजिए। ईश्वर और हम, दोनों एक ही चैतन्य के रूप हैं। हम अंशमात्र हैं, ईश्वर उस चैतन्य का पूर्णरूप है। तो भी चैतन्य तो एक ही है। अतः उसकी शक्ति हमारी शक्ति है। इसलिए ईश्वर से माँगने और प्राप्त करने में पराधीनता नहीं है और न ही ऐसी सोच उचित है।

अनन्यता सकामता को भी बचा लेती है

अब यहाँ यह सहज ही पूछा जा सकता है कि भले ही गौण रूप में क्यों न हो, और अनन्यता की शर्त पर ही क्यों न हो, गीता ने सकाम भक्ति को जो स्थान दिया है, वह क्यों दिया है? इसका उत्तर यह है कि कामना-पूर्ति के लिए भी यदि किसी ने दूसरे सब अवांतर आधार छोड़कर एक ईश्वर का पल्ला अनन्य भाव से पकड़ लिया है, तो यह समझना चाहिए कि उसने भी एक उत्तम निश्चय पर अमल करना शुरू कर दिया है। अब आधारों को छोड़कर कर ईश्वर पर ही भरोसा रखना कोई छोटा-मोटा निश्चय नहीं है। अतएव, सकामता गौण स्तर की होने पर भी यही निश्चय आत्मोन्नति में साधक होता है, बाधक नहीं।

सुदामदेव का दृष्टांत

इस विषय में सुदामदेव का उदाहरण बहुत ही सटीक उत्तर है। दरिद्रता से अतिशय पीड़ित होने के कारण उनकी पत्नी ने सुदामदेव को श्रीकृष्ण के पास भेजा। श्रीकृष्ण ने उन्हें प्रेम तो खूब दिया, लेकिन जैसी इच्छा लेकर वे श्रीकृष्ण के पास आए थे, वैसी कोई भौतिक सहायता न देकर खाली हाथ घर लौटा दिया। श्रीकृष्ण खुद उन्हें पहुँचाने बड़ी दूर तक साथ आए। सुदामदेव कुछ चिविड़ा पल्ले में बाँधकर ले गए थे, सो भी गँवाकर खाली हाथ लौटे, पर मन में बहुत आनंद हो रहा है। 'पत्नी ने मुझे कामना के साथ भगवान् के यहाँ भेजा था, पर यह माधव कितना दयालु है! इसने मेरी ऐसी-वैसी् कामना पूर्ण नहीं की।' यह सोचते हुए, वे अपनी भक्ति को पुष्ट करते हुए घर लौटे। गाँव पहुँचने पर देखते हैं कि माधव ने तो सारा गाँव ही सोने का बना दिया! अब सुदामदेव सोचते हैं कि 'माधव ने यह जो संपत्ति दी है, यह मेरे तुच्छ सुखोपभोग के लिए थोड़े ही है। भगवान् की यह देन जनता की सेवा में ही लगाई जाए।' कहने का अर्थ यह है कि भक्त तो केवल यही सोचता है कि भगवान् ने दिया तो भी अनुग्रह, और न दिया तो भी उसका अनुग्रह ही है। ऐसी अनन्यता की भावना में ही तो भक्त और उसकी समर्पित भक्ति की महिमा समाई हुई है।

भक्त को सब बातों में ईश्वर कृपा ही दिखाई देती है

एकनाथ को भगवान् ने मनोनुकूल पत्नी दी। उन्हें लगा-'भगवान् का कतिना अनुग्रह है मुझे पर! अब इसकी सहायता से जल्दी ही मैं ईश्वर-प्राप्ति कर लूँगा।' तुकराम को अनुकूल पत्नी नहीं मलिी। वे कहते हैं-'भगवान् का मुझ पर कतिना अनुग्रह है कि उसने मुझे मनमाफकि स्त्री नहीं दी, अन्यथा मैं अवश्य ही इस संसार में फँस जाता!' पत्नी अनुकूल मलिी तो भी परमात्मा की कृपा, प्रतकिूल मलिी तो भी परमात्मा की कृपा। बलिकुल न मलिे, तब भी परमात्मा की कृपा और मलिकर मर गई, तो भी परमात्मा की ही कृपा!

विषय-चिंतन से संग और संग से काम पैदा होता है

जो इंद्रिय-निरोध नहीं कर पाया है, जो विषयों का ध्यान करता रहता है, उसे उस विषय का संग लग जाता है। संग का अर्थ है संगति, परचिय। विषय का संग लगता है, इसका अर्थ है विषयों में लगाव का उत्पन्न होना। विषयों का लगाव होने से मन विषयों में लप्ति होने लगता है। उससे विषयों के प्रति आसक्ति या काम पैदा होता है। पहले विषयों का ध्यान, फिर संग, और फिर काम, इस प्रकार का उत्तरोत्तर क्रम है। इन तीनों वृत्तियां में कोई बड़ा अंतर नहीं है, बल्कि ये एक ही वृत्ति के तीन रूप हैं। उद्गम से लेकर मुख तक बड़ी नदी के अनेक नाम होते हैं, तो भी उसका प्रवाह एक ही रहता है। उसी तरह एक ही प्रवाहशील वृत्ति के ये तीन नाम हैं। मट्टिी और मट्टिी की बनी वस्तुओं में आखिर अंतर क्या होगा? चिंतन के द्वारा विषय से परचिय होता है, अर्थात् विषय मन में साकार होने लगता है। कोई मनुष्य किसी मत्रि के आग्रह से महज देखने के लिए शराब की दुकान पर चला गया। फिर अपने मत्रि के खिंचाव से बार-बार जाने लगा। इस खिंचाव का नाम है-'संग'। फिर उस विषय में रमणीयता, सुंदरता, आकर्षण, रस, मिठास, रंजन अनुभव होने लगता है। यही 'काम' है। गीता कहती है कि इसी काम से फिर 'क्रोध' उत्पन्न होता है-कामात् क्रोधो।ऽ भजिायते।

काम से क्रोध उत्पन्न होता है-भाष्यकारों के स्पष्टीकरण

शंकराचार्य ने अपने गीता भाष्य में 'कामात् कुतश्चति् प्रतहतितात् क्रोधः अभजिायते' कहा है। वे कहते हैं कि-काम जब प्रतहति होता है, तो उसमें से प्रतक्रिया स्वरूप क्रोध उत्पन्न होता है। परंतु यदि किसी ने ऐसी युक्ति नकिाल ली कि उसकी कामनाएँ प्रतहति ही न हों, तो फिर काम से क्रोध कैसे पैदा होगा? इसका अर्थ यह हुआ कि काम से क्रोध पैदा होता है, यह वाक्य सदा के लिए सत्य साबति नहीं होगा। काम में यदि कोई रुकावट न पड़ी, तो फिर इस वाक्य की इमारत ढहने लगती है। इसलिए गांधीजी ने इसका एक और रास्ता नकिाला है-"काम कभी पूरा होता ही नहीं।" साधारणतः यह बात ठीक होती है। सारे संसार का अनुभव है कि काम कभी भी पूर्ण नहीं होता। वासना बढ़ती ही जाती है, तृप्ति कभी होती ही नहीं। दस हजार मलिे, तो लाख की इच्छा होती है। लाख के बाद, दस लाख की और फिर करोड़ की। गणति की संख्या का अंत नहीं। वासना का भी अंत नहीं।

एकनाथ की एतदविषयक युक्ति

एकनाथजी ने अपने भागवत भाष्य में इस विषय पर एक और ही युक्ति नकिाली है। वे कहते हैं-"काम या तो पूरा होगा या अधूरा रहेगा। अधूरा रहा तो क्रोध पैदा होगा और पूरा हो गया तो लोभ को जन्म देगा। अतः 'क्रोध' शब्द का अर्थ क्रोध और लोभ मलिाकर व्यापक करना चाहिए।" फिर सम्मोह होगा, तो वह क्रोध से होगा या लोभ से? नरक के तीन दरवाजे बताते हुए गीता ने काम और क्रोध के साथ लोभ को जोड़ा है; अनुभूति भी ऐसी ही है कि काम से क्रोध और लोभ दोनों ही पैदा होते हैं।

'क्रोध' शब्द का अर्थ यहाँ 'क्षोभ' समझना है

एकनाथजी की परभिाषा सत्य के काफी नकिट है, परंतु इस समस्या को हल करने का तरीका वास्तव में दूसरा ही है। यहाँ हमें यह समझना है कि 'क्रोध' का एक विषयों का ध्यान लगने से संग उत्पन्न होता है। 'संग' का अर्थ है-विषय का साकार रूप ग्रहण करना। फिर वह कांत, कमनीय अर्थात् पाने योग्य लगता है। यह काम है, जसिमें से क्रोध को अवश्यंभावी कहा है। यह नहीं कहा गया है कि काम से कभी-कभी ही क्रोध पैदा होता है। अतः क्रोध शब्द सामान्य अर्थ में नहीं आया है। क्रोध का स्थूल स्वरूप और हमारा चिर परचिति अर्थ है-गुस्सा, संताप। क्रोध का यह अर्थ लेना यहाँ अभीष्ट नहीं, बल्कि चित्त का चलन अथवा क्षोभ, ऐसा अर्थ लेना ही यहाँ अभीष्ट है।

'क्रोध' यानी क्षोभ अर्थात् चित्त की अप्रसन्नता

इसकी वपिरीत परंपरा, जो अन्वय-पद्धति से आगे बताई गई है, उससे भी इन शब्दों का यही अर्थ नकिलता है। आगे यह कहा गया है कि जसिने इंद्रयों को जीत लिया है, उसे प्रसन्नता प्राप्त होती है। हमने अभी जो ववेिचन किया है, उससे स्पष्ट है, गीता में 'क्रोध' शब्द मन की प्रसन्नता के वपिरीत अर्थ में आया है। 'काम' मन की उस छटपटाहट को कहते हैं कि मुझे फलाँ चीज चाहिए और यही अप्रसन्नता है। जब तक वह विषय (वस्तु) प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक मैं पूर्ण नहीं हूँ, उसके बगैर मुझमें कमी है। ऐसी हीन भावना कामना के मूल में रहती है। इसीलिए कामना से मन मलनि होता है। उसकी निर्मलता नष्ट होती है। संस्कृत में 'प्रसन्न' शब्द निर्मल के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। स्वच्छ पानी को 'प्रसन्नं जलम्' कहते हैं। जैसे सिंहगढ़ की देवटंकी तक उसकी सार यात्रा साफ-साफ दिखाई देती है। प्रसन्नता का अर्थ है-वैसी ही निर्मलता और पारदर्शकता।

कामना से चित्त-क्षोभ क्यों होता है?

आत्मा के परपिूर्ण और अनंत गुणी होते हुए भी मनुष्य बाह्य वस्तु के लिए क्यों छटपटाता है? बाहर की इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-परहिार के झंझट में वह क्यों पड़ता है? यह बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। गहराई से देखने पर स्पष्ट हो जाता है, इसका कारण है कि मनुष्य के

चित्त को आत्मा का दर्शन नहीं होता। उसे केवल बहिर्दर्शन होता है, अर्थात् वह मात्र बाहरी सृष्टि को ही देख पाता है और यही बाहरी सृष्टि का सौंदर्य उसे लुभाता रहता है तथा असौंदर्य मन को तकलीफ देता है।

वस्तुतः सौंदर्य अथवा असौंदर्य बाह्य वस्तु में है ही नहीं, वहाँ तो मात्र आकार है। मनुष्य को इस आकार को प्रमाण मानकर तद्विषयक अनुकूल-प्रतकूिल वृत्ति मुख्यतः अपने चित्त की करनी होती है। चित्त इंद्रयों के अधीन रहता है। गधे की आवाज हमारे कानों को कर्कश मालूम होती है, इससे चित्त भी उसे कर्कश समझता है, परंतु वास्तव में वह न तो मधुर है, न कर्कश। वह जैसी है, वैसी है। हमारे कानों को यद्यपि वह बुरी लगती है, तो भी गधे के कानों को आनंददायी ही मालूम होती होगी। यदि उसे भी वह कर्कश या चित्त को क्षुब्ध करने वाली लगती, तो वह ऐसी आवाज नकािलता ही क्यों?

मनुष्य को जब यह बात समझ में आ जाएगी कि आत्मा परपूि्ण है, तो मनुष्य का चित्त स्वतः ही संतुष्ट और प्रसन्न हो जाएगा। उसे किसी भी प्रकार की कमी नहीं खटकेगी और वह असंतुष्ट भी नहीं होगा। फिर तो वह यही कहेगा-"मैं बाह्य वस्तु के पीछे पड़कर, उसके लिए व्याकुल होकर परतंत्र क्यों बनूँ? वह वस्तु क्यों नहीं मेरी अभलािषा करती? मैं ही क्यों उसके लिए व्याकुल होकर अपने चित्त को खराब करूँ? वह अपनी ऐंठ में चूर है, तो मैं भी अपनी ऐंठ में चूर क्यों न रहूँ?" बाह्य वस्तु की अभलािषा करते रहने से आत्मा में न्यूनता आने लगती है और इस न्यूनता की भावना मात्र से ही मनुष्य का चित्त क्षुब्ध होने लग जाता है। चित्त की इस क्षुब्धता को ही इस श्लोक में श्रीमद्भागवद्गीता ने 'क्रोध' कहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीमद्भागवद्गीताकार ने मानव मन की संवेदनाओं और मनोवकिारों का लाक्षणकि शैली में वर्णन किया है।

क्रोधात् भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।

क्रोध से मोह होता है**,** अर्थात् बुद्धि भोथरी होती है

क्रोध से मन मूढ़ हो जाता है-क्रोधात् भवति सम्मोहः। बचपन में मैं कहा करता था-'भरपेट गुस्सा होकर भी मेरी बुद्धि ज्यों-की-त्यों साबति रहती है।' क्रोध से बुद्धि की समता नष्ट होती है, इसका भी होश नहीं रहता, यही इस बात का लक्षण है कि बुद्धि साबति नहीं है। मोह का अर्थ यह नहीं है कि बुद्धि की सारी ही शक्ति नष्ट हो जाए। बुद्धि की प्रखरता का चला जाना और उसका भोथरा पड़ जाना ही मूढ़ता का अर्थ है। ऐसी स्थिति में मनुष्य का कर्तव्य-निर्णय गड़बड़ा जाता है, यही सम्मोहहै।

मोह से स्मृतभिंश होता है**,** अर्थात् यह होश नहीं रहता कि हम कौन हैं

इस तरह सम्मोह होने पर स्मृतभिंश होता है। स्मृतभिंश का अर्थ मामूली वस्मिृति नहीं, बल्कि इस बात का वस्मिरण कि 'मैं कौन हूँ' स्मृतभिंश है। बहुत सी बातों का याद रहना 'स्मृति' नहीं है। मैं जो कुछ बोलता हूँ, उसे अक्षरशः, ज्यों-का-त्यों किसी ने दुहराकर बता दिया तो उसे मैं जड़-यंत्र कहूँगा। जो भूल जाने लायक है, उसे भूलने की और जो याद रखने लायक है, उसे याद रखने की वविक-शक्ति उसके पास नहीं है। सच्ची स्मृति में यह वविक गृहीत है। सब बातों को याद रखकर उसका बोझ वह क्यों उठाए? वविक का उपयोग करके कुछ रख लेना चाहिए और कुछ छोड़ देना चाहिए। उचति स्मरण और उचति वस्मिरण मलिाकर सम्यक् स्मरण-शक्ति होती है। अतः यहाँ पर स्मृति का अर्थ है-'मैं कौन हूँ, इसका निरंतर भान, आत्मा का निरंतर भान।'

'भान मटतिा है'**,** इसका अर्थ क्या**?**

मनुष्य बार-बार आत्मा को भूलता रहता है। खेल के मैदान में जाकर वह कहता है, मैं खलिाड़ी हूँ। लड़ाई के मैदान में कहता है, मैं योद्धा हूँ। लड़के को देखते ही कहता है, मैं बाप हूँ। वह साफ भूल जाता है कि मैं तो खालसि रंगरहति, उपाधविर्जति, परशिुद्ध आत्मा हूँ। जसि परस्थिति में जाता है, उसी रंग का हो जाता है। इसे कहेंगे स्मृतभिंश। यों व्यवहार में भी हम स्मृतभिंश का यही लक्षण मानते हैं। जब कोई मनुष्य अपने होश-हवास भूलकर अंट-शंट बड़बड़ाने लगता है, तो हम कहते हैं, इसका दमिाग ठकिाने नहीं रहा, इसे भम हो गया है। यही स्मृतभिंश है। नदियाँ कतिनी ही उमड़-उमड़कर और बढ़-चढ़कर समुद्र में जा गिरें, तो भी समुद्र शांत ही रहता है। उनके सूख जाने पर भी वह सूखता या घटता नहीं। अपनी गंभीरता और शांति छोड़कर वह यदि नदयों के पीछे दौड़ने लगे, तो उसे हम क्या कहेंगे? यही न कि समुद्र अपने-आपको भूल गया? यही बात हमारी है। मैं सारी सृष्टि का साक्षी हूँ, वह भले ही मेरे पीछे लगे। मैं उसके चक्कर में पड़नेवाला नहीं हूँ। मैं परपूिर्ण हूँ, मुझे किसी बात की कमी नहीं-यह भान ही स्मृति है। परपूिर्ण होते हुए भी अपूर्णता का भास होना स्मृतभिंश है। स्वप्न में किसी राजा को दिखाई दिया कि वह भीख माँग रहा है, तो हम कहेंगे कि वह अपना राजापन भूल गया। यह दशा वैसी ही है।

स्मृतभिंश से बुद्धनिाश

इस तरह जब मनुष्य अपना भान भूल जाता है, तो उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। अर्थात् वह विषयाधीन या विषयनिष्ठ हो जाती है, तो वह अपनी मूल स्थिति खो बैठती है। बुद्धि की मूल स्थिति का नष्ट होना ही बुद्धनिाश कहलाता है। मनुष्य जब अपने स्वरूप को भूल जाता है, तो उसकी बुद्धि अपने मूल स्थान से भष्ट हो जाती है। स्मृतभिंशात् बुद्धनिाशः। बुद्धि के माने हैं ज्ञानशक्ति। आत्मा को जानने का सामर्थ्य उसी में है। उस बुद्धि का उपयोग साधारण विषय-रस की वचिकिति्सा में करना मानो उसका अधकिार छीन लेना है। माँ ने अपने बच्चे की उँगली में सोने की अँगूठी पहना दी। वह उसे दो पेड़ों के लिए हलवाई की दुकान पर बेच आया। यह वैसी ही बात है।

गीता के शब्दों के सूक्ष्म अर्थ ही अभपि्रेत हैं

हमने इस श्लोक के सभी पदों का सूक्ष्म अर्थ किया है। इसके बजाय यदि स्थूल अर्थ ही ले लें, तो मनुष्य का समाधान बहुत थोड़े में हो जाएगा। थोड़े में ही वह अपने को 'स्थितप्रज्ञ' हुआ समझने लगेगा। उपनिषद् के एक समानार्थक वचन से भी यही जाना जा सकता है कि गीता के मन में स्थूल नहीं, बल्कि सूक्ष्म अर्थ ही समाया हुआ है। वह वचन यह है- 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः। सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः। स्मृतलम्भि सर्वग्रथीनां वप्रिमोक्षः।' (छां. 120)। इसका अर्थ है-'आहार शुद्ध होने से चित्त की शुद्धि होती है, उससे अवचिल स्मृति-लाभ होता है। स्मृति-लाभ से मनुष्य के चित्त की सब गाँठें खुल जाती हैं।' यहाँ 'आहार' शब्द का अर्थ केवल 'अन्न' ही नहीं, बल्कि 'सभी इंद्रयों का आहार' लेना चाहिए। गीता के 'निराहार' शब्द का भी हमने ऐसा ही अर्थ किया था। यह ध्यान में होगा ही पहले

हमने भक्ति-मार्ग की जो वशिुद्ध प्रक्रिया देखी है, वही यह है। अशुद्ध आहार को छोड़कर सब इंद्रयों को शुद्ध आहार कराते जाएँ, तो उससे चित्त की या बुद्धि की शुद्धि होती है।

'मोहनाश' का अर्थ है, कर्तव्य का खुलासा

ऐसा दिखाई पड़ता है कि अर्जुन को अपने कर्तव्य-अकर्तव्य के संबंध में मोह पैदा हो गया था। अतः स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ 'मोह' का अर्थ कर्तव्य-मोह ही करना चाहिए। यह मोह अर्जुन को कसि् कारण हुआ था? इस युद्ध में मुझे सब अपने ही लोगों को मारना पड़ेगा-इस खयाल से उसका चित्त व्याकुल हो गया। उसके चित्त की व्यवस्थिति, स्वस्थता नष्ट हो गई। उसमें हलचल मच गई। 'ये अपने' और 'ये पराए' इस वचािर से उसका मन क्षुब्ध हो गया। जब किसी कच्चे दलि के न्यायाधीश के सामने स्वयं उसी का लड़का अपराधी के रूप में पेश किया जाता है, तो उसके मन में यह भावना पैदा होने लगती है कि मेरा बेटा बच जाए तो अच्छा। अपने कर्तव्य-अकर्तव्य के विषय में उसका मन शंकाशील या डाँवाँडोल हो जाता है। वह दोलायमान होने लगता है। वह दुवधिा में पड़ जाता है। सूझता नहीं कि क्या करे? ऐसी स्थिति अर्जुन की हो गई थी। अर्जुन ने गीता के प्रारंभ में अपने संबंध में ऐसा ही कहा है- 'पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेता':-'मेरी बुद्धि सम्मोह से ग्रस्त हो गई है। मुझे अब सूझ नहीं पड़ता कि क्या करूँ? इसलिए मैं तेरी शरण आया हूँ।' इससे यह सद्धि होता है कि अर्जुन को अपने कर्तव्य के संबंध में मोह हो गया था। यही गीता की मूल भूमकिा है। अतः यह स्पष्ट है कि उसमें मोह का जो अर्थ है, वही वहाँ स्थितप्रज्ञ के प्रकरण में भी ग्रहण करना चाहिए।

इसी के अनुषंग में 'क्रोध' शब्द के अर्थ पर वचािर

जब इस बात का वचािर करते हैं कि अर्जुन को मोह कैसे पैदा हुआ, तो इसी अनुषंग में यह बात भी याद रखने लायक है कि इससे 'क्रोध' शब्द के अर्थ का भी स्पष्टीकरण हो जाता है। अर्जुन को मोह तो अवश्य हुआ, पर उसे स्थूल अर्थ में 'क्रोध' नहीं आ गया था। वह गुस्सा नहीं हो गया था, संतप्त नहीं हो गया था। ये मेरे ही अपने लोग मुझसे लड़ने के लिए तैयार खड़े हैं, इससे उसे विषाद हुआ और फिर उसमें से उसका कर्तव्य-मोह उत्पन्न हुआ।

'स्थितो।स्मि गतसन्देहः' अर्थात् मैं स्थितप्रज्ञ हो गया

इस प्रकार के क्षोभ से अर्जुन के मन में कर्तव्याकर्तव्य के विषय में मोह उत्पन्न हुआ। अर्जुन कहता है कि ईश्वर की कृपा से गीता-श्रवण का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ, जसिसे मेरा मोह नष्ट हो गया। मोह के नष्ट हो जाने से मुझे स्मृति-लाभ हुआ और मेरे सारे संदेह दूर हो गए- इस तरह ठेठ उपनिषदों की भाषा में उसने निःसंदेहता प्रकट की है। इससे 'स्मृति' शब्द के अर्थ पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। 'मेरे सब संदेह छनि्न हो गए', इसका अर्थ ऐसा ही लेना चाहिए कि बुद्धि की मेरी सब गाँठें खुल गइऔ, बुद्धि स्थिर हो गई, मैं स्थितप्रज्ञ हो गया।

'समाधि' को बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं

जब चित्त में वासनाएँ भरी हुई हैं, तब केवल बाह्य साधनों से एकाग्रता कैसे होगी? सुबह का समय हो, नींद पूरी हो चुकी हो, शौच-स्नान से नविृत्त हो चुके हों, जसिसे चित्त तरोताजा हो गया हो, आसन पर तनकर बैठे हों, दृष्टि अर्द्धोन्मीलति हो, ध्यान के लिए कोई श्लोक या नाम गुनगुना रहे हों, कोई मूर्ति, चति्र, ज्योति या जल धारा आँखों के सामने हो, कहीं से शांत संगीत की सुमधुर तान सुनाई दे रही हो-तब इतनी सारी अनुकूलताओं के बाद कहीं दस-पाँच मनिट एकाग्रता सधती है। वह बाह्य साधनों से ही आई होती है, अतएव कायम कैसे रहेगी? समाधि यदि आत्मा की मूल अवस्था है, तो वह सहज होनी चाहिए। उसके लिए बाह्य प्रयत्नों की आवश्यकता ही नहीं रहनी चाहिए। वह कुछ भी न करते हुए ही लगनी चाहिए, बल्कि रहनी चाहिए। खाना-पीना, देखना-सुनना, चलना-फिरना इत्यादि क्रियाएँ हैं, अतः इनके लिए परशि्रम, प्रयत्न चाहिए, यह ठीक ही है। परंतु समाधि तो मूल स्थिति है। उसके लिए बाह्य प्रयत्न, परशि्रम की क्या जरूरत है?

चित्तशुद्धि हुई कि समाधि लगी

महाभारत में एक वचन है-'चित्त की शुद्धि होने पर छह महीने में समाधि लग जाती है।' इसका अर्थ इतना ही समझना चाहिए कि व्यासदेव को उनके खयाल के अनुसार चित्त-शुद्धि होने के छह महीने के बाद समाधि लाभ हुआ। नहीं तो चित्त-शुद्धि होने पर फिर यह छह महीने का झंझट क्यों? और छह महीने का अर्थ क्या 180 दनि ही? 179 दनि से काम नहीं चलेगा? इसका अर्थ ही यह है कि अभी चित्त-शुद्धि पूरी नहीं हुई। व्यासदेव से यदि कुरेदकर ही पूछेंगे तो वे कहेंगे-मेरी गीतावाली भाषा ही ठीक है।

गीता कहती है-'जसि क्षण चित्त-शुद्धि होती है, उसी क्षण एकाग्रता सध जाती है।' अब सब प्रकार से प्रयत्न छोड़ना ही जसि अवस्था का स्वरूप है, वह सहज ही सधनी चाहिए, यह कहने की जरूरत नहीं है। बालकोबा कहता है-'मैं कोशशि करता हूँ, पर नींद नहीं आती।' मैं उससे कहता हूँ-'तुम कोशशि करते हो, इसी से नहीं आती है। कोशशि ही नींद के विरुद्ध है। कोशशि छोड़ देने से नींद अपने आप आ जाती है।' यही बात एकाग्रता की है। सारे प्रयत्न छोड़ देने के बाद ही सच्ची एकाग्रता, सहज एकाग्रता सधती है।' एकाग्रता के साधन चित्त पर उलटे पड़ते हैं और क्षणकि एकाग्रता के बाद फिर व्यग्रता आ जाती है।

संयम के बनिा बुद्धि नहीं

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।

न चाभावयतः शांतिः अशांतस्य कुतः सुखम्।।

यह है वह सूत्र-वाक्य। इसका अक्षरशः अर्थ यह होगा-'अयुक्त को बुद्धि नहीं, अयुक्त को भावना नहीं। भावना के बनिा शांति नहीं, शांति के बनिा सुख नहीं।' यह सूत्र है, इसलिए

इसपर भाष्य करने की आवश्यकता है। 'अयुक्त' को बुद्धि नहीं'-यह तो अब तक जो मीमांसा की गई, उसका फलति बताया है। 'अयुक्त' अर्थात् असंयमी पुरुष को। संयम से बुद्धि और उसके अभाव में बुद्धि-नाश, इन दो अन्वय-व्यतिरेकी न्यायों की वह निष्पत्ति है। अर्थात् यह केवल पूर्वानुवाद है।

अध्याहारः बुद्धि के बनिा भावना नहीं

यहाँ तक इस सूत्र में कहीं भी बाधा नहीं है। परंतु इसके आगे सूत्र खंडति सा लगता है। 'अयुक्त को बुद्धि नहीं और अयुक्त को भावना नहीं, ऐसी भाषा आगे आई है, वह त्रुटति है। गीता कहना चाहती है कि भावना जीवन का तीसरा मूल्य है। भावना से शांति मलिती है और जसिके चित्त में शांति नहीं, उसे सुख नहीं मलि सकता, ऐसा कहने से भावना की आवश्यकता समझ में आ गई। संयम से लेकर सुख तक की शृंखला संयम, भावना, शांति, सुख इस तरह जुड़ गई, परंतु बीच में ही यह बुद्धि क्यों ले आए? बुद्धि और भावना का कुछ भी संबंध नहीं बताया गया, इससे बुद्धि अधर में ही रह गई। यदि बुद्धि को एक तरफ रखकर भी संयम की आवश्यकता सद्धि करनी हो, तो वह इस सूत्र से हो सकती है, परंतु ऐसा अपेक्षति नहीं है। संयम की आवश्यकता तो है, पर वह बुद्धि के द्वारा दिखनी चाहिए।

'भावना' शब्द बड़ा व्यापक है

'भावना' शब्द के अर्थ का और थोड़ा वचिार कर लेना उपयोगी होगा। वैद्यकशात्र में 'भावना' का अर्थ है घोटना, घोलना, पुट चढ़ाना। होमियोपैथी में दवाएँ घोटी जाती हैं। मर्दन से उनकी ताकत बढ़ती है, उनका गुण बढ़ता है। इसी तरह बुद्धि को घोटते रहने से उसकी शक्ति बढ़कर वही 'भावना' बन जाती है। स्थितप्रज्ञ की बुद्धि परिणत होती है, अतः उसके जीवन में केवल भावना ही रहती है। उसका जीवन भावना से लबालब भरा रहता है। बुद्धि और भावना में एक और भेद है। बुद्धि केवल दशि‍ा दिखाती है, जबकि भावना दशि‍ा भी दिखाती है और काम भी करती है। बुद्धि जब कार्यक्षम और कार्यकारी हो जाती है, तब वही भावना बन जाती है। भावना में रूपांतर करने के लिए बुद्धि को घोटना आवश्यक है।

स्थितप्रज्ञ बुद्धि या भावना की प्रधानता में भेद नहीं करता

परंतु ऐसी शंका इसलिए उत्पन्न हो चुकी है कि हम प्रायः 'भावना' शब्द का प्रयोग बुद्धि के वपिरीत अर्थ में करते हैं और उसकी तुलना बुद्धि के साथ करते हैं। आजकल हम कहने लगे हैं-अमुक व्यक्ति भावना-प्रधान है और अमुक बुद्धि-प्रधान। अर्थात् हम यह कहना चाहते हैं कि एक में भावना की अधकति‍ा और बुद्धि की कमी है तथा दूसरे में बुद्धि की अधकति‍ा और भावना की कमी है। 'भावना-प्रधान' शब्द का अर्थ यहाँ होता है निरंकुश मन, मन पर बुद्धि का अंकुश न रहना। यहाँ 'भावना' शब्द का प्रयोग मन को लक्ष्य करके हुआ है, वह हमारी

हृदयगत वस्तु का निर्देश करता है। गीता की भावना मन का वकिार नहीं, बल्कि हृदय का गुण है। वस्तुतः गीता हृदय और बुद्धि में भेद नहीं करती, बल्कि यह मानती है कि बुद्धि का जो अंतरतम भाग है, वही हृदय है। 'हृदि सर्वस्य विष्ठतिम्। ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे।र्जुने तिष्ठनति' इत्यादि वचनों में हृदय का अर्थ 'बुद्धि का भीतरी भाग' ही है।

जप, ध्यान तथा आचरण, बुद्धि को भावना में परिणत करते हैं

हमने अब तक बुद्धि का रूपांतर भावना में करने के साधारण प्रयोगों पर वचिार किया। अब कुछ वशिष शात्रीय प्रयोगों पर वचिार कर लेना चाहिए। इनमें से पहला जप है। 'जप' का अर्थ केवल 'वाणी से उच्चार' नहीं, बल्कि मन में भी वही वचिार घुटते रहता चाहिए। इस क्रिया में वाणी सहायक होती है। वह क्रिया मनन जैसी ही होती है, तो भी केवल मनन नहीं है। 'मनन' निर्णय के लिए होता है। जप में तो पूर्व-निर्णय को दृढ़ किया जाता है। यह वाणी के द्वारा होता है। जप और मनन में यह फर्क है। यदि इस फर्क को छोड़ दें, तो फिर दोनों क्रियाओं में कोई अंतर नहीं रह जाता। दूसरा प्रयोग ध्यान है। 'ध्यान' का अर्थ है उस वचिार से तन्मयता, उसके अनुकूल उपासना। इसी में से तीसरा प्रयोग 'आचरण' शुरू होता है। 'वचिार के अनुकूल सारे जीवन की रचना' उसका स्वरूप है। इस तरह 1. जप, 2. ध्यान, 3. आचरण, इन तीनों प्रयोगों से बुद्धि का रूपांतर भावना में होता है।

'भावना' और 'भक्ति' में वशिष अंतर नहीं

इस विषय का वचिार और भी एक दृष्टि से किया जा सकता है। स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में दर्शति 'बुद्धि' आत्मनिष्ठ बुद्धि है। जब आत्मज्ञान घुट-घुटकर आत्मसात् हो जाता है, तब उसका रूपांतर भक्ति में होता है। अतः यहाँ 'भावना' शब्द का अर्थ भक्ति भी लिया जा सकता है। बोध को प्रेम का रूप प्राप्त होना, अर्थात् ज्ञान को भक्ति का रूप मलिना है। जब बोध स्थिर हो जाता है, तो वह इतना प्रिय लगने लगता है कि मन नति्य-निरंतर उसी में रमने लगता है। इससे बोध का रूपांतर प्रेम में होता है। अतएव भावना का अर्थ 'भक्ति' किया जा सकता है। यह बात तुंत ही समझ में आती है कि प्रेम के बनिा अथवा भक्ति के बनिा शांति नहीं होती। बोध जब अत्यंत प्रिय हो जाता है, तब मन उसमें रमने लगता है, उससे घिर जाता है, मंत्रमुग्ध सा हो जाता है। ऐसा हो जाने पर फिर अशांति हमें नहीं छू सकती। पेड़ की जड़ को रोज पानी मलिता रहे, तो वह सदा लहलहाता रहता है। इसी तरह यदि अंतरतम में बोध का झरना सतत बहता रहे, उसे प्रेम का रूप प्राप्त हो जाए और सतत प्रेमरस मलिता रहे, तो जीवन सदा लहलहाता रहता है। वपति्तियाँ आ जाने पर भी वे संपत्ति का रूप ले सकती हैं। बोध के बनिा भक्ति नहीं, भक्ति के बनिा शांति नहीं, शांति के बनिा सुख नहीं।

'सुख' का अर्थ 'मन का सुख' नहीं

परंतु यहाँ 'सुख' का अर्थ 'मन का सुख' नहीं है। मन का सुख-दुख और होता है, मनुष्य का और। मन का सुख-दुख होने से यह अनविार्य नहीं है कि मनुष्य को भी सुख-दुख हो ही। आज इतने लोग देश के लिए मानसकि दुख सहते हैं। उससे मन को कष्ट होता है, तो भी उन्हें सुख ही मालूम देता है, क्योंकि उसमें कल्याण की कल्पना रहती है। जीभ को जो मीठा या कड़वा लगता है, वह मनुष्य को भी वैसा ही लगता है, सो बात नहीं। दवा जीभ को कड़वी लगती है, परंतु मनुष्य को मीठी ही लगती है। अतः मनुष्य को जब मानसकि दुख कल्याणकारी मालूम होता है, तो वह उसे सहर्ष स्वीकार करता है। अतः मानसकि सुख-दुख की व्याख्या से जीवन-दृष्टि से की गई सुख-दुख की व्यख्या भन्नि है। शरीर को सुख आरोग्य से मलिता है, किंतु शरीर में बल का मचलना-फूट नकिलना, दीवार से टक्कर मारने की उमंग पैदा होना, आरोग्य का लक्षण नहीं है। उसका बल स्वयं उसी से नहीं सँभल पाता। बल ही एक बीमारी हो बैठता है। 'आरोग्य' का अर्थ है शरीर का समतोल रहना। आरोग्य में स्वस्थता रहती है।

इंद्रयों के पीछे जानेवाला मन बुद्धि को भी खींच ले जाता है

आगे के श्लोक में संयम की आवश्यकता फिर एक दूसरी तरह से बतलाई है-

इंद्रियाणां हि चरतां यन् मनोनु वधीियते।

तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमविांभसि।।

जब इंद्रियाँ स्वच्छंदता बरतने लगती हैं और मन उसके पीछे जाता रहता है, तो फिर बुद्धि साबति और तटस्थ नहीं रह सकती। जब मन इंद्रयों की तरफ चला जाता है, तो इंद्रियाँ और मन मलिकर उनका पक्ष प्रबल हो जाता है। फिर बुद्धि अपना काम नहीं कर पाती। इसका अर्थ यह नहीं कि बुद्धि नष्ट हो जाती है। बुद्धि का अबुद्धि हो जाना शक्य नहीं है, इसलिए वह कुबुद्धि बन जाती है और उस दशा में वह अबुद्धि से भी ज्यादा अनर्थकारिणी हो जाती है। परंतु मन यदि बुद्धि की तरफ आ जाए तो फिर बुद्धि का पक्ष जोरदार हो जाएगा और इंद्रयों को उनके पीछे चलना पड़ेगा। जब बुद्धि के अनुकूल मन और मन के अनुकूल इंद्रियाँ हो जाती हैं, तब जीवन का सारा व्यवहार आत्मा के अनुकूल हो जाता है। इसके वपिरीत यदि इंद्रयों के पीछे मन और मन के पीछे बुद्धि चलने लगे, तो वह चाहे जैसे प्रयोग करने लगती है और मन के पक्ष को समर्थन करने के लिए तरह-तरह के कुतर्क रचने लगती है। ऐसा होने पर जीवन का सारा व्यापार आत्मा के प्रतकिूल होने लगता है।

तारक बुद्धि, मन की पकड़ में आते ही मारक हो जाती है

पहले बुद्धि-नाश की परंपरा बताते हुए एक श्लोक में यह कहकर कि विषय-चिंतन द्वारा पहले मन पर आक्रमण होता है, अगले श्लोक में यह अलग से दिखाया है कि फिर मोह आदि उत्पन्न होकर उनकी आँच बुद्धि को कैसे लगती है। उसी का स्पष्टीकरण यहाँ किया जा रहा है। जब सवार के हाथ में लगाम और लगाम के वश में घोड़ा हो, तब सवार बेखटके मुकाम

पर पहुँच सकता है। इसके वपिरीत घोड़े के वश में लगाम और लगाम के वश में सवार हो जाए तो फिर मुकाम पर पहुँचने की कोई आशा नहीं, ऐसा कठोपनिषद् में ववििचन है। वही बात यहाँ नाव की उपमा देकर समझाई गई है। बुद्धि नाव की तरह तारक है, परंतु वह यदि हवा के वश हो जाए, तो फिर पार नहीं लगा सकती। बुद्धि यदि मन की पकड़ में आ जाए, तो फिर उसकी तारक-शक्ति नष्ट हो जाती है और वह डुबोने का कारण बन जाती है।

बुद्धि और मन प्रायः एक-दूसरे के वश में रहते हैं

हम लोगों को ऐसा कहते हुए सुनते भी हैं-"भले ही हम विषय-वलिास में लगे हों, तो भी हमारी बुद्धि उसमें फँसती नहीं। वचिार करते समय हम उस विषय को भूलकर तटस्थता से वचिार करते हैं।" परंतु यह भम है। ऐसा हो नहीं सकता। हो तो यह सकता है कि इंद्रियाँ, मन और बुद्धि तीनों को एक पक्ष में रखकर हम उससे भनि्न या पृथक् रहे; क्योंकि आत्मा बलिकुल पृथक् है। आत्मा और बुद्धि के बीच में खाली जगह है। उनके बीच में आप दीवार खड़ी कर सकते हैं। परंतु यह स्थितप्रज्ञा-प्राप्ति के बाद ही संभव है। यही वेदांत है। यह है तो कठनि, परंतु शक्य है। मन और बुद्धि के बीच खाली जगह नहीं है। वे परस्पर संबद्ध हैं, इसलिए जसि तरह आत्मा एक ओर और बुद्धि, मन तथा इंद्रयों दूसरी ओर, ऐसे दो वभिाग खुशी से किए जा सकते हैं; वैसो् आत्मा और बुद्धि एक ओर तथा मन और इंद्रियाँ दूसरी ओर, ऐसे वभिाग करने की गुंजाइश नहीं है।

खुलासे का पहला सांकेतकि श्लोक, इनकी रात सो उसका दनि

या नशिा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा नशिा पश्यतो मुने।।

यह खुलासे का पहला श्लोक है। इसका अक्षरार्थ इस प्रकार है-"जहाँ प्राणीमात्र सोते रहते हैं, वहाँ स्थतिपि्रज्ञ जागता रहता है और जहाँ प्राणीमात्र जागते रहते हैं वहाँ स्थितप्रज्ञ मजे से सोता रहता है।" परंतु यहाँ अक्षरार्थ नहीं लेना है, लाक्षणकि अर्थ लेना है, यह कहने की जरूरत नहीं। यदि शाब्दकि अर्थ लेंगे तो यह श्लोक स्टेशन मास्टर, चोर, रात की पालीवाले मजदूर आदि सब पर लागू होगा। गांधीजी ने इस श्लोक का थोड़ा सा अक्षरार्थ भी दुहने का प्रयत्न किया है-"साधारण लोग रात का समय वलिास आदि में बतिाते हैं और सुबह सोते रहते हैं, परंतु संयमी रात में सो जाता है और बड़े सबेरे ही उठकर मनन-चिंतन में लग जाता है।"

स्थितप्रज्ञ की कुल जीवन-दृष्टि ही दूसरों से वपिरीत होती है

इस श्लोक द्वारा स्थितप्रज्ञ की जीवन-दृष्टि बताई गई है। स्थितप्रज्ञ की जीवन-दृष्टि और अज्ञानयों की जीवन-दृष्टि में बड़ा अंतर है। जैसे दो समानांतर रेखाओं का कहीं स्पर्श-बिंदु ही नहीं होता, वैसी ही स्थिति इस दोनों की जीवन-दृष्टयों की है। स्थितप्रज्ञ की दृष्टि ही

बदल जाते है। मीराबाई ने कहा-'उलट भइ मोरे नयन की'-ऐसी उसकी हालत हो जाती है। वस्तुतः उसकी दृष्टि उलटी नहीं होती, बल्कि वही सीधी समझी गई है। बहुंख्या को क्यों दोष दें? इसलिए मीराबाई ने अपनी ही दृष्टि को उलटा कह दिया। सो, जब मूल जीवन-दृष्टि में ही फर्क हो गया, तो फिर जीवन की तमाम क्रियाओं में वह चरतिार्थ होता जाएगा।

भोजन का उदाहरण

शरीर-धारण के लिए खाना आवश्यक है। साधारण मनुष्य खाना खाएगा और स्थितप्रज्ञ भूखा रहेगा, सो बात नहीं। स्थितप्रज्ञ भी भोजन करेगा। दोनों की बाहरी क्रियाएँ एक सी होंगी। परंतु वृत्ति, वचिार और भावना एक सी नहीं होगी। स्थितप्रज्ञ का भोजन एक यज्ञ है। वह केवल शरीर-धारण के लिए तटस्थ भाव से किया जाएगा। उसका स्वरूप उपनिषद् की और शंकराचार्य की भाषा में 'औषध-रूप' होगा या गांधीजी की भाषा में 'जसि घर में हम रहते हैं, उसका भाड़ा देने जैसा होगा' या एक वैज्ञानकि की भाषा में 'जब यंत्र से काम लेते हैं, तो उसे तेल देना ही चाहिए' ऐसा होगा। शरीर को स्वस्थ और कार्यक्षम रखने के लिए वह उसे आहार देगा। उसमें उसकी भोग-वृत्ति नहीं रहेगी। अन्य लोगों के भोजन में भोग, आनंद, मौज-मजा का भाव होता है। उसके लिए कतिनी बुद्धि, समय और श्रम खर्च किया जाता है! कैसा भारी आयोजन और संगठन किया जाता है। आधा मानव समाज सभी स्त्रियाँ लगभग उसी काम में लगा दी गई हैं। भोजन का इतना बड़ा आडंबर रच दिया गया है। स्थितप्रज्ञ का भोजन शात्रीय दृष्टि से होगा और उसके मूल में गंभीर हेतु होगा, जबकि औरों का भोगमय और बालशि होगा।

योग-बुद्धि का स्वरूप, फल-त्याग की भावना

आत्मा अकर्ता है, इसलिए यदि देह से भी कर्म छोड़ बैठोगे, तो तमोगुण में जा पड़ोगे। इसके वपिरीत यदि कर्म करोगे, तो रजोगुण में पड़ोगे-ऐसा दुहरा पेच है। अतः गीता ने एक युक्ति नकिाली। कर्तृत्व जहाँ जोर मारता हो, उसे तोड़ डालो। कर्तृत्व जोर कहाँ मारता है? फल के अवसर पर। 'मैंने काम किया है, तो मैं वेतन का अधकिारी हूँ!' फल के संबंध में इस तरह कर्तृत्व का हक जोर मारता रहता है। अतः फल का अधकिार छोड़ देना ही कर्तापन को छोड़ देना है। फलाशा की नोक तोड़ डालें, तो फिर कर्तृत्व विषयक अभमिान चला जाता है। गीता कहती है-'तुमने आत्मा का अकर्तापन मान लिया है, तो जबकि कर्म ही तुम्हारा नहीं है, तो फिर फल कहाँ से होगा?' 'मैं देह में भनि्न अकर्ता हूँ", ऐसा अभ्यास कर्म छोड़ देने से नहीं हो सकता। फल को छोड़ने से ही होगा। आत्मा के अकर्तापन की अनुभूति का आरंभ कर्मच्छेदन से नहीं, फलच्छेद से होता है। इस तरह बलिकुल 'बालोद्यान' पद्धति से अकर्तापन के अभ्यास का पदार्थ-पाठ गीता ने दिया है। फल को तोड़कर फेंकते जाओ, तो फिर कर्मों को तोड़ फेंकने की जरूरत नहीं रहेगी।

'मा फलेषु' का अर्थ फल का अधकिार नहीं, गलत है

गीता का वचन, जो फल को छोड़ देने की युक्ति बताता है, प्रसदि्ध ही है-'कर्मण्येवाधकिारस्ते मा फलेषु कदाचन।' परंतु इसका अर्थ ठीक नहीं किया जाता। 'तुम्हें कर्म करने का अधकिार है, फल का नहीं'-ऐसा अर्थ किया जाता है। परंतु जब यह पूछते हैं कि यदि कर्म का अधकिार है, तो फल का क्यों नहीं? तो इसका उत्तर दिया जाता है कि फल-प्राप्ति केवल मनुष्य के बस की बात नहीं है।

फल का अधकिार तो है, पर उसे छोड़ देना श्रेयष्कर है

तो फिर इस वचन का सही अर्थ क्या है? इसके लिए जरा संस्कृत के व्याकरण पर ध्यान देना होगा। यहाँ 'मा फलेषु' कहा है, 'न फलेषु' नहीं। व्याकरण के अनुसार 'मा' के बाद 'अस्ति' या 'भवति' ऐसी वर्तमानकालीन क्रिया नहीं आती। 'अस्तु' या 'भवतु' ऐसा रूप आता है। तदनुसार 'कर्मणि एव ते अधकिारः अस्तु, फलेषु मा अस्तु।' इस तरह पूरा वाक्य बनता है। उसका अर्थ हुआ 'कर्म का ही तुझे अधकिार रहे, फल का नहीं'। परंतु व्याकरण के अनुसार यद्यपि हमने ऐसा अर्थ-शोधन किया, तो भी आखिर कहना क्या है? यह कि 'कर्म का अधकिार है, अतएव फल का भी है, लेकिन तू कर्म का अधकिार तो रख, परंतु फल का छोड़ दे।' यह क्यों? तो गीता कहती है कि तुम्हारा तत्त्वज्ञान ही यह बताता है कि मैं कर्ता नहीं हूँ। अतः यदि तुम्हें अपने अकर्तापन का अनुभव करना हो, तो तुम फल को ग्रहण मत करो। इस प्रकार गीता फल का अधकिार देने से मना नहीं करती, अपतिु फल के अधकिार को त्याग देने की सलाह देती है।

नीतशिात्र की भूमकिा : जसिका कर्म, उसी को फल

इस विषय में स्थितप्रज्ञ की तथा औरों की भूमकिा में बड़ा अंतर है। साधारण लोगों की भूमकिा यह कहती है-"करूँगा तो फल के लिए करूँगा, नहीं तो कर्म ही छोड़ दूँगा। लूँगा तो फल के सहति लूँगा, छोड़ूँगा तो कर्म के सहति छोÇ¸åUँगा।" इतना ही होता तो गनीमत थी; परंतु कतिने ही लोग तो इससे भी एक कदम आगे जाने को तैयार हैं। 'कर्म किए बनिा ही फल मलि जाए तो बहुत अच्छा, नहीं मलिे और कर्म किसी प्रकार टाला ही न जा सके, तो करेंगे; परंतु फल तो किसी भी दशा में नहीं छोड़ेंगे।' इस हीन वृत्ति से ही आज का सारा संसार त्रस्त हुआ है। खुद मेहनत किए बनिा दूसरों की मेहनत का फायदा कैसे उठा लें, इसकी योजना दो-चार बदमाश ही नहीं, बल्कि पूरे राष्ट्र-के-राष्ट्र बना रहे हैं। नाजीवाद, फासस्टिवाद, पूँजीवाद, साम्राज्यवाद-इस तरह के अनेक मुफ्तखोरवाद इस हीन वृत्ति का समर्थन करने के लिए रचे गए हैं।

योग-बुद्धि की भूमकिा के अनुसार श्लोक का अर्थ

गीता कहती है-'कर्तापन के अभमिान से छूटने के लिए फल को अपने से अलग कर दे, ईश्वर को अर्पण कर दे, समाज को दे दे, चाहे तो हवा में फेंक दे, परंतु तू स्वयं उसे मत ले। किसी

के कहने से नहीं, बल्कि इसलिए कि तेरा तत्त्वज्ञान ही इस विषय में बाधक होता है। तेरा तत्त्वज्ञान कहता है कि आत्मा से किसी क्रिया का संबंध नहीं है। आत्मा को क्रिया का स्पर्श न होने देने की युक्ति है फल को छोड़ देना।' यह तत्त्वज्ञान ही गीता के निष्काम कर्मयोग की बुनियाद है। बहुत से लोग कहते हैं कि गीता के आरंभ में यह तत्त्वज्ञान व्यर्थ डाल दिया। पहले कर्मयोग बताना चाहिए था। परंतु यह खयाल गलत है। गीता का कर्मयोग आत्म-ज्ञान की नींव पर ही खड़ा हो सकता है। वह केवल कर्म करने के लिए नहीं कहता, बल्कि फल छोड़ने के लिए भी कहता है।

स्थितप्रज्ञ के लक्षणानुसार श्लोक का अर्थ

स्थितप्रज्ञ के लक्षणानुसार इस श्लोक का एक तीसरा भी अर्थ है। वस्तुतः तीनों अर्थ मूल में समान और एक ही हैं, परंतु भन्नि-भिन्न भूमकिाओं से भन्नि-भिन्न अर्थ हे जाते हैं। इंद्रियनिरोध को स्थितप्रज्ञ का लक्षण बताते हुए यह सद्धि किया है कि भोगवाद से बुद्धनिाश होता है और बुद्धि स्थिर होने के लिए संयम की आवश्यकता है। उसके अनुसार यहाँ स्थितप्रज्ञ भोगों के प्रति सोया हुआ और संयम के प्रति जागरूक और साधारण मनुष्य संयम के प्रति सोया हुआ और भोगों के विषय में जाग्रत्-यह अर्थ करना उचति है।

ज्ञानी समुद्र की तरह सब काम पचा जाता है

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रवशिन्ति यद्वत्।

तद्वत् कामा यं प्रवशिन्ति सर्वे स शान्तमिाप्नोति न कामकामी।।

इस श्लोक को समझ लें-'आपूर्यमाणं अचलप्रतिष्ठं समुं यद्वत् आपः प्रवशिन्ति, तद्वत् सर्वे कामाः यं प्रवशिन्ति, सः शान्तिं आप्नोति'-यह एक वाक्य है। 'न कामकामी' दूसरा वाक्य है। 'आपूर्यमाणं अपि, अचलप्रतिष्ठम्' ऐसा 'अपि' शब्द का अध्याहार करना है। 'आपूर्यमाणम्' का अर्थ है सब तरफ से सतत भरता रहनेवाला। फिर भी अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता, अपनी प्रतिष्ठा से चलति नहीं होता। 'समुद्र जसि तरह चारों ओर से आनेवाला पानी अपने अंदर समा लेता है, फिर भी अपनी सीमा का उल्लंघन नहीं करता, उसी तरह स्थितप्रज्ञ, अनेक कामों के चारों ओर से उसके अंदर प्रवेश करते रहने पर भी, वचिलति नहीं होता, इसलिए वह शांति प्राप्त करता है। जो कामों के पीछे दौड़ता है, उसे शांति प्राप्ति नहीं होती।'

'काम' शब्द के अर्थ की व्यापकता

'काम' शब्द का प्रयोग स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में एक जगह एकवचन में हुआ है और दूसरी जगहों पर बहुवचन में। संगात् संजायते कामः। यहाँ 'काम' शब्द एकवचन में आया है। यहाँ काम शब्द का अर्थ है मूल वचिार। इस मूल काम से अवांतर कामनाएँ उत्पन्न होती हैं। इस एकवचनी काम के लिए हिंदी में दूसरा शब्द नहीं है, अतः वह उसी शब्द से दरशाया

जाएगा। बहुवचनी 'काम' शब्द बलिकुल शुरू में प्रजहाति यदा कामान् में और अंत में वहिाय कामान् यः सर्वान् में एक ही तरह से आया है। इन दोनों स्थानों पर उसका अर्थ 'कामना' लेना है। ये कामनाएँ मनोगत होने के कारण उनका त्याग शक्य है, इष्ट है। वह अवश्य करना चाहिए। स्थितप्रज्ञ वैसा उनका त्याग कर चुका है, ऐसा कहा है।

स्थितप्रज्ञ का काम को पचा लेना उसके ज्ञान का गौरव

समुद्र में जसि प्रकार चारों ओर से एक सा पानी आता रहता है, उसी प्रकार विश्व के अनंत विषय स्थितप्रज्ञ के समीप आते ही रहते हैं। आँख के सामने आँख के विषय, कान के सामने कान के विषय खड़े रहते हैं, परंतु समुद्र जसि तरह सारे पानी को अपने स्वरूप में ग्रहण करके आत्मसात् कर लेता है, उसी तरह स्थितप्रज्ञ सारे विषयभोगों को अपने स्वरूप में मलिा लेता है। आँखों से जो रूप दिखाई देगा, कानों में जो शब्द पड़ जाएगा और इसी तरह दूसरी इंद्रयों को उनके जो-जो विषय प्राप्त होंगे, उन सबको वह आत्मस्वरूप में लवलीन कर डालता है, मन पर उनका कुछ भी संस्कार नहीं होने देता। अनुकूल और प्रतकिूल वेदना के रूप में बाह्य विषयों का असर मन पर होता रहता है।

स्थितप्रज्ञ भावावस्था में शुभ ही शुभ देखता है

इस श्लोक के अर्थ के विषय में कुछ लोगों को तो भीति मालूम होती है और कुछ को वशिष प्रीति। नीति-निष्ठों को यह भीति मालूम होती है कि इस श्लोक में एक वचित्रि नीति-सूत्र बताया गया है, जसिके अनुसार यदि स्थितप्रज्ञ चलने लगे, तो नीति ही उड़ जाएगी। दूसरी ओर कतिने ही लोगों को उससे इसलिए प्रीति होती है कि एक बार स्थितप्रज्ञ हो जाने से फिर समुद्र की तरह हर बात को अपने में समा सकेंगे, आचार-व्यवहार में कोई रोक-टोक नहीं रहेगी। पर वस्तुतः यहाँ न भीति के लिए कोई गुंजाइश है और न प्रीति के लिए; क्योंकि अभी देख चुके हैं कि स्थितप्रज्ञ में सब विषय-भोगों के प्रविष्ट होते हुए भी वह तटस्थ रहता है, इस कथन के द्वारा स्थितप्रज्ञ के लिए कोई नीति-सूत्र नहीं, बल्कि उसकी आत्मास्थिति का गौरव बताया गया है।

अशुभ का स्वतंत्र अस्ततिव ही नहीं

वस्तुतः संसार में अशुभ का कोई स्वतंत्र अस्ततिव ही नहीं है। अशुभ शुभ के सहारे से आता है। अशुभ अर्थात् शुभ की छाया! छाया से वस्तु का वस्तुत्व नहीं मटिता। उसमें कोई फर्क भी नहीं पड़ता, बल्कि वस्तु स्पष्ट दीखती है। सफेद कागज कोरा का कोरा रह जाएगा। केवल शुभ अव्यक्त ही रहेगा, वह साकार नहीं होगा। ईश्वरीय योजना में शुभ को स्पष्ट दिखाने के लोभ से अशुभ का प्रादुर्भाव हुआ। मनुष्य की छाया का कुछ भी मूल्य नहीं। एक जेल में 50 कैदी हैं। उन कैदयों की 'गनिती' करते समय सौ या डेढ़, दो सौ नहीं गनिता, क्योंकि छाया की कोई त्ता नहीं। अर्थात् वह अभावरूप ही है। अंधकार का वर्णन करते

समय हम उसे 'प्रकाश का अभाव' कहते हैं, प्रकाश को अंधकार का अभाव नहीं कहते। अंधकार कोई वस्तु नहीं है, प्रकाश वस्तु है। प्रकाश को दिखाने के लिए अंधकार काम आया। अशुभ का कार्य शुभ का रूप दिखाना ही है। अतः स्थितप्रज्ञ उससे डरता नहीं। उससे उसकी वृत्ति का माँगल्य नहीं बगिड़ता, बल्कि अशुभ का शुभ पर उपकार ही हुआ। उसने शुभ को प्रकट किया, उसमें उठाव-स्पष्टता ला दी, इसी दृष्टि से वह उसे देखता है। उसकी सर्व-संग्राहक भावना को सारा शुभ-अशुभ विश्व स्वीकार्य ही लगता है, या यों कहें कि उसकी दृष्टि को शुभ-अशुभ मलिाकर शुभ ही दीखता है। गणति की भाषा में उसका दर्शन इस तरह कराया जा सकता है-शुभ-अशुभ = शुभ; क्योंकि अशुभ = 0, तो फिर इस शून्य की आवश्यकता ही क्या? यह चाहिए कसिलिए? इसलिए कि उसके कारण सारा गणति-शात्र बना पाया। शून्य की चाहे कुछ भी कीमत न हो, तो भी एक पर शून्य रखने से दस हो जाते हैं। उनकी सन्निधि में एक की प्रभा फैल जाती है। इस तरह शुभ की शोभा को निखारकर मानो अशुभ भी सुशोभति हो गयाहै।

स्थितप्रज्ञ अर्थात् कोई कामना नहीं, कोई जजिीविषा नहीं

वहािय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निः स्पृहः।

निर्ममो निरहंकारः स शान्तमधिगच्िछति।।

'सब कामना छोड़कर जो निःस्पृह हो जाता है, उसे शांति मलती है', यह अंतमि वाक्य है। 'स्पृहा' का अर्थ है वासना अथवा कामना, सो तो छोड़ ही चुके हैं। तब फिर से निःस्पृह कहने से क्या मतलब? जब सब कामनाएँ छोड़ दीं तो स्पृहा भी छोड़ ही दी। तब 'निःस्पृह' शब्द क्यों जोड़ा गया? 'जसिने सब कामनाएँ छोड़ दी हैं और फिर स्पृहा भी छोड़ दी है' ऐसा कहने में पुनरुक्ति नहीं है। 'स्पृहा' के द्वारा यहाँ 'मूल परभिाषा' अर्थात् जीने की अभलिाषा बताई गई है। उसका वशिष उल्लेख ब्राह्मण-परव्िराजक-न्याय से किया गया है। यजमान ने ब्राह्मणों को नमिंत्रण दिया। भोजन के समय पूछा, 'सब ब्राह्मण आ गए न?' जवाब मलिा-'हाँ, सब आ गए।' फिर पूछा-'वे संन्यासी भी?' जवाब-'हाँ, वे भी आ गए।' ब्राह्मणों में संन्यासी आ ही गए; परंतु संन्यासयों का वशिष महत्त्व होने से स्वतंत्र रूप से पृच्छा की। इसे 'ब्राह्मण-परव्िराजक-न्याय' कहते हैं।

मुमूर्षा भी नहीं, मरण की भीति भी नहीं

'जीने की इच्छा छोड़ता है', इसका अर्थ क्या यह है कि मरने की इच्छा रखता है? नहीं। जीने की इच्छा के साथ ही मरने की इच्छा भी छोड़ देता है, यह समझना चाहिए। तो कहते हैं-क्या मरने की भी इच्छा किसी को होती है? इसका उत्तर यह है कि कभी-कभी होती है। हम मनुष्यों को आत्महत्या करते हुए देखते हैं। स्थितप्रज्ञ जीवन से ऊबा नहीं होता। जीने की इच्छा के साथ ही वह मरने की अभलिाषा भी छोड़ देता है; पर इसका अर्थ यह नहीं कि सारे जीवन ही के प्रति उसके मन में उदासीनता आ जाती है। प्रायः बूढ़े लोग कहते हैं, "अब हमें कतिने दनि जीना है? दस गए, पाँच रहे।" उनके जीवन का रस सूख जाता है। जीवन

की अभलिाषा मटि जाने से मृत्यु का भय भी मटि जाता है। तब फिर जीवन में आनंद और खेल बाकी रहता है। उसका जीवन लीलामय हो जाता है।

'चरति' का अर्थ 'विषयान् चरति' नहीं

'चरति' शब्द का इससे एक भन्नि अर्थ बताया गया है। तलिक महाराज ने 'गीता-रहस्य' में उसका ववरिण दिया है। उनके अनुसार 'चरति' का अर्थ है-संयमपूर्वक इंद्रयों का युक्त व्यवहार करना। यह अर्थ भी अनुचित नहीं है; क्योंकि यह बात नहीं कि स्थितप्रज्ञ इंद्रयों से कुछ भी नहीं लेगा। आँखों से देखना, कानों से सुनना आदि उसके लिए मना नहीं है। सेवा के लिए वह यह सब काम करेगा, परंतु ऐसा अर्थ करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है; क्येंकि इस श्लोक में स्थितप्रज्ञ की पूर्ण व्याख्या का नगमिन है। अतः 'विषयान् चरन्' जैसा अर्थ यहाँ अपेक्षति नहीं है। फिर 'चरन्' वहाँ सकर्मक है, यहाँ 'चरति' अकर्मक है, और बनिा कारण कर्म के अध्याहार की कल्पना करना उचति नहीं है।

'चरति' का अर्थ आश्रम संन्यास नहीं

दूसरा भी एक अर्थ स्मृति-वचनों के अनुसार किया जाता है। स्मृति का यह वधिान है कि संन्यासी पुरुष सर्व संग परत्यिाग करके सदा वचिरता रहे। उसका स्मरण 'चरति' शब्द से होता है, परंतु स्थितप्रज्ञ के लिए कोई भी वधिान करने की गीता की प्रवृत्ति नहीं। क्योंकि, उसकी ऐसी स्थिति ही नहीं रह जाती कि उससे लिए कोई वधिान किया जाए। स्मृतविाला वधिान तो आश्रम-संन्यास से संबंध रखता है, वह साधकावस्था को ध्यान में लेकर ही किया है। वह वधिान इस प्रकार है-अनेक प्रकार का अनुभव प्राप्त कर चुके हुए साधक को अनासक्त रहना चाहिए, वह एक जगह रहकर आसक्ति में न पड़े, सतत घूमता रहे, इससे परग्रिह नहीं जमा हो पाएगा। परंतु स्थितप्रज्ञ के लिए ऐसा वधिान कौन करेगा? उसे ऐसे वधिान की जरूरत भी क्या है? वह अपना वधिान स्वयं ही जानता है। यदि यह मानें कि यह वधिान नहीं, वर्णन है तो ज्ञानी पुरुष का स्थूल चरत्रि वर्णन करने की प्रवृत्ति गीता में कहीं नहीं पाई जाती। ऐसे स्थूल चरत्रि की कल्पना भी गीता में कहीं नहीं पाई जाती। ऐसे स्थूल चरत्रि की कल्पना भी गीता ने नहीं की है। तो भी यदि 'चरति' शब्द से संन्यासाश्रम-संबंधी स्मृति-वचन का स्मरण होता है, ऐसा कोई कहे और लिंग के तौर पर उसका उपयोग करे, तो हमें आपत्ति नहीं है। परंतु उसका ऐसा शाब्दकि अर्थ हम यहाँ हरगजि नहीं लेने देंगे।

ज्ञानदेव की भाषा में 'चरति' यानी वहिार करता है

यहाँ की तरह आगे भक्त-लक्षणों में 'अनकितः स्थिरमतिः' ऐसा एक लक्षण बताया गया है। उसका भी अक्षरार्थ ऐसा हो सकता है कि 'उसका कहीं भी घर नहीं होता।' अर्थात् वह 'सतत घूमता रहता है।' परंतु इस अर्थ को पचाकर ज्ञानदेव ने उसमें से नई और सुंदर

निष्पत्ति की है-

वायूसि एके ठायीं। बिढार जैसें नाहीं।

तैसा न धरी चि कहीं। आश्रयो जो।।

हें विश्वचि माझें घर। ऐसी मति जयाची स्थिर।।

किंबहुना चराचर। आपण जाला।।

'जैसे वायु का कहीं एक जगह डेरा नहीं होता, वैसे जो कहीं भी आश्रम लेकर नहीं रहता, जसिकी यह मति स्थिर हो गई कि सारा विश्व ही मेरा घर है, बल्कि जो खुद ही चराचर रूप हो गया। सारा विश्व ही उसका घर हो गया। वह बे-घर का नहीं रहा!' ऐसी ही वचिारशीलता ज्ञानदेव ने इस जगह भी अर्थ करने में दिखाई है। 'चरति' शब्द का अर्थ यहाँ उन्होंने किया है, 'बिचर विश्व होकर। विश्वमध्य।' अक्षरार्थ भी न छटने पाए, उसका बोझ भी न पड़ने पाए-ऐसी कुशलता से भाष्य करने की कला ज्ञानदेव ने यहाँ दिखाई है।

स्थितप्रज्ञ की यह ज्ञानावस्था अवर्णनीय

पिछले श्लोक में स्थितप्रज्ञ की भावनावस्था का वर्णन किया गया। यहाँ ज्ञानावस्था बताई गई है। यह मानो उस भावावस्था के वर्णन से बलिकुल वपिरीत दिखाई देती है। वहाँ शुभ और अशुभ सभी कामनाओं का प्रवेश है, यहाँ दोनों के लिए दरवाजा बंद है। ज्ञानावस्था में स्थितप्रज्ञ शुभ-अशुभ दोनों के परे चला जाता है। वहाँ कोई द्वंद्व बाकी नहीं रहता। वहाँ न सृष्टि है, न दृष्टि। न ब्रह्मांड है, न पिंड। न यह है, न वह। न नाम, न रूप। न गुण, न कर्म। न जाति, न व्यक्ति। न सामान्य, न वशिेष। न इंद्रियाँ, न मन। न बुद्धि, न अहंकार। तो फिर है क्या? यह कहने का साधन नहीं, क्योंकि वहाँ वाणी ही खत्म हो जाती है। जहाँ वाणी शेष रहती है, वहाँ वह अवस्था नहीं। यह कहें कि वहाँ स्वानुभूति है, तो वह भी निरर्थक ही होगा।

भावावस्था में समग्रता है

परंतु भावावस्था में स्थितप्रज्ञ की भूमकिा संपूर्ण विश्वरूप भगवान् को मान्य करने की होती है। उस समय उसकी भावना में समग्रता होती है। वहाँ वश्लिेषण नहीं। किसी सुंदर मूर्ति की नाक काटकर कोई ले आए और पूछने लगे कि यह सुंदर है, तो मैं कहूँगा कि सारी मूर्ति सुंदर थी। उसके टुकड़े कर देने से टुकड़ों में सुंदरता नहीं रहेगी, समग्रता में सुंदरता है। यह सारा विश्व शुभ और शुभ मलिाकर मंगलरूप है। विश्वरूप में मलिकर लीन होने की, विश्वरूप का आदर करने की, पूजने की, उसे सारा-का-सारा नगलि जाने की, यह भूमकिा है। 'पूज कर देव देखो।' मूर्ति की पूजा करके फिर उसे देखोगे, तो वह सुंदर दिखाई देगी। 'बीज बोकर खेत देखो।' बनिा बोए खेत पर जाओगे तो वहाँ घास-ही-घास दिखाई देगी। अपनी पवति्र भावना की चादर ओढ़कर फिर संसार की ओर देखो, तो वह परम पवति्र

है। अतः वह उसको सुंदर दिखाई देता है। इस तरह आत्मभावना से विश्व को सजाओ, चमकाओ, मंडति करो, आच्छादति करो और फिर देखो! आत्मीयता के कारण वह सुंदर और प्रिय दिखाई देगा।

क्रियावस्था में ववििक है

इन दोनों से भनि्न ववििक-प्रधान क्रियावस्था या नशिा सर्वभूतानाम् श्लोक में बताई गई है, वहाँ शुभ बनाम अशुभ है। निष्कामता बनाम सकामता, अकर्तृत्व बनाम कर्तृत्व, संयम बनाम स्वच्छंदता, सत् बनाम असत्, प्रकाश बनाम अंधकार ऐसा वहाँ झगड़ा है।

तीनों अवस्थाओं की एकरूपता ही स्थितप्रज्ञ की अखंड वृत्ति

ज्ञानी पुरुष को शरीर की दृष्टि से भनि्न-भिन्न समय में ये तीन अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। उसकी वृत्ति की अखंडता को बाधा पहुँचाए बनिा ये आती हैं और जाती हैं। वास्तव में यह भाषा ही ठीक नहीं है कि उसमें 'वृत्ति' रहती है। उसमें सचमुच कोई 'वृत्ति' नहीं रहती।

करणें कां न करणें। हें आघवें तो चि जाणें।

विश्व चळतसे जेणें। परमात्मेनि।

(जसि परमात्मा से यह विश्व संचालति होता है, वही अकेला जानता है कि क्या करें, क्या न करें।) ऐसी उसकी स्थिति होती है। भगवान् को उससे जो काम कराना मंजूर होता है, समाज को जैसी आवश्यकता होती है; वैसा काम उससे हो जाता है। वह स्वयं-प्रवृत्ति से कुछ भी नहीं करता। 'मोहरी, कांदी, ऊस। एक वाफा भनि्न रस। उदका नेलें तकिड़े जावें।' पानी उधर जाता है, जधिर माली उसे ले जाता है। यदि गन्ने की तरफ ले गया तो वह उसकी मिठास बढ़ा देता है, राई की तरफ ले गया तो उसकी तेजी बढ़ा देगा। प्याज की क्यारी में ले गया तो उसकी गंध बढ़ा देगा। पानी खुद अपना कोई अभियान नहीं रखता। स्थितप्रज्ञ का ऐसा आग्रह नहीं होता कि अमुक करूँगा, अमुक नहीं करूँगा; अथवा कुछ-न-कुछ तो करूँगा ही, या कुछ भी नहीं करूँगा। ईश्वर को उससे जो कुछ कराना मंजूर होगा, वह करा लेगा। उसकी अपनी कोई प्रवृत्ति बाकी नहीं रही। अतः उसकी स्थिति के लिए 'निवृत्ति' शब्द ही ठीक है; परंतु यदि 'वृत्ति' शब्द का ही आग्रह हो तो 'अखंड वृत्ति' कहिए।

स्थितप्रज्ञ की तहिरी अवस्था, ईश्वर का त्रविधि स्वरूप

स्थितप्रज्ञ की जो अवस्था हमने देखी, उसे स्थूल अर्थ में ईश्वर की ही अवस्था समझना चाहिए। उसकी जो तहिरी अवस्था होती है, उसका कारण भी यही है कि ईश्वर का स्वरूप त्रविधि है। स्थितप्रज्ञ की भूमकिा की वही आधारभ्wात नींव है। ईश्वर को किसी ने देखा नहीं और ऐसे तो मनुष्य को किसी ने नहीं देखा। मनुष्य का बाह्य रूप प्रकट है। वैसे ही ईश्वर का भी ब्राह्य रूप प्रकट है। मनुष्य का अंतः स्वरूप ईश्वर के अतः स्वरूप की तरह ही

अप्रकट है। मनुष्य का प्रकट रूप छोटा सा है, इसलिए वह ईश्वर की तरह ही अप्रकट है। मनुष्य का प्रकट रूप यह अपरंपार सृष्टि ही है। अतः वह अज्ञात सा प्रतीत होता है। वास्तव में जैसे मनुष्य को जानने का साधन है, वैसे ही ईश्वर को भी जानने का साधन हमें उपलब्ध है। वह साधन है स्थितप्रज्ञ।

ईश्वर का पहला रूप, केवल शुभ

ईश्वर का पहला रूप केवल शुभ है। वह मनुष्य की आकांक्षा में दिखाई देता है। मनुष्य में सदा शुभ की आकांक्षा रहती है। अशुभ करनेवाले की आकांक्षा भी शुभ की ही होती है। असत्यवादी भी नहीं चाहता कि कोई उसे धोखा दे। हिंसक मनुष्य भी नहीं चाहता कि कोई उसे मार डाले। मनुष्य-हृदय की इस शुभविषयक आकांक्षा में से ही नीतशिात्र का जन्म हुआ है। हो सकता है कि 'शुभ क्या है', इसका निर्णय कभी-कभी कठनि मालूम हो; परंतु शुभ जैसी वस्तु है अवश्य और वही मनुष्य को प्रिय है।

ईश्वर का दूसरा रूप, विश्वरूप

ईश्वर का दूसरा रूप यह विश्वरूप है। वह परपूिर्ण है। उसमें शुभ-अशुभ सबकुछ आ जाता है। संतरे के फल में बीज, खूजा, छलिका, सबकुछ आ जाता है। मीठा, खट्टा, कसैला-तीनों रस आ जाते हैं। ये सब मलिकर संतरा बना है। इन सबको मलिाकर हमसे पूछें कि संतरा कैसा है, तो हम कहेंगे, 'बढ़िया, मीठा, स्वादिष्ट।' बीज, खूजा या छलिके का खानेवाले के लिए कोई महत्त्व नहीं। तो भी ये सब फल के रस के पोषक हैं। मनुष्य की दृष्टि से ये सब गौण हो सकते हैं; परंतु उनसे संतरे में वैगुण्य नहीं आता। 'मनुष्य की दृष्टि से' इसलिए कहा कि फल की परभिाषा में बीज ही मुख्य कहा जाएगा। परंतु दृष्टांत में केवल सार ही ग्रहण करना चाहिए। कुल मलिाकर जगत् शुभ है; संतरे की तरह मधुर है। उसमें जो अशुभ प्रतीत होता है, वह शुभ की शोभा बढ़ानेवाला है। वह शुभ की छायारूप है। उन सबको मलिाकर यह सारा विश्वरूप सुसज्जति है। कभी उससे भय मालूम होता है, तो कभी उसके प्रति आकर्षण।

ईश्वर का तीसरा रूप, शुभाशुभ से परे ब्रह्म-संज्ञति

ईश्वर का तीसरा रूप शुभाशुभ से परे है। सृष्टि से परे, बुद्धि से परे और आकांक्षाओं से परे; परंतु वह सबके परे होते हुए भी सबके लिए आधाररूप है। उसका वर्णन ही नहीं किया जा सकता। वह शुभ भी नहीं, अशुभ भी नहीं, ऐसा नकारात्मक वर्णन ही उसका किया जा सकता है। हंकारसूचक भाषा में इतना ही कहा जा सकता है कि वह 'है'। बाकी सब नेति-नेति! वेदांत में उसे 'ब्रह्म' संज्ञा दी गई है।

गीता की परभिाषा में 'सत्', 'सदसत्', 'न सत् न असत्'

गीता में ईश्वर का यह तहिरा रूप भनि्न-भिन्न स्थानों में बताया गया है। इसमें पहला 'मानवीय आकांक्षाओं का रूप है', जो केवल शुभ है। भक्तों ने इसे 'चतुर्भुज' माना है। यह रूप मानवीय आकांक्षाओं के अनुरूप है, अतः वास्तव में मानवीय है। परंतु मानव के प्रत्यक्ष जीवन में वह पूर्णतया प्रकट नहीं होता, इसलिए उसमें दो हाथ और जोड़कर चतुर्भुज बनाया। परमेश्वर के खालसि, शुद्ध, शुभ, मंगल रूप को अपने हृदय में अनुभव करना चतुर्भुज-रूप का दर्शन करना है। गीता में इसे 'सत्' कहा गया है। 'ॐ तत् सत्' में जो सत् है, सो यही है। उसका चति्र चतुर्भुज है, चरति्र नीतियुक्त है, नाम सत् है। दूसरा है विश्वरूप, जो ग्यारहवें अध्याय में मलिता है। उसमें शुभाशुभ का समावेश होता है। समग्रता है। सद्सच्चा अर्जुन के इस वचन में इसी विश्वरूप का वर्णन है। तीसरा रूप गुणातीत है। उसमें न आकार है, न वकिार, न प्रकार, परंतु वह सर्वाधार है। गीता ने उसका शात्रीय नाम 'न सत् तन् नासद्' (उच्यते) रखा है।

स्थितप्रज्ञ की त्रिसूत्री 'ॐ तत् सत्' में नहिति

यहाँ त्रिसूत्री में वर्णति विषय भगवद्गीता में सत्रहवें अध्याय के अंत में 'ॐ तत् सत्' मंत्र के द्वारा बताया गया है। मंत्र यद्यपि शब्दात्मक रहता है, तो भी उसका सामर्थ्य वलिक्षण होता है। वह वस्तु-शून्य नहीं होता। मंत्र तोप के गोले से भी शक्तशिाली होता है। मंत्र जीवन को मोड़ता है। मंत्र के प्रभाव से और प्रेरणा से मनुष्य स्वेच्छा से अपना जीवन तदनुरूप बनाने लगता है। स्थितप्रज्ञ के जीवन-पथ पर सब लोग चल सकें, इसीलिए गीता ने दयालु होकर यह चिंतामणि-जैसा मंत्र हमें दिया है। वह वेद और उपनिषदों का साररूप समझा जाता है।

'ॐ' शब्द भावावस्था की लब्धि का प्रतीक

उसमें ॐ पहला पद है। ॐ माने ईश्वर-तत्त्व-विराट्, व्यापक, वशिाल! सबका समावेश करनेवाला ब्रह्म का सगुण स्वरूप। ॐ अक्षर है और शब्द भी है। शब्द के रूप में ॐ का अर्थ 'हाँ' है। ॐ ईश्वर का 'हाँ' रूप है। 'तुका म्हणे जें जें बोला। तें तें साजे या विठठला।' तुकाराम कहते हैं-घजो जो कहें सो-सो विठठल को सोहै।" इस तरह तुकाराम ने ईश्वर का हंकारात्मक वर्णन किया है। वह साकार है? 'हाँ', निराकार है? 'हाँ' शुभ है? 'हाँ' अशुभ है? 'हाँ' सगुण है? 'हाँ' निर्गुण है? अणु है? महान् है? इत्यादि सब प्रश्नों का उत्तर है 'हाँ'।

'ॐ' अक्षर वर्णमात्र का प्रतीक है

अक्षर के रूप में 'ॐ' वर्णमात्र का प्रतीक माना जाता है। उसकी शुरुआत 'अ' से है और अंत 'म' में है। इन दोनों को जोड़नेवाली कड़ी है 'उ'। वर्णमाला का आरंभ 'अ' से होकर 'म' में उसकी समाप्ति होती है। वर्ण का उद्गम कंठ से होता है और समाप्ति ओठ पर।' 'अ' वर्णों का आदि, कंठ से उच्चरति और 'म' ओष्ठ-स्थान से उच्चरति अंतमि वर्ण है। 'म' का उच्चारण करते

हुए हम दोनों ओठ मलिा लेते हैं और नाक से भी कुछ काम लेते हैं। अतः 'म' के बाद कोई वर्ण नहीं है। हम 'म' के बाद य, र, ल, व की गनिती करते हैं, परंतु वे आंतर स्थान से उत्पन्न होने वाले वर्ण हैं। कंठ और ओष्ठ के दरमियान उनका स्थान है। कंठ और ओष्ठ के बीच के स्थान से उत्पन्न होने वाले वर्णों का प्रतिनिधि 'उ' मौजूद है। 'उ' का अर्थ है उभय, इधर और उधर की संधि करने वाला। कुल मलिाकर सर्व सारस्वत, सर्व साहत्यि, सर्व शुभाशुभ वाङमय ॐ में आ गए। यह उत्पत्ति है तो काल्पनकि, परंतु इस तरह सारी वाणी का एक प्रतीक कल्पति करने में वह ॐकार रूप प्रतीक, व्यापक, विश्वरूप, ईश्वर-तत्त्व के चहि्न के तौर पर चिंतन में उपयोगी होता है।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'ॐ' धातु रूप

तुलात्मक व्युत्पत्ति की दृष्टि से मेरा खयाल है कि 'ॐ' एक धातु रूप है। 'सर्वत्र व्याप्त होकर रहना', उस धातु का मूल अर्थ है। जो स्वरूप भूतमात्र में पिरोया हुआ है, वह ॐ है। इतना ही नहीं, मराठी का 'ओंव' धातु अति प्राचीन अर्थात् पूर्ववैदकि 'ॐ' धातु से ही बना है। इन दनिों शात्रज्ञों ने भी लगभग यह मान लिया है कि मराठी की व्युत्पत्ति कहीं-कहीं पूर्ववैदकि काल से जा मलिती है। कुछ लोग 'ओंव' धातु को संस्कृत के 'वे' धातु से संबद्ध मानते हैं, लेकिन उसमें 'ओंव' में आए अनुस्वार की उपपत्ति सधती नहीं। ओंवी (छंद), जो मराठी भाषा की गायत्री ही है, इसी 'ॐ' धातु का रूप है। ओंवी वह छंद है, जसिमें सभी वाङ्मय सुलभता से ग्रंथति किया जा सकता है। जसि प्रकार ॐ कार से साढ़े तीन मात्रा की कल्पना है, उसी प्रकार ज्ञानदेव ने अपने ओवियाँ साढ़े तीन चरण की रची हैं। 'उमा' शब्द में यही धातु है और उसका अर्थ है 'विश्वव्यापनिी देवी।' इस धातु में 'वि' उपसर्ग जोड़कर परम व्यापक आकाश का सूचक 'व्योमन्' शब्द बना है। लैटनि का 'ऑम्नसि' अर्थात् सर्व या विश्व इस ॐ की ही वकिृति है। 'ऑम्नप्रि्रेजेंट' इत्यादि अंगेजी शब्दों में लैटनि की यही वकिृति पाई जाती है। इस तरह वचािर करने पर स्थितप्रज्ञ की सकल विश्व को आलिंगन करनेवाली भावावस्था को सूचति करने के लिए 'ॐ' रूपी मंत्रावयव बलिकुल उपयुक्त प्रतीत होता है।

दूसरा पद 'तत्': ज्ञानावस्था का प्रतीक

दूसरे पद 'तत्' का अर्थ है, 'वह'। जो न सत्, न असत्। 'वह' यानी जो यह नहीं है, जो पास का नहीं है अर्थात् जो कल्पना से परे है। 'तत्' के चिंतन से ज्ञानी पुरुष की ज्ञानावस्था सदि्ध होती है। "तत् त्वं असि तू वह है", इस वाक्य में वह अवस्था दरशाई गई है।

तीसरा पद 'सत्' क्रियावस्था का प्रतीक

तीसरा पद है 'सत्' यह तो स्पष्ट ही है। अशुभ को छोड़कर जो शुभ को ग्रहण करता है, वह है सत्। 'सत्य का आग्रह, असत्य का त्याग' इस भूमकिा को 'सत्' सूचति करता है। सत्

अर्थात् 'शुद्ध' ब्रह्म।

'ॐ तत् सत्' व्यापक, अलप्ति, पूर्ण और परशिुद्धता का वाचक

इस तरह 'ॐ' तत् सत्' यह मंत्र व्यापक, अलप्ति और परशिुद्ध जीवन का वाचक है। वहीं किसी भी पूर्ण वचिार का स्वरूप है।

इस तरह 'ॐ' से व्यापक ब्रह्म, 'तत्' से निर्गुण ब्रह्म और 'सत्' से शुद्ध ब्रह्म का बोध होता है। ये तीन पद ज्ञानी पुरुष की तहिरी अवस्था के द्योतक हैं। वे तीनों अवस्थाएँ बलिकुल अलग-अलग नहीं हैं। क्रियावस्था में 'सत्' प्रधान होता है। स्थूल जीवन का मुख्य भाव क्रिया ही है। मनुष्य का व्यक्त, प्रकट जीवन क्रियात्मक ही होता है। महापुरुषों के जो जीवन-चरति्र लिखे जाते हैं, उनमें उनके द्वारा किए गए कार्य़ों का ही मुख्यतया वर्णन होता है; क्योंकि जीवन का मुख्य दृश्य-भाग क्रिया ही है। उसके अनुसार 'सत्' को मुख्य शब्द समझना चाहिए। अर्थात् व्याकरण की भाषा में वह संज्ञा होगी। 'ॐ' और 'तत्' ये दोनों उसके वशिेषण समझने चाहिए।

स्थितप्रज्ञ की धारणा का उपसंहार

गीता में वर्णति स्थितप्रज्ञ के लक्षणों पर उपरोक्त ववेिचन में हमने अनेक दृष्टकिोणों से स्थितप्रज्ञ की स्थिति को समझने का प्रयास किया है। अब इस विषय का उपसंहार करते हुए हम एक बार फिर अर्जुन के मुख्य प्रश्न का आकार ध्यान से देखें तो स्थितप्रज्ञ के लक्षणों का प्रवाह समझ में आ जाएगा।

अर्जुन का पहला प्रश्न है-स्थितप्रज्ञ की भाषा बताइए? भाषा यानी व्याख्या! सो एक ही श्लोक में भगवान् ने वधिायक और निषेधक, दोनों प्रकारों को मलिाकर एक परपिूर्ण व्याख्या बताकर उसके प्रश्न का उत्तर दे दिया। लेकिन अर्जुन केवल व्याख्या पूछकर ही नहीं रुका। उसने यह भी पूछा कि स्थितप्रज्ञ कैसे रहता है और कैसे चलता-फिरता है? इसका उत्तर उन्होंने ऐसा नहीं दिया कि वह इस तरह बोलता है, मधुर या कठोर बोलता है, वह इस तरह रहता है-गरीबी से या मध्यम अवस्था में रहता है, वह इस तरह चलता है-दुत अथवा मंद गति से चलता है आदि। तीनों प्रश्नों का अर्थ सारे जीवन को लेकर किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विनोबा भावे ने श्रीमद्भगवदगीता के गूढ़-गंभीर अर्थ को अपने समर्थ वचिारों से स्पष्ट करने का बड़ा ही सुंदर एवं सटीक अर्थ किया है। विनोबाजी की यह प्रतभिा नशि्चति ही उन्हें संत की श्रेणी में ला देती है। व्यक्तगति जीवन में विनोबा भावे जहाँ एक कर्मठ व्यक्ति हैं, धार्मकि संदर्भों में वे एक समर्थ कर्मयोगी के रूप में हमारे सामने आते हैं। अस्तु!

भारतीय शिक्षण-दृष्टि और परंपरा

विनोबाजी ने समाज के बहुमुखी विकास के लिए आजीवन समर्पति भाव से कार्य किया। इसलिए बात चाहे राजनीति की हो या धर्म की, सेवा की हो या शिक्षा की, विनोबाजी हर क्षेत्र में सुधार की संभावनाओं पर वचािर रखते हैं और हर क्षेत्र को सत्य, सेवा और समर्पण से जोड़ देना चाहते हैं। विनोबा का सेवाभाव कल्पना और संवेदना पर ही आधारति नहीं है, अपतिु भारतीय ज्ञान की लंबी परंपरा का उन्होंने पूरी गंभीरता से मनन किया है और उसे जीवन में उतारा है। यही कारण है कि समाज सुधार का कोई भी क्षेत्र क्यों न हो, विनोबाजी भारतीय धर्म, दर्शन और परंपरा के संदर्भ में पूरी आधकिारकिता से अपने वचािर रखते हैं। यहाँ प्रस्तुत हैं भारतीय शिक्षा और शिक्षण के संबंध में विनोबाजी के वचािर।

शिक्षण-शात्र भारत में वकसिति

क्षेत्र कोई भी हो, विनोबाजी उसके वसि्तार से अधकि महत्त्व उसकी गुणवत्ता को देते हैं। शिक्षा और शिक्षण के संबंध में भी विनोबाजी इसी तथ्य को प्रतपिादति करते हुए कहते हैं, "हम यह नहीं सोचते हैं कि यह वचािर स्वदेशी है या वदिशी, पुराना है या नया। हम यही सोचते हैं कि वह ठीक है या बेठीक है। यह इसलिए जरूरी है कि जो जहाँ का होता है, वह वहाँ की परसि्थिति और चरति्र के लिए अनुकूल होता है। हमारे यहाँ के जो वकसिति शात्र हैं, यह नियम उन सब पर लागू होता है। उदाहरण के लिए, जैसे कि हमारे यहाँ का वैद्यक शात्र है-आयुर्वेद। अगर आयुर्वेद में हम अपने आस-पास की ही वनस्पति का उपयोग करेंगे, तो वे ज्यादा कारगर होंगी; क्योंकि वे हमारे स्वभाव के अनुकूल वातावरण में ही पैदा हो रही हैं, यहीं बढ़ रही हैं। उन वनस्पतयों में उसी वातावरण के गुण-धर्म हैं, जसि वातावरण के गुण-धर्म हम ग्रहण करके जी रहे हैं। इसलिए किसी बाहरी वैद्यक शात्र की अपेक्षा हमारा अपना आयुर्वेद हमारे स्वभाव के अनुकूल होने के कारण हमारे लिए अधकि

लाभदायक हो सकता है।

शिक्षा के बारे में कुछ बाहरी लोग यह प्रचार करने में जुटे रहते हैं कि हिंदुस्तान में विद्या कम थी, या उन्होंने हिंदुस्तान में शिक्षा का प्रचार-प्रसार किया है। यह प्रचार सत्य से परे है। ऐसा बलिकुल नहीं है। बल्कि सच तो यह है कि हिंदुस्तान में सबसे पहले विद्या शुरू हुई थी और वह प्रसारति होते-होते बहुत से देशों में पहुँची।

भारत का सर्वोत्तम शिक्षण-ग्रंथ है-'योगसूत्र'

शिक्षा-शात्र के जो ग्रंथ संस्कृत भाषा में हैं, उन सबमें शिरोमणि ग्रंथ है-पतंजलि का 'योगसूत्र'। मुझसे कोई पूछे कि शिक्षण-शात्र पर सर्वोत्तम ग्रंथ भारत में कौन सा है, तो मैं यही कहूँगा कि 'पातंजलि योगसूत्र'। उसमें शिक्षण के विषय में मानस और अतमिानस दोनों दृष्टयों से वसि्तार से वचिार किया गया है। मानसशात्रीय रीति से सोचना शिक्षा के लिए बहुत जरूरी है। उसके बनिा शिक्षण-शात्र शुरू ही नहीं होता, लेकिन आरंभ के लिए मानसशात्र जरूरी होता है, तो भी उसकी आखिरी चीज क्या है, उसे कहाँ तक ले जाना है, यह समझने के लिए अतमिानस-भूमकिा का भी ज्ञान होना जरूरी है।

पतंजलि ने योगशात्र में वृत्तयों का परीक्षण करके वृत्तयों के अनुकूल और वृत्तयों से परे कैसे बरता जाए, ये दोनों बातें बताई हैं। वृत्तयों के अनुकूल अगर हम नहीं बरतते, तो संसार में कोई कार्य नहीं कर सकते। इसलिए वृत्तियें के अनुकूल सोचना पड़ता है। वृत्तयों से परे होकर अगर नहीं सोचते तो तटस्थ दर्शन नहीं होता, और इसलिए नजदीक के ही छोटे से चिंतन के घेरे में ही हम सीमति रहते हैं। इससे हमारे अंदर दूरदृष्टि का अभाव होता जाता है। इस वास्ते अतमिानस-दृष्टि की भी जरूरत रहती है और मानसदृष्टि की भी जरूरत होती है। दोनों दृष्टयों को ध्यान में रखकर पतंजलि ने बहुत थोड़े में योगशात्र में अपनी सोच, अपना दर्शन हमारे सामने रखा है। पतंजलि के इस 'योगसूत्र' का महत्त्व इसी से जाहिर हो जाता है कि प्राचीन समय से लेकर आज तक इस 'योगसूत्र' पर अनेक भाष्य लिखे गए हैं और इस प्रकार यह योगशात्र आज तक निरंतर वकसिति होता आ रहा है। भारत में आज भी उसका विकास हो रहा है। मुझे इतना ही कहना है कि हमारे यहाँ शिक्षा ही नहीं, शिक्षण-शात्र भी बहुत प्राचीन काल से ही बना हुआ है।

पतंजलि परमात्मा को गुरु रूप में देखते हैं- 'स एष पूर्वेषामपि गुरुः' अर्थात् पतंजलि का मानना है कि आज तक जतिने भी प्राचीन ज्ञानी हुए हैं, परमात्मा उन सभी का गुरु है। मेरी जानकारी में किसी भी धर्मग्रंथ में या मानसशात्रीय ग्रंथ में परमात्मा को गुरुरूप में नहीं दिखाया गया। हाँ, अनेक धर्मग्रंथों में परमात्मा को 'पितासि लोकस्य' कहकर पिता के रूप में अथवा माता के रूप में अवश्य वर्णति किया गया है, लेकिन पतंजलि के योगशात्र ने उसे गुरु के रूप में देखा है।

भारतीय ज्ञान-परंपरा की सर्वश्रेष्ठ देन

ब्रह्मविद्या भारतीय ज्ञान-परंपरा की सर्वश्रेष्ठ देन है। यह विद्या हमें यह सिखलाती है कि मूलतः हम सब आत्मारूप हैं। हम सब एक ही आत्मा हैं। आत्मा की एकता पर यह विद्या आधारति है। ब्रह्मविद्या भारतीय जीवन-दर्शन की आधारभूत विद्या है। इस दर्शन के बनिा हमारा कोई भी काम आगे नहीं बढ़ सकता।

भारत में प्राचीन काल से ही शिक्षण स्वतंत्र रहा है

भारतीय शिक्षा की दूसरी वशिषता यह थी कि यहाँ शिक्षण हमेशा स्वतंत्र रहा। वचिार की आजादी जतिनी भारत में रही है और आज है, इतनी कहीं नहीं देखी। धर्म को दुनिया भर में बड़ी कट्टरता से देखा जाता है, लेकिन हमारे यहाँ एक ही हिंदू धर्म में कोई कर्मकांड को मानता है, तो कोई इसे नहीं मानता, कोई पुनर्जन्म में विश्वास करता है, कोई नहीं करता। सभी जानते हैं कि यहाँ छह-छह दर्शन हैं, परंतु धर्म तो एक ही है। हाँ, सदाचार के कुछ नियम सबको मानने पड़ते हैं, बाकी सब तरह से सर्वथा स्वतंत्र वचिार चलता है। इसलिए यहाँ का शिक्षण भी संपूर्णतः सत्ता-निरपेक्ष रहा है।

भारत में शिक्षण सर्वत्र था

दूसरी बात यह कि यहाँ पर उन दनिों से शिक्षा है, जब यूरोप में शिक्षा का आरंभ भी नहीं हुआ था। यह बात उपनिषद् में भी आती है। उपनिषद् का राजा अपने राज्य का वर्णन कर रहा है-'न अवद्विान्' अर्थात् मेरे राज्य में जो वद्विान् न हो, ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है। पढ़ा-लिखा होना और वद्विान् होने में फर्क है। राजा कहता है कि सिर्फ पढ़े-लिखे लोग ही नहीं, मेरे यहाँ सब वद्विान् हैं।

भारत में हर छोटे गाँव में विद्यालय थे

डॉ. एनी बेसेंट ने एक जगह लिखा है कि 300 साल पहले 'ईस्ट इंडिया कंपनी' के लोग बंगाल के छोटे-छोटे गाँवों में गए थे। उन्होंने अपने सर्वेक्षण के एक रिकॉर्ड में लिखा है कि बंगाल में प्रति चार सौ व्यक्तयों के पीछे एक पाठशाला है। मैं सोच रहा था कि चार सौ मनुष्यों में एक पाठशाला का अर्थ है लगभग प्रत्येक गाँव में एक पाठशाला। और देखिए कसि प्रकार दुष्प्रचार किया गया कि आज हम लोग मानते हैं कि भारत में अंग्रेजों ने ही शिक्षण की शुरुआत की थी! उसके पहले हमारी सामान्य जनता निरक्षर थी। केवल ब्राह्मण तथा वैश्य जैसी जातयों के कुछ लोग ही क्षार थे। जबकि ऐतहिासकि तथ्य कुछ दूसरी ही सच्चाई कहता है। यह सब भारत में सदयों तक चले दुष्प्रभाव का ही नतीजा है।

अंग्रेजों ने शिक्षा दी नहीं, शिक्षा छीन ली

अंग्रेजों ने यहाँ 150 साल तक राज्य किया। उन डेढ़ सौ वर्षों में बमुश्कलि दस-बारह प्रतशति लोगों को शिक्षण मलिा। बाकी 77 प्रतशति लोग अशिक्षित रहे। इस समय लगभग

30 प्रतशति लोग शिक्षित हैं। इसलिए सच्चाई यह है कि 'ईस्ट इंडिया कंपनी' के यहाँ आने से पहले या कंपनी के जमाने में भी यहाँ के लोग अशिक्षित नहीं थे। अंग्रेजें के जमाने में लोग अशिक्षित बनते गए। अंगेजों ने यहाँ आकर विद्या के दो टुकड़े ही कर दिए। एक सामान्य विद्या और दूसरी उच्च विद्या यानी अंग्रेजी विद्या। जो लोग अंग्रेजी पढ़ते थे, वे वद्िवान् माने जाते थे और बाकी के अक्षरशत्रु। सामान्यतः आरंभ में ब्राह्मणादि वर्ग उच्च शिक्षण लेते थे, इसलिए उनकी श्रेष्ठता दुहरी हो गई। परिणामतः समाज के बलिकुल टुकड़े-टुकड़े हो गए। इस तरह समाज को वभिाजति करना पाप ही माना जाएगा। अंग्रेजों द्वारा किए गए वे टुकड़े आज तक कायम हैं।

भारत में आरंभ से ही प्रयोगात्मक शिक्षा रही है

उस जमाने में हर पंचायत का काम था कि गाँव में स्कूल चले और उसके लिए कसिानों से कुछ-न-कुछ हसि्सा मलिे। उस जमाने में अरबी या संस्कृत का ज्ञान जरूरी था। चाहे शिक्षण की पद्धति पुरानी थी। महाराष्ट्र में तो घोड़े पर चढ़कर, पेड़-पहाड़ों पर चढ़ना-उतरना हर एक व्यक्ति को सिखाया जाता था। अर्थात् देश में मात्र कताबी विद्या ही नहीं, अपतिु क्रियाशील एवं प्रयोगात्मक विद्या थी, और वह भी पूरी तरह स्वतंत्र थी।

भारत का समाज आचार्यों ने बनाया

प्राचीन काल से आज तक का जो भारत बना है, वह शक्िषकों ने ही बनाया है। यहाँ आचार्य शंकर, आचार्य रामानुज और कतिने ही आचार्य ऐसे हो गए, जनिके नाम तक लोगों को मालूम नहीं। शात्रों में उनके नाम प्रसद्िध हैं। भगवान् उपवर्ष नाम के एक महान् ऋषि हुए। उनका नामोच्चरण ही भगवान् के नाम से किया जाता है। मीमांसा के आचार्य जैमनिी उन्हीं के शिष्य थे। 'ब्रह्मसूत्र' में चर्चा चली कि भनि्न-भिन्न आचार्यों का क्या मत है? उसमें काशकृत्स्न, औडुलोमि, आश्मरथ्य के नाम आते हैं। अब कौन इन्हें जानते हैं? प्राचीन काल में ऐसे कई ऋषि हुए, जनिके नाम के अलावा आज वशिेष कुछ नहीं मलिता। इस तरह प्राचीन काल से अर्वाचीन काल तक भारत में आचार्यों की बहुत बड़ी परंपरा चली आई है। और देशों की बात तो छोड़िए, इतनी बड़ी परंपरा ग्रीस तक में भी नहीं चली, जतिनी हमारे यहाँ चली है।

भारतीय आचार्यों ने अपनी ओर से विद्या-दान दिया और एक समर्थ समाज तैयार किया। रामानुजाचार्य के शिष्य रामानंद, उनके दो शिष्य कबीर और तुलसीदास। एक गुरु के दो महान् शिष्य! रामानंद और शंकराचार्य जैसे वद्िवान् आचार्य सारे भारत में घूमे और अपने वचिारों का प्रचार किया और उनके वचिारों के मुताबकि सारा समाज बदलता गया। यह जो आज का भारतीय समाज है, वही है जो उन सभी आचार्यों ने सोच-समझकर बनाया था और उसी परंपरा के अनुसार आज भी चल रहा है।

भारत को किसी राजसत्ता ने नहीं, संत और आचार्यों ने बनाया है

संस्कृत के हजारों ग्रंथों में कश्मीर के राजाओं के नाम हैं, बाकी सब गुरु और आचार्यों के नाम हैं। कहने का मतलब यही है कि भारत पर स्थायी असर राजाओं का नहीं, आचार्यों का ही है। शादी-विवाह भी आचार्यों के निर्देशानुसार होते हैं। संध्या, उपासना आदि भी उन्हीं के बनाए नियमों के अनुसार चलती आई है। भारत को किसी राजसत्ता ने नहीं बनाया, उसको तो यहाँ के संत, फकीर और आचार्यों ने बनाया है।

इस देश में चलते-फिरते विद्यालय थे

पहले के जमाने में हमारे देश में विद्या शहरों में नहीं, बल्कि नदी के कनिारे, जंगलों में या दुर्गम स्थानों में पनपती थी। भारत की विद्या शहर की नहीं, जंगल की है। गाँव जंगलें के नजदीक होते थे। इसलिए वद्विान् भी गाँवों में ही रहते थे और ग्रामजन उनके निर्वाह की चिंता करते थे। आज तो विद्या शहरों में, यूनविर्सिटियों में और कॉलेजों में कैद हो गई है। वहाँ का खर्चा जो उठा सके, उसी को विद्या मलि सकती है। हमारे देश के विद्यापीठ तो चलते-फिरते विद्यापीठ थे। कबीर, नामदेव, तुलसीदास, चैतन्य आदि अनेक भक्त गाँव-गाँव घूमकर उपनिषदों की ब्रह्मविद्या को लोगों के जीवन तक पहँचाते थे। इस प्रकार भारत में विद्या दो प्रकार से फली-फूली, एक तो गुरुकुलों से और दूसरे संत-फकीरों की शिक्षाओं से।

श्रवण ज्ञान के प्रसार का सर्वश्रेष्ठ तरीका

ज्ञान का ग्रहण और वसि्तार जतिना देखने और सुनने से होता है, उतना पढ़ने से नहीं हो पाता। जनता पढ़-पढ़कर ज्ञानी नहीं हो सकती। वह तो श्रवण से ज्ञानी होती है। सर्वोत्तम वचिार निरंतर सुनने चाहिए, सुनाने चाहिए। नवधा भक्ति के प्राथमकि तीन साधन हैं- श्रवण, कीर्तन, स्मरण। श्रोतव्यों, मंतव्यों नदिध्यिासतिव्यः में भी पहला स्थान श्रवण को दिया गया है। तुलसीदासजी ने गाया है कि राम कसि-कसि प्रकार के भक्तों के पास और कहाँ-कहाँ रहते हैं-

जन्हि के श्रवण समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना।।

भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तन्हि के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे।।

अर्थात् जनिके समुद्ररूपी कानें में तुम्हारी कथारूपी नदियाँ निरंतर गिरती रहती हैं, फिर भी जनिको तृप्ति नहीं होती, जनिके श्रवण की भूख निरंतर सतेज रहती है, उनका हृदय, हे रामजी, आपके लिए उत्तम नविास-स्थान है। वहाँ आप आराम से रहिए।

इस तरह हमारे देश में श्रवण की महमिा गाई गई है। हमारे यहाँ वद्विान् को 'बहुश्रुत' कहते हैं। बहुश्रुत का अर्थ है जसिने बहुत कुछ सुना है। थोड़े में कहें तो हमारा शिक्षण-शात्र हजारों बरसों के अनुभवों के आधार पर उन निर्णयों पर पहुँचा है, जो आज हमारे लिए

नियमों के रूप में स्थिर हुए हैं। देश का हर एक नागरकि ज्ञानी होना चाहिए, यह वचिार इस देश का आधारभूत वचिार है और यह वचिार नया नहीं है, अपतिु अनादि काल से हमारे रक्त में प्रवहमान है।

विद्या से ही वनिय का जन्म

इसका यह अर्थ नहीं कि अपनी मानसकि सामर्थ्य का ज्ञान होते ही ज्ञानी व्यक्ति उद्यत बन जाएगा या फिर घमंड से भर उठेगा। नहीं, ऐसा नहीं होगा, शिक्षा प्राप्त मनुष्य में नश्चिति ही अपेक्षति नम्रता रहेगी। कारण यह है कि ज्ञान प्राप्त व्यक्ति को अपने ज्ञान की गंभीरता के साथ-साथ इस बात का भी पता रहता है कि ज्ञान कतिना अनंत है और आजीवन प्रयास करने के बावजूद उसे उस ज्ञान का कतिना थोड़ा सा ही अंश मलि पाया है। इसलिए सच्चा ज्ञानी जतिना विद्या-संपन्न होता जाएगा, उतना ही अधकि वनिय-संपन्न भी होता जाएगा। विद्या न पानेवाला व्यक्ति उतना वनम्रि कभी भी नहीं हो सकेगा। कारण, उसे विद्या का नाप मलिा ही नहीं। इसीलिए पूर्वजों ने वद्विानों से कहा है कि वे स्वयं तो वनिीत रहें ही, 'प्रजानां वनियाधानात्'-प्रजा को भी वनिय-संपन्न बनाएँ।

वनम्रिता के साथ धैर्य, साहस आदि गुण भी अपेक्षति

नम्रता के साथ ही विद्यार्थी में दृढ़ नश्चिय, आत्मविश्वास, धैर्य, निर्भयता आदि सभी गुण होने चाहिए। बुद्धि के साथ धृति भी रहनी चाहिए। जब छात्र संसार में प्रवेश करेगा, तो वजियी वीर की तरह ही करेगा। विद्यार्थी गुरुगृह में अध्ययन समाप्त कर जब गृहस्थाश्रम स्वीकार करने की इच्छा करता है तब उसका 'समावर्तन संस्कार' किया जाता है। 'समावर्तन' यानी प्रथम आश्रम की पूर्णता अथवा दीक्षांत-वधिि, या नूतन आश्रम में प्रवेश करने की अनुमति। 'समावर्तन वधिि' में ऋग्वेद का नम्नि मंत्र बोला जाता है-

ममाग्ने वर्चो वहिवेष्वस्तु वयं त्वेधानास्तन्वं पुषेम।

महां नमन्तां प्रदशिश्यतत्रः त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम।।
अर्थात् जीवन-संग्राम में मेरा तेज चमके। हे अग्नदिव! तेरी कृपा से हम अपने मन को तेरी अध्यक्षता के नीचे जीतेंगे। ये चारों दशिाएँ हमारे सामने झुकेंगी।

सही ज्ञान के कारण आत्मविश्वास से पूर्ण ज्ञानी तो सिंह के माफकि समाज में प्रवेश करेगा और ज्ञान की अनंतता का आभास उसे सदा वनम्रि बनाए रखेगा-'मह्यं नम्रन्तां प्रदशिश्चतस्यः।' अर्थात् चारों दशिाएँ मेरे सामने झुक रही हैं। यानी सारी सृष्टि पर मेरा काबू है। मैं द्रष्टा हूँ, और इस मट्टिी को जो रूप देना चाहूँगा, दूँगा, क्योंकि यह अचेतन है और मैं चेतन हूँ। चेतन के नाते अचेतन को रूप दे सकता हूँ। विद्यार्थी ऐसी सामर्थ्य के साथ गुरु के घर से जाता था।

प्रातःकाल में अध्ययन

यह देश प्राचीन है और यहाँ प्राचीन काल से ही निरंतर अध्ययन की अखंड परंपरा चली आ रही थी। जसि जमाने में शेष दुनिया के लोग अँधेरे में थे और विद्या से अपरचिति थे, उस समय भी यहाँ विद्या वद्यिमान थी। यहाँ के नविासी ब्रह्म-वेला में ही उठ जाते थे-'अनुब्रुवाणो अध्येति न स्वपन्'-अर्थात् वे सुबह सोते नहीं, अध्ययन करते थे। जो प्रातः उठकर अध्ययन करेगा, उसे विद्या मलिगी। ऋषयों ने कहा है कि उषाकाल, काल-पुरुष की महामूर्ति का मस्तक है। जसिने उषाकाल व्यर्थ गँवाया, उसने काल-पुरुष का मस्तक ही तोड़ दिया, तो फिर उसे ज्ञान कहाँ से मलिगा?

विद्यार्थी उषाकाल में अपने गुरु के पास विद्याध्ययन करते थे। वे बहुत सबेरे उठते और कुछ चिंतन-मनन भी करते थे। क्योंकि भारतीय वद्विान् मानते थे कि प्रातःकाल के समय जो सोते रहता है, वह अपना अमूल्य समय खोता है। सुबह जगने से बुद्धि जाग्रत् रहती है, तेज रहती है। प्राचीन ग्रंथों में भी स्पष्ट कहा गया है-

'यो जागार तमृचः कामयंते यो जागार तमु सामानि यन्ति' (ऋचा 5, 3, 1)।

अगर जल्दी सो जाएँ, शांति से नद्रिा लें, सुबह जल्दी उठें और प्रातःकाल की मंगल-वेला में अध्ययन करें, तो घंटे भर के अध्ययन में जो ज्ञान प्राप्त होगा, वह दूसरे समय 2-3 घंटे पढ़ने पर भी नहीं मलिगा। सुबह के समय चित्त शांत, एकाग्र रहता है। नद्रिा ले चुके हैं, इसलिए चित्त प्रसन्न है। ऐसी हालत में यदि मुँह धो लिया और बैठ गए अध्ययन के लिए, तो उस प्रसन्न चित्त पर थोड़े में एकदम से ज्ञान की छाप पड़ती है, जो अन्य समय में नहीं पड़ती। इसलिए जसि किसी ने प्रातःकाल का समय खोया, उसने आत्महत्या कर ली। बाकी का सारा समय उसका रजोगुण, तमोगुण का होता है। प्रातःकाल का जो समय होता है, वह सत्त्वगुण का होता है। और यदि हम उषाकाल में थोड़ा भी अध्ययन कर लेते हैं, तो वह अध्ययन उत्तम होता है।

हमारे यहाँ हर कर्तव्य के साथ स्वाध्याय जोड़ा गया है

मनुष्य के संपन्न जीवन के लिए हमारे प्रायः सभी ग्रंथों में अनेक साधन बताए गए हैं-तप, दान, अतिथि-सेवा आदि। हर साधन के साथ अध्ययन-अध्यापन जोड़ा गया है। बार-बार कहा गया है-ऋतम् होना चाहिए और साथ में स्वाध्याय भी। सत्य होना चाहिए और साथ में स्वाध्याय भी। इंद्रयों का दमन होना चाहिए और साथ में स्वाध्याय भी। एक-एक साधन का नाम लेकर उसके साथ स्वाध्याय जोड़ दिया है।

स्वाध्याय का अर्थ मैं यह नहीं करता कि एक कतिाब पढ़कर फेंक दी, फिर दूसरी पढ़ना शुरू कर दी और दूसरी पढ़ लेने के बाद पहली भूल गए। इसे स्वाध्याय नहीं कहते। स्वाध्याय के माने हैं एक ऐसे विषय का अभ्यास, जो सब विषयों और कार्यों का मूल है, जो बाकी के सब विषयों का आधार है, लेकिन जो खुद किसी दूसरे पर आश्रति नहीं है। उस विषय में दनि भर में थोड़े समय के लिए एकाग्र होने की आवश्यकता है। पुस्तकों का अध्ययन स्वाध्याय में आएगा ही। परंतु वह ऊपरी छलिका है। 'स्वाध्याय' का वास्तवकि अर्थ है-'स्व' यानी हम

स्वयं, और 'अध्याय' यानी अध्ययन। अपने शुद्ध निर्मल स्वरूप का अध्ययन करना ही वास्तवकि अर्थों में स्वाध्याय है।

ब्रह्मचर्याश्रम का लक्षण स्वाध्याय है

छांदोग्य उपनिषद् ने मनुष्य-जीवन के तीन वभिाग किए हैं। पहले 24 साल ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर अध्ययन, फिर 44 साल सेवा और जीवन के बाद के वर्षों में परमेश्वर को समर्पण। इसमें ब्रह्मचर्याश्रम का लक्षण स्वाध्याय है। ब्रह्मचारी और विद्यार्थियों को अध्ययन करना चाहिए।

ब्रह्मचर्याश्रम की व्यवस्था हिंदू धर्म की वशिषता है। ब्रह्मचर्याश्रम का हेतु है कि मनुष्य के जीवन को आरंभ में अच्छी खाद मलि। जैसे वृक्ष को, जब वह छोटा होता है, तब खाद की अधकि आवश्यकता रहती है। बड़ा हो जाने के बाद खाद देने से जतिना लाभ है, उससे अधकि लाभ जब वह छोटा होता है, तब खाद देने से होता है। यही मनुष्य जीवन का हाल है। वह खाद अगर अंत तक मलिती रहे तो अच्छा ही है, लेकिन कम-से-कम जीवन के आरंभ काल में तो वह बहुत आवश्यक है। हम बच्चों को दूध देते हैं। उसे वह अंत तक मलिता रहे तो अच्छा ही है, लेकिन अगर जीवन भर दूध नहीं मलि, तो कम-से-कम बचपन में तो मलिना ही चाहिए। शरीर की तरह आत्मा और बुद्धि को भी जीवन के आरंभ काल में अच्छी खुराक मलिनी चाहिए। इसीलिए ब्रह्मचर्याश्रम की कल्पना की गई है। ऋषि जसि चीज का स्वाद जीवन भर लेते थे, उसका थोड़ा सा अनुभव अपने बच्चों को भी मलि, इस दया दृष्टि से उन्होंने ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना की।

'श्वेताश्वतर उपनिषद्' कहता है-'यस्य देवे परा भक्तिः' यथा देवे तथा गुरौ (श्वे 86)

अर्थात् 'जसिकी भगवान् में परम भक्ति है और जैसी भगवान् में है, वैसी ही गुरु में भी है, उसे अर्थात् गुरु को उपनिषद् का ज्ञान स्पष्ट रूप से समझ में आताहै।'

उपनिषद काल में अपने यहाँ ज्ञान पाने के लिए गुरु-परंपरा चलती थी और गुरु के संप्रदाय का बड़ा आदर था। शंकराचार्य ने तो यहाँ तक कह दिया कि जो संप्रदाय को नहीं जानता, या उसके प्रति आस्थावान नहीं है, वह वद्विान् हो, तो भी उसे मूर्ख समझना-
'असंप्रदायवति सर्वशात्रवज्ञिापि मूर्खवत् एव उपेक्षणीयः।'

विद्या और अविद्या

इन दनिों हर कोई ज्ञान के पीछे पड़ा हुआ दिखता है। यह सीखता है, वह सीखता है, एक के बाद दूसरा सीखता चला जाता है। इस तरह चित्त जब इतने सारे ज्ञान का बोझ ढोने लगता है तो चिंतन शक्ति क्षीण हो जाती है। 'गीता' में कहा गया है कि 'तू श्रुतिविप्रतिपत्रमति है' अनेक बातें सुन-सुनकर तेरी मति वप्रि्तपत्ति्र हुई है, अनेक विद्याएँ प्राप्त कर तू वद्विान् बना है, पंडति बना है, तो उसका परिणाम यह हुआ है कि चित्त में निर्णय-शक्ति नहीं रही।

चित्त अनिर्णय की अवस्था में रहता है।

शिक्षण के षडंग

वैदकि परंपरा में विद्या के 'परा' विद्या और 'अपरा' विद्या-दो भेद किए गए हैं। 'परा' विद्या यानी श्रेष्ठ विद्या और 'अपरा' विद्या यानी कनिष्ठ विद्या-ऐसे दो प्रकार के भेद किए गए हैं। 'परा विद्या' के अंतर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद आदि चारों वेदों के मनन को रखा गया है और शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंदस्, ज्योतिष इन छह वेदांगें को कनिष्ठ यानी अपरा विद्या के रूप में परभिाषति किया गया है।

वेद शिक्षण की आत्मा है। उसमें व्रत परपिालन, ईश्वरोपासना, शात्राध्ययन, संतवाणी का अभ्यास इत्यादि का समावेश होता है। इस शिक्षण-विषय के नम्नि छह अंग गनिाए जा सकते हैं-

(1) शारीरकि (शिक्षा)-रसोई करना, सफाईशात्र, पीसना, पानी भरना, अन्य व्यायाम, आरोग्यशात्र।

(2) औद्योगकि (कल्प)-बुनाई, खेती, कढ़ाई-सिलाई का काम, अन्य उपयोगी कलाएँ सीखना।

(3) भाषकि (व्याकरण)-संस्कृत, देश में प्रचलति भाषाएँ तथा अपरभाषाएँ सीखना।

(4) सामाजकि (निरुक्त)-राजकारण, समाजशात्र, अर्थशात्र, इतहिास आदि विषयों की शिक्षा।

(5) कलात्मक (छंदस्)-संगीत, चत्रिकला इत्यादि का ज्ञान।

(6) व्यावहारकि (ज्योतिष)-गणति (अंक विद्या, बीजगणति, रेखागणति), जमा-खर्च, भूगोल, आधभिौतकि विज्ञान इत्यादि की शिक्षा।

ऋषि की नम्रता

उपनिषद् के ऋषि शिष्यों से कहते हैं-मेरे प्यारे शिष्यो, तुम बारह वर्ष तक मेरे पास रहे, विद्या सीखी, लेकिन तुम मुझे प्रमाण न मानना। सत्य को ही प्रमाण मानो। मेरी कृतयों या शब्दों को प्रमाण मत मानो। मेरे शब्द और आचरण को सत्य की कसौटी पर परखो। जो खरे उतरें, उनको स्वीकार करो। जो खरे न उतरें, उन्हें छोड़ दो। सत्य की कसौटी हर एक की बुद्धि के लिए सहजगम्य है। उसे काम में लाओ। यानी-

'अस्माकं सुचरतिानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि।।'

जीवन के दो टुकड़े

आज की विचित्र शिक्षा-पद्धति के कारण जीवन के दो टुकड़े हो जाते हैं। आयु के पहले पंद्रह-बीस बरसों में आदमी जीने के झंझट में न पड़कर सिर्फ शिक्षा प्राप्त करे और बाद में शिक्षण को बस्ते में लपेटकर मरने तक जीये! यह रीति प्रकृति की योजना के विरुद्ध है।

प्रकृति में हर चीज एक योजना के अनुसार व्यवहार करती है। हाथ भर लंबाई का बालक अचानक साढ़े तीन हाथ का नहीं हो जाता है, उसकी लंबाई कैसे बढ़ती है, यह तथ्य उसके अथवा औरों के ध्यान में कभी नहीं आता, जबकि शरीर की वृद्धि रोज होती रहती है। यह वृद्धि क्रमशः इतनी धीरे-धीरे और थोड़ी-थोड़ी होती है कि उसके होने का भान तक नहीं होता। यह नहीं होता कि आज रात को सोए, तब दो फीट ऊँचाई थी और सबेरे उठकर देखा, तो ढाई फीट हो गई। लेकिन आज की शिक्षण-पद्धति का तो यह ढंग है कि मनुष्य अमुक वर्ष के अंतिम दिन तक जीवन के विषय में पूर्णरूप से गैर-जिम्मेवार रहे, तो भी कोई हर्ज नहीं। यही नहीं, उसे गैर-जिम्मेवार रहना चाहिए और आगामी वर्ष का पहला दिन निकलते ही उसे सारी जिम्मेवारी उठा लेने को एकदम तैयार हो जाना चाहिए। संपूर्ण गैरजिम्मेवारी से संपूर्ण जिम्मेवारी में कूदना तो एक हनुमान-छलाँग ही हुई। ऐसी हनुमान-छलाँग की कोशिश में यदि छलाँग लगानेवाले के हाथ-पैर टूट जाएँ, तो क्या आश्चर्य!

कुरुक्षेत्र में भगवद्गीता

भगवान् ने अर्जुन से कुरुक्षेत्र में 'भगवद्गीता' कही। पहले 'भगवद्गीता' की 'क्लास' लेकर फिर अर्जुन को कुरुक्षेत्र में नहीं ढकेला। तभी उसे वह गीता पची। हम जिसे 'जीवन की तैयारी का ज्ञान' कहते हैं, उससे जीवन को बिलकुल अलिप्त रखना चाहते हैं। इसलिए उक्त ज्ञान से जीवन तो सँवरता नहीं है। हाँ, मौत की तैयारी अवश्य होती जाती है।

हनुमान-छलाँग का नतीजा

बीस बरस का उत्साही युवक अध्ययन में मगन है। तरह-तरह के ऊँचे विचारों के महल बना रहा है-मैं शिवाजी महाराज की तरह मातृभूमि की सेवा करूँगा। मैं वाल्मीकि सा कवि बनूँगा! मैं न्यूटन की तरह खोज करूँगा! एक दो, चार न जाने कितनी कल्पनाएँ करता है। ऐसी कल्पना करने का भाग्य भी थोड़ों को ही मिलता है, पर जिन्हें मिलता है, उनकी ही बात लेते हैं। इन कल्पनाओं का आगे क्या नतीजा निकलता है? जब वह नमक-तेल-लकड़ी के फेर में पड़ता है, जब पेट का प्रश्न सामने आता है, तो बेचारा दीन बन जाता है। 'जीवन की जिम्मेदारी क्या चीज है' इसकी आज तक उसने बिलकुल भी कल्पना नहीं की थी और अब तो पहाड़ सामने खड़ा हो गया! फिर क्या करे? फिर पेट पालने के लिए मारे-मारे फिरने वाले शिवाजी बनने, वाल्मीकि बनने या न्यूटन बनने के स्थान पर अपनी असल जिंदगी की जरूरतों का दुखड़ा रोते हुए कभी भष्ट नौकरशाहों की नौकरी करते फिरते हैं,

तो कभी पत्नी की जरूरतों को पूरा करने के लिए समझौते करते, और जीवन भर कभी बेटों को रोजगार दलिाने के लिए, तो कभी बेटी के लिए वर की तलाश करते हुए अंत में श्मशान की खाक में मलि जाते हैं। इस देश में न जाने कतिने शवािजी, वाल्मीकि और न्यूटनों की इच्छाएँ रोज आत्मघात की शकिार होती हैं! यह हमारी शिक्षा प्रणाली की अव्यावहारकतिा के कारण रोज छात्रों द्वारा लगाई जानेवाली हनुमान-छलाँग का ही तो फल है।

ततः कमि्

शंकराचार्यजी ने मैट्रकि के एक विद्यार्थी से पूछा, "क्यों जी, तुम आगे क्या करोगे?"

"आगे क्या? आगे कॉलेज में जाऊँगा।"

"ठीक है। कॉलेज में तो जाओगे, लेकिन उसके बाद? यह सवाल तो बना ही रहता है।"

"सवाल तो बना ही रहता है, पर अभी से उसका वचिार क्यों किया जाए? आगे देखा जाएगा।"

फिर तीन साल बाद उसी विद्यार्थी से उन्होंने वही सवाल पूछा।

घअभी तक कोई वचिार नहीं हुआ?"

"वचिार नहीं हुआ यानी? लेकिन वचिार किया था क्या?"

"नहीं साहब, वचिार किया ही नहीं। क्या वचिार करें, कुछ सूझता ही नहीं, पर अभी डेढ़ बरस बाकी है। आगे देखा जाएगा।"

"आगे देखा जाएगा" ये वे ही शब्द हैं-जो तीन वर्ष पहले कहे गए थे। पर पहले की आवाज में बेफक्रिी थी और आज की आवाज में थोड़ी चिंता की झलक।

फिर डेढ़ वर्ष बाद, उसी प्रश्नकर्ता ने उसी विद्यार्थी से-या यों कहें, अब उसी 'गृहस्थी' से फिर वही प्रश्न पूछा (इस बार उसका चेहरा चिंताग्रस्त था। आवाज की बेफक्रिी बलिकुल गायब थी। 'ततःकमि्?' शंकराचार्य का पूछा हुआ यह सनातन प्रश्न अब उसके दमिाग में कसकर चक्कर लगाने लगा था, पर उसके पास उसका न तो कोई समाधान था और न ही कोई उत्तर।

आज की मौत कल पर ढकेलते-ढकेलते एक दनि ऐसा आ जाता है कि उस दनि मरना ही पड़ता है। यह प्रंग उन लोगों के साथ नहीं घटता, जो 'मरण के पहले ही' 'मर' लेते हैं, जो अपना मरण अपनी आँखों से देखते हैं, जो मरण का 'अगाऊ' अनुभव ले लेते हैं, उनका मरण टल जाता है। और जो मरण के अगाऊ अनुभव से जी चुराते हैं, डरते हैं, उनकी छाती पर मरण खुद आ पड़ता है। सामने खंभा है, यह बात उस अंधे को उस खंभे का छाती में प्रत्यक्ष

धक्का लगने के बाद मालूम होती है। आँखवाले को यह खंभा पहले से ही दिखाई दे रहा होता है, अतः वह उस खंभे से बच जाता है और उस खंभे का धक्का छाती पर नहीं लग पाता।

जम्मिेदारी न टालें

जिंदगी की जम्मिेदारी कोई डरावनी चीज नहीं है। वह आनंद से ओतप्रोत है, बशर्ते कि ईश्वर की रची जीवन की सरल योजना को ध्यान में रखते हुए अयुक्त वासनाओं को दबाकर रखा जाए। पर जैसे वह आनंद से भरी वस्तु है, वैसे ही शिक्षा से भी भरपूर है। यह पक्की बात समझनी चाहिए कि जो व्यक्ति जिंदगी की जम्मिेदारी से वंचति हुआ, वह सारी शिक्षा गँवा बैठा। बहुतों की धारणा है कि बचपन से ही जिंदगी का भान यदि बच्चों को रहे, तो जीवन कुम्हला जाएगा। पर जिंदगी की जम्मिेदारी का भान होने से अगर जीवन कुम्हलाता हो, तो कहना होगा कि जीवन जीने योग्य वस्तु है ही नहीं। इसलिए हमें चाहिए कि बच्चों को बचपन से ही शिक्षा के साथ-साथ जीवन की जम्मिेदारयों से भी जोड़कर चलें।

जीवन जीने की शिक्षा

अर्जुन के सामने प्रत्यक्ष कर्तव्य करते हुए सवाल पैदा हुआ। उसका उत्तर देने के लिए 'भगवद्गीता' निर्मति हुई। इसी का नाम शिक्षा है। बच्चों को खेत में काम करने दो। वहाँ कोई सवाल पैदा हो, तो उसका उत्तर देने के लिए सृष्टि-शात्र अथवा पदार्थ-विज्ञान की या दूसरी चीज की जरूरत हो, उसका ज्ञान दो। यह सच्चा शिक्षण होगा। बच्चों को रसोई बनाने दो। उसमें जहाँ जरूरत हो, रसायन शात्र सिखाओ। पर असली बात यह है कि उन्हें 'जीवन जीने दो।' व्यवहार में काम करनेवाले आदमी को भी शिक्षण मलिता ही रहता है। वैसे ही छोटे बच्चों को भी मलि। भेद इतना ही होगा कि बच्चों के आस-पास जरूरत के अनुसार मार्गदर्शन करनेवाले मनुष्य मौजूद हों। ये आदमी भी 'सिखानेवाले' बनकर 'नियुक्त' नहीं होंगे। वे भी 'जीवन जीने वालेहों।'

पेशेवर शक्षिक न हों

'शिक्षक' नाम के किसी स्वतंत्र धंधे की जरूरत नहीं है, न 'विद्यार्थी' नाम के मनुष्य-कोटि से बाहर के किसी प्राणी की। और 'क्या करते हो' पूछने पर, 'पढ़ता हूँ' या 'पढ़ाता हूँ' ऐसा शुद्ध पेशेवर कहिए या व्यावहारकि कहिए, पर जीवन के भीतर से उत्तर आना चाहिए। तभी जीवन की वास्तवकि स्थिति स्पष्ट होगी और लगेगा कि हम सही दशिा में चल रहे हैं।

शक्षिक और विद्यार्थी अन्योन्याश्रति रहें

विद्यार्थियों के लिए गुरु देवता है और गुरु के लिए शिष्य देवता है। गुरु से मलिने वाला

ज्ञान विद्यार्थियों के लिए सर्वस्व है, इसलिए गुरु-सेवा ही उनके लिए सर्वस्व होगी। शक्षिकों के लिए विद्यार्थियों को ज्ञान देना और उनकी चिंता करना, यही सर्वस्व होगा। गुरु को यह नहीं मालूम होना चाहिए कि मैं सेवा करता हूँ, तो उसमें मेरा और कोई मतलब सधता है। विद्यार्थियों को यह महसूस नहीं होना चाहिए कि हम गुरु-सेवा करते हैं, तो उसमें हमारा कोई मतलब सधता है। इसका मतलब यह है कि विद्यार्थियों के लिए गुरु-सेवा और शक्षिकों के लिए विद्यार्थी-सेवा एकमात्र ध्येय और अनन्य ध्येय होना चाहिए; और दोनों मलिकर परमेश्वर की सेवा कर रहे हैं, ऐसी दोनों को ही अनुभूति होनी चाहिए।

शिक्षादान अहंकार का कार्य नहीं

शिक्षादान का कार्य अहंकार का कार्य नहीं है, उसमें निरहंकार-वृत्ति की अत्यंत आवश्यकता है। विद्यार्थी की सेवा करने के लिए शक्षिक हमेशा प्रस्तुत रहेगा, वह नम्र होकर उसकी सेवा करेगा और विद्यार्थी नम्र होकर शक्षिक से ज्ञान प्राप्त करेगा। वे एक-दूसरे को साथी समझेंगे। इसलिए प्राचीन काल में दोनों मलिकर भगवान् की प्रार्थना करते थे और दोनों एक साथ बोलते थे-'तेजस्वि नावधीतमस्तु' अर्थात् हम दोनों का ही अध्ययन चल रहा है। मतलब हम दोनों एक साथ जीवन जी रहे हैं, एक साथ अध्ययन कर रहे हैं। विद्यार्थी समझता है कि शक्षिक का उपकार है कि वह हमको मदद देता है और शक्षिक समझता है कि विद्यार्थी का उपकार है कि वह मुझको सहायता देता है।

छात्र और शक्षिक में सामूहकिता की भावना हो

छात्र और शक्षिकों में अपनेपन का विकास करने के लिए सामूहकिता की भावना अनविार्य है। सामूहकिता की भावना का वसि्तार करने के लिए कुछ बातें बहुत लाभदायक होती हैं। जैसे अगर दोनों मलिकर खेती करते हों, कपड़ा बनाना आदि जैसे उत्पादन-कार्य करते हों या कोई और ऐसे कार्य करते हों, जनिसे दोनों का सामूहकि जीवन बनता हो, तो यह सहयोग दोनों के लिए बड़ा लाभदायी हो जाता है। उसी तरह दोनों मलिकर अध्ययन-अध्यापन करते हैं, और वह भी एक स्वतंत्र ध्येय के लिए तथा इसके जरिए यदि दोनों में यह भावना आती है कि वे समाज की कोई सेवा कर रहे हैं, तो ऐसी अनुभूति बड़ी लाभदायक होगी। अगर इस तरह का अनुभव अध्यापन में और उद्योग में आने लग जाए, तो आज पुस्तकों की जो समस्या है, वह नहीं उठेगी। यानी दोनों प्रकार के अनुभवों से एक बड़ी महत्त्वपूर्ण पुस्तक यहाँ स्वतः ही निर्मति हो जाएगी।

शंकर भाष्य का दृष्टांत

हमारे यहाँ जो उत्तम भाष्य-ग्रंथ हुए हैं, वे इसी तरह से प्रत्यक्ष अध्यापन-कार्य में निर्मति हुए हैं। जैसे भगवान् शंकराचार्य ने 'ब्रह्मसूत्र' पर एक अप्रतमि भाष्य लिखा है, जो साधकों में बहुत प्रसदि्ध है। तत्त्वज्ञान पर इतना गहरा ग्रंथ अकसर देखने को नहीं मलिता। परंतु

वह ऐसी सुपाठ्य और आसान भाषा में लिखा है कि जैसे सर्वसाधारण जनता के लिए किसी ने साहत्यिकि-ग्रंथ लिखा हो। उधर जो तत्त्वज्ञानी पश्चमि में हुए हैं, जैसे-ग्रीन, कांट आदि, उनके ग्रंथ बड़े जटलि हैं, लेकिन शंकराचार्य का ग्रंथ इतना आसान है कि मैंने तो बच्चों को संस्कृत सिखाते समय बड़े मजे में वह पढ़ाया है और बच्चों को भी यही मालूम हुआ कि हम अपनी मातृभाषा में पढ़ रहे हैं। वह पुस्तक पढ़ते समय हमें ऐसा नहीं लगता कि लेखक ने ग्रंथ लिखा है और हम पढ़ रहे हैं। बल्कि ऐसा लगता है कि कोई गुरु कह रहा है और हम सुन रहे हैं।

आदर्श शक्षिक व्यावहारकि ज्ञान में भी दक्ष हो

बुनियादी शक्षिक को यही आदर्श सामने रखना चाहिए। बुनियादी शक्षिक किसी भी कसिान से, बुनकर से या बढ़ई से कम कुशल नहीं होंगे, बल्कि ज्यादा कुशल होंगे। कसिान, बढ़ई आदि को जो चीजें नहीं सूझती होंगी, वे इन्हें सूझेंगी। कसिान, बढ़ई आदि अपने काम में जो रफ्तार हासलि नहीं कर सकते, वह रफ्तार इन्हें हासलि होगी और औजारों में सुधार करने की जो बात उन्हें नहीं सूझती होगी, वह इन्हें सूझेगी। कसिान को अगर अपनी खेती करने में कोई अटकन नहीं होती है, तो शिक्षा ग्रहण करने में कोई अटकन क्यों होगी? इतनी प्रगति शक्षिक को अपने शिक्षण में करनी चाहिए। इन दनिों मैंने जहाँ कहीं बुनियादी शिक्षण के केंद्र देखे हैं, वहाँ पर शिक्षण को लोग कुछ इस प्रकार से करते हैं, जैसे कि कोई श्रमकि अपनी पसंद के उद्योग में कार्य कर रहा हो। सामाजकि और घरेलू कार्य और शिक्षा वैसी ही सहजता से होने चाहिए, जैसे मछली पानी में तैरती है, खेलती है, वैसे ही शक्षिक को उद्योग और शिक्षण में स्वाभावकि रूप में तैरना या खेलना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण इस पृथ्वी पर सबसे समर्थ योद्धा थे, लेकिन वे खेलनेवाले और तैरनेवाले योद्धा थे, वे मँजे हुए राजनीतज्ञि थे और साथ ही कुशल गोसेवक भी। इस तरह वे एक अद्‌भुत कर्मयोगी थे। इस तरह के कर्मयोग के प्रयोग हमारे इन विद्यालयों में चलने चाहिए।

आदर्श गुरु-शिष्य के संबंध का प्रतीक विश्वामति्र का विश्वविद्यालय

जब विश्वामति्र ने दशरथ से राम और लक्ष्मण की माँग की, तो उन्होंने यही कहा कि यज्ञ के लिए लड़कों को भेजिए। राम और लक्ष्मण उनके साथ गए, तो विश्वामति्र ने उन्हें अत्र-शत्र की भी शिक्षा दी और यज्ञ से लेकर यजुर्वेद का कर्मकांड भी सिखाया। इन सबके साथ-साथ राम और लक्ष्मण ने गुरु की दैनकि सेवा का भी सारा दायत्वि उठाया। ऐसी सकाम भावना होती है! इसलिए मैंने आरंभ में ही कहा था कि विद्यार्थियों के लिए गुरु-सेवा ही सर्वस्व होनी चाहिए। उनकी भावना ऐसी नहीं होनी चाहिए कि ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्हें गुरु-सेवा करनी होगी। राम और लक्ष्मण ऐसा ही एक सेवा-कार्य लेकर विश्वामति्र के साथ नकिले और उनके शिक्षा से लेकर ववािह तक के सभी कार्य गुरु की देखरेख में हुए। ऐसा संबंध होना चाहिए-शिक्षक ओर विद्यार्थी का।

राम और लक्ष्मण ने यह नहीं सोचा कि हम किसी विश्वविद्यालय में दाखलि हुए हैं और

शिक्षा पा रहे हैं। वे तो सेवा करने के लिए कर्मयोग के क्षेत्र में उतरे थे, लेकिन सेवा करते-करते उन्हें उत्तम ज्ञान दिया गया। ज्ञान देनेवाले में भी ऐसी भावना नहीं थी कि हम ज्ञान दे रहे हैं और लेनेवाले में भी ऐसी भावना नहीं थी कि हम ज्ञान ले रहे हैं। फिर भी उत्तम ज्ञान दिया गया और लिया गया। यही हमारी पारंपरकि शिक्षा का आदर्श है, यदि यही आदर्श आज भी लागू हो जाए तो कतिना अच्छा हो!

अस्वाभावकि शिक्षा पद्धति

आज परस्थितियों ने और स्वयं हम लोगों ने ही शिक्षण का भाव बेहद बढ़ा दिया है, इसलिए आज की हमारी शिक्षा-पद्धति अत्यंत अस्वाभावकि, वपिरीत और हास्यास्पद हो गई है। बच्चे की स्मरण-शक्ति तीव्र कराने के नाम पर उसे अधकि-से-अधकि विषय कंठस्थ करने को प्रेरति किया जाता है। शक्षिकों के साथ-साथ ही माता-पिता को ऐसा लगता है कि इस बच्चे के मस्तिष्क में कतिना ज्ञान ठूँसें और कतिना नहीं। घर की तो बात छोड़िए, पाठशाला की शिक्षा-पद्धति में भी यही ढंग अपनाया जाता है। इसके वपिरीत अगर छात्र मंद-बुद्धि हो, तो उसकी जान-बूझकर उपेक्षा की जाती है।

इस प्रकार शिक्षा देने का परिणाम यह होता है कि 'बुद्धमिान्' कहे जानेवाले छात्र कॉलेज पहुँचने तक किसी तरह टकि पाते हैं, पर आगे प्रायः वे पिछड़ जाते हैं। कॉलेज में वे यदि न पिछड़े, तो आगे व्यवहार में नकम्मि साबति होकर रहते हैं। इसका एकमात्र कारण उनकी कोमल बुद्धि पर फालतू बोझ डाला जाना ही है। घोड़ा चपल है, ठीक से चल रहा है, तो उससे छेड़छाड़ करने की जरूरत नहीं, पर वैसा न करके, घोड़ा चपल है न, फिर लगाओ इसे चाबुक! इससे क्या होगा? घोड़ा भड़ककर गड्ढे में जा गिरेगा और मालकि को भी गिराएगा। यह मूर्खतापूर्ण जंगली पद्धति कम-से-कम राष्ट्रीय पाठशालाओं में तो बंद होनी ही चाहिए।

शिक्षा का रहस्य

वस्तुतः छात्र की जैसे ही यह धारणा हुई कि मैं शिक्षा ग्रहण कर रहा हूँ, तो समझ लीजिए कि शिक्षा का सारा मजा ही किरकिरा हो गया। छोटे बच्चों के लिए खेलना उत्तम व्यायाम कहा जाता है, इसका भी रहस्य यही है। खेलने में व्यायाम तो हो जाता है, पर 'हम व्यायाम कर रहे हैं' ऐसा ध्यान नहीं होता। खेलते समय आस-पास की दुनिया खत्म हो जाती है। बच्चे तदरुप होकर अद्वैत का अनुभव करते हैं। देह की सुध-बुध नहीं रह जाती, भूख प्यास, थकान, पीड़ा कुछ भी नहीं मालूम पड़ती। सारांश, खेल का अर्थ 'आनंद' या 'मनोरंजन' रहता है। वह व्यायाम 'कर्तव्य' नहीं बन पाता। यही बात सभी प्रकार की शिक्षाओं पर लागू करनी चाहिए। 'शिक्षा एक कर्तव्य है', ऐसी भावना हममें पैदा होनी चाहिए।

शिक्षा का काम

शिक्षा के प्रति ऐसी मानसकिता के लिए दोष तो तय करना होगा, पर यह दोष कसिका माना जाए? शिक्षण-विषयक हमारे जो मत हैं और तदनुसार हमने जसि पद्धति का या पद्धति के भाव का अवलंबन किया है, उसी का यह दोष है। बच्चे की शिक्षा अनजाना कार्य या सहज होनी चाहिए। बचपन में बालक अपनी मातृभाषा को जसि सहज-पद्धति से सीखता है, उसकी आगे की शिक्षा भी उसी सहज-पद्धति से होनी चाहिए। नन्हा बच्चा व्याकरण का अर्थ नहीं जानता, पर वह कभी 'माँ आया' नहीं कहता। मतलब यह कि वह व्याकरण समझता है। भले ही उसे 'व्याकरण' शब्द न मालूम हो। बच्चा भले ही व्याकरण की परभिाषा से अवगत न हो, पर व्याकरण का मुख्य कार्य संपन्न हो चुका।

पूर्ण में से ही पूर्ण

श्रुति का वचन है-पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। अर्थात् पूर्ण से ही पूर्ण की उत्पत्ति होती है, यह प्राकृतकि विकास का नियम है। इसका अर्थ क्या है? अगर पहले भी पूर्ण, तो 'विकास' कसिका? श्याम-पट्ट पर अंकति आँवले के बराबर जो शून्य था, वह खुर्दबीन से कोहड़े के बराबर दिखाई देने लगा। यानी खुर्दबीन ने क्या किया? कैसा 'विकास' किया? क्या उसने अपूर्ण शून्य को पूर्ण शून्य बना दिया? या छोटे पूर्ण शून्य को बड़ा पूर्ण शून्य बना दिया? और सचमुच शिक्षण-शात्र इससे अधकि कुछ भी नहीं कर सकता। शिक्षण-शात्र की व्याख्या ही करनी हो तो 'आँवले के बराबर शून्य से कोहड़े के बराबर शून्य' आप खुशी से करें।

अपूर्ण से पूर्ण और पूर्ण से पूर्ण का अंतर

'अपूर्ण से पूर्ण' का अर्थ क्या है? और 'पूर्ण से पूर्ण' का अर्थ क्या है? यह समझने के लिए एक दृष्टांत देखें। मान लीजिए, हम लोग समुद्र के कनिारे खड़े हैं। हमें इस समय समुद्र में जहाज वगैरह कुछ भी दिखाई नहीं देता। थोड़ी देर में एक जहाज दीखने लगता है। यानी जहाज का सिर्फ ऊपरी सिरा दीखने लगता है। थोड़ी देर बाद बीच का भाग दीखने लगता है और फिर पूरा जहाज ही दीखने लगता है। अब वह संपूर्ण तो दीखता है, पर दूर होने के कारण अस्पष्ट है। इसके बाद जैसे-जैसे वह पास आने लगा, वैसे-वैसे अधकि स्पष्ट दीखने लगता है। पहले क्षण में जहाज का जो दर्शन हुआ, तब से लेकर संपूर्ण जहाज दिखने तक के दर्शन को हम 'अपूर्ण से पूर्ण' कहेंगे और बाद के दर्शन को 'पूर्ण से पूर्ण'।

साक्षर से सार्थक होना बेहतर है

किसी आदमी के घर में यदि बहुत सी शीशियाँ भरी रखी हों, तो बहुत से बहुत ये सोचेंगे कि वह मनुष्य रोगी होगा, ऐसा अनुमान हम शीशयों का देखकर करते हैं, पर किसी के घर में हम बहुत सी पोथियाँ पड़ी देखें, तो हम उसे सयाना समझेंगे। क्या वह अन्याय नहीं है? आरोग्य का पहला नियम यह है कि अनविार्य हुए बनिा शीशी का व्यवहार न करो। वैसे ही जहाँ तक संभव हो, पोथी में आँखें नहीं गड़ानी चाहिए, या यों कहिए कि आँखों में पोथी न

गड़ानी चाहिए, यह सयानेपन का पहला नियम है। शीशी को हम रोगी शरीर का चह्नि मानते हैं तो पोथी को भी, फिर चाहे वह सांस्रकि पोथी हो या पारमार्थकि, रोगी मन का ही चह्नि क्यों नहीं माना जाना चाहिए।

'सु' से 'अ' अच्छा

सदियाँ बीत गइऔ, जनिके सयानेपन की सुंध आज भी दुनिया में फैली हुई है, उन लोगों का ध्यान जीवन को साक्षर करने के बजाय सार्थक करने की ओर ही था। साक्षर जीवन निरर्थक हो सकता है, इसके उदाहरण वर्तमान सुशिक्षित समाज में बनिा ढूँढ़े बहुतेरे मलि जाएँगे। इसके वपिरीत, निरक्षर जीवन भी अत्यंत सार्थक हो सकता है। इसके अनेक उदाहरण इतहिास ने देखे हैं। बहुत बार 'सु' शिक्षित और 'अ' शिक्षित के जीवन की तुलना करने पर 'अक्षराणामकारो।़स्मि', गीता के इस वचन में कहे अनुसार, 'सु' के बजाय 'अ' ही अच्छा जान पड़ता है।

सच्चा ज्ञान सृष्टि में

पुस्तक में अक्षर होते हैं। इसलिए पुस्तक की संगति से जीवन को सार्थक करने की आशा रखना व्यर्थ है। 'बातों की कढ़ी और बातों का ही भात खाकर किसी का पेट भरा है?' यह सवाल मार्मकि है। कवि के कथानुसार 'पोथी का कुआँ डुबाता भी नहीं और पोथी की नैया तारती भी नहीं।' 'अश्व' यानी 'घोड़ा', यह कोश में लिखा है। लड़कों को लगता है कि 'अश्व' शब्द का अर्थ कोश में दिया है, पर वह सही नहीं है। 'अश्व' यानी 'घोड़ा', यह कोश का वाक्य केवल इतना ही बतलाता है कि 'अश्व' शब्द का वही अर्थ है, जो 'घोड़ा' शब्द का है, लेकिन अश्व या घोड़ा वास्तव में है क्या, सो कोश में नहीं, तबेले में जाकर देखो। कोश में सिर्फ पर्याय शब्द दिया रहता है। कहने का अर्थ यह है कि पुस्तक में अक्षर रहते हैं, अर्थ नहीं रहता, अर्थ तो सृष्टि में रहता है। जब यह बात समझ में आएगी, तभी सच्चे ज्ञान का चस्का लगेगा।

दो अक्षरों की सार्थकता

जसिने जप की कल्पना ढूँढ़ नकिाली, उसका एक उद्देश्य था-साक्षरत्व को संक्षप्ति रूप देना। 'साक्षरत्व बलिकुल भूँकने ही लगता है' यह देखकर 'उसके मुँह पर जप का टुकड़ा फेंक दिया जाए', तो बेचारे का भूँकना बंद हो जाएगा और जीवन को सार्थक करने के प्रयत्न को अवकाश मलिेगा, यह उसका भीतरी भाव है। वाल्मीकि ने 'शतकोटि रामायण' लिखी। उसे लूटने के लिए देव, दानव और मानव के बीच झगड़ा शुरू हुआ। झगड़ा मटतिा न देखकर शंकरजी पंच चुने गए। उन्होंने तीनों को तैंतीस-तैंतीस करोड़ श्लोक बाँट दिए। एक करोड़ बचे। फिर तैंतीस-तैंतीस लाख बाँट दिए। एक लाख बचा। यों उत्तरोत्तर बाँटते-बाँटते अंत में एक श्लोक बाकी रहा। रामायण के श्लोक अनुष्टुप छंद में हैं। अनुष्टुप छंद में अक्षर होते हैं-

बत्तीस। शंकरजी ने उनमें से दस-दस अक्षर तीनों को बाँट दिए। बाकी रहे दो अक्षर। वे कौन से थे? 'रा-म'। शंकरजी ने वे दो अक्षर बँटवारे की मजदूरी के नाम पर खुद ले लिये। शंकरजी ने अपना साक्षरत्व दो अक्षरों में समाप्त कर दिया। तभी तो देव, दानव और मानव कोई भी उनके ज्ञान की बराबरी न कर सका। संतों ने भी साहति्य का सारा सार 'रामनाम' में ला रखा है, पर 'अभाग्या नरा पामरा हैं कले ना'-अभागे पामर नर को यह बात समझ में आती ही नहीं।

अक्षर घोटने में शिक्षा की सार्थकता नहीं

संतों ने रामायण को दो अक्षरों में समाप्त कर दिया। ऋषयों ने वेदें को एक ही अक्षर में समेट रखा है। साक्षर होने की हवस नहीं छूटती, तो 'ॐकार' का जप करो बस! इतने से काम न चले, तो नन्हा सा 'मांडूक्य उपनिषद्' पढ़ो। फिर भी इच्छा रह जाए, तो 'दशोपनिषद्' देखो। इस आशय का एक वाक्य 'मुक्तोपनिषद्' में आया है। उससे ऋषि का इरादा साफ जाहिर होता है, पर ऋषि का यह कहना भी नहीं है कि एक अक्षर का जप करना ही चाहिए। एक या अनेक अक्षर रटने में जीवन की सार्थकता नहीं है। वेदों के अक्षर पोथी में मलति हैं, अर्थ जीवन में खोजना होताहै।

अशिक्षित कौन है, साक्षर या अनुभवी?

आजकल यह होता है कि मामूली मैट्रकि पास हुआ लड़का उत्तम बढ़ई को भी बेवकूफ समझता है। वह उसके घर जाता है और कहता है, "मेरे घर में काम है, तेरी मजदूरी क्या होगी?" तो यह उसको, 'तेरी' मजदूरी पूछता है, "आपकी मजदूरी क्या है जी?" ऐसा नहीं पूछता। इतना ज्ञानी कारीगर, जो देश की सेवा करता है और अनुभवी पुरुष है, उसे 'तू' कहा जाता है, सिर्फ इसी आधार पर कि वह पढ़ना-लिखना नहीं जानता।

त्रिसूत्री शिक्षा-योग, उद्योग, सहयोग

शिक्षण में तीन चीजें सीखनी चाहिए। एक है-योग, दूसरा-उद्योग और तीसरा-सहयोग। ये शिक्षा के प्रमुख तीन विषय हैं।

योग यानी स्थितप्रज्ञा

'योग' का अर्थ आसन लगाना, व्यायाम करना नहीं है। योग का वास्तवकि अर्थ है-चित्त पर अंकुश कैसे रखना होगा, इंद्रयों पर अपना अधकिार कैसे रखा जा सकता है, मन पर कैसे काबू पाना संभव है, जबान पर कैसे नियंत्रण रखा जा सकता है, यह योग का सच्चा अर्थ है। इन दनिों चित्त पर सत्ता रखना, चित्त को अंकुश में रखना, स्थिर रखना, अर्थात् जसिको गीता 'स्थितप्रज्ञा' कहती है, ऐसी स्थितप्रज्ञा की बहुत आवश्यकता है। पहले कभी जतिनी नहीं थी, उतनी आज है। क्यों है? क्योंकि आज रोजमर्रा की सैकड़ों घटनाएँ कान पर पड़ती

हैं, आँख पर पड़ती हैं। चारों ओर से वचिारों का आक्रमण होता है। जतिना आक्रमण मनुष्य के दमिाग पर आज हो रहा है, उतना पहले कभी नहीं होता था। क्योंकि साइंस का जमाना आया है। ऐसी हालत में चित्त को शांत रखना, स्थिर रखना, काबू में रखना अत्यंत महत्त्व का विषय है। इस वास्ते स्थतिपज्ञा की आज जतिनी आवश्यकता है, उतनी पहले कभी नहीं थी। तो प्रज्ञा स्थिर करना योग का मुख्य विषय है।

सेक्यूलरिज्म का गलत अर्थ

इस शब्द का अर्थ समझने के लिए कुछ आध्यात्मकि ग्रंथों की मदद ली जा सकती है, लेकिन हम लोगों में 'सेक्यूलरिज्म' नाम से एक गलत वचिार पैठ गया है। 'सेक्यूलरिज्म' का अर्थ वास्तव में, गांधीजी की भाषा इस्तेमाल करूँ, तो 'सर्व-धर्म-समभाव' है। परंतु 'सेक्यूलरिज्म' का अर्थ हम लोगों ने समझ लिया है-'सर्व-धर्म-सम-अभाव'! अब उसका परिणाम यह है कि हम आध्यात्मकि ग्रंथों का विद्यार्थियों को स्पर्श तक नहीं होने देते, लेकिन इनकी लाचारी है कुछ! क्या लाचारी है? हमारे जो आध्यात्मकि ग्रंथकार हो गए हैं, उनमें से कुछ दुर्दैव से यानी इन सेक्यूलरसि्ट लोगों के दुर्दैव से साहत्यिकि भी थे। इस वास्ते साहत्यि की दृष्टि से उनके साहत्यि का कुछ 'पीस' (छोटा हसि्सा) रखना ही पड़ता है। उसे कहते हैं, 'पीस' यानी कि टुकड़ा! अब, बी.ए. तक शिक्षा तो ले ली और ज्ञानेश्वरी से संबंध नहीं तो कैसे चलेगा? इस वास्ते ज्ञानेश्वरी का एक छोटा सा किसी अध्याय का टुकड़ा कोर्स में रख लेते हैं बी.ए.में! ऐसा इन लोगों का-सेक्यूलरसि्ट लोगों का ज्ञानैश्वर्यहै!

यह ठीक है कि इन ग्रंथों में ऐसी कुछ चीजें हैं, जो इस जमाने के खयाल से 'आउटडेटेड' (कालबाह्य) हैं। तो उतना अंश नकिालना होगा। ऐसी कोशशि बाबा ने की है। बाबा ने कई धर्मग्रंथों का उत्तम अंश नकिालकर लोगों के सामने रखा है। जैसे कुरान-सार है, ०स्तधर्म-सार है, भागवतधर्म-सार है, मनुशासनम् इत्यादि। इस प्रयास से हम अपने पुराने ग्रंथों के बारे में प्रचारति गलत वचिारों से बचेंगे और उनमें जो अच्छे वचिार हैं, उनको ग्रहण करेंगे।

पुराने ग्रंथों की पोटेंसी बढ़ी हुई है

हमारे सामने सवाल यह है कि पुराने जमाने के लोगों के आध्यात्मकि वचिार रखें, इसकी जरूरत क्या है? आधुनकि जमाने के वद्विानों की कताबें रखने के बजाय पुराने ग्रंथकारों के वचिार रखे जाएँ? इसका उत्तर है, जैसे होमियोपैथी में घोटने से पोटेंसी (शक्ति) बढ़ती है, वैसे जो प्राचीन आध्यात्मकि ग्रंथ हैं, उनकी पोटेंसी बढ़ी हुई होती है। आज तक लाखों लोगों ने, अनेक महापुरुषों ने पढ़-पढ़कर उन्हें घोटा है। इस वास्ते उन ग्रंथों की पोटेंसी बढ़ी हुई है।

पुराने ग्रंथ कालपुरुष की परीक्षा में भी खरे उतरे हैं

कालपुरुष परीक्षा करता है। इस परीक्षा में जो नकम्मी चीज है, वह पचास साल में, सौ-

दो सौ साल में गिर जाती है और जो अत्यंत उत्तम है, वह कालपुरुष की परीक्षा में टकिती है। ऐसी परीक्षा वेद की हो गई। दस-बारह हजार साल से कालपुरुष ने उसकी लगातार परीक्षा की है और काल की कसौटी पर खरा उतरने के कारण ही आज उसकी प्रतिष्ठा है। जबकि आज के हमारे ग्रंथों में से कतिने ग्रंथ सौ साल में बाद पढ़े जाएँगे? यह हम नश्िचति तौर पर नहीं कह सकते। क्योंकि वे अभी भी काल की परीक्षा की कसौटी पर कसे जा रहे हैं। जो इस कसौटी पर खरे उतरेंगे, वही आगे टकि रह सकेंगे।

शिक्षा का पहला और मुख्य लक्ष्य है-उद्योग का ज्ञान

शिक्षा का दूसरा प्रमुख विषय है-उद्योग। शिक्षा में मुख्य दृष्टि गुण विकास की होनी चाहिए। परंतु बनिा उद्योग के न गुण विकास होता है, न गुणों की परख होती है। 'उद्योग' शब्द का अर्थ उत् जमा योग, यानी ऊँचा योग-यह अर्थ होताहै।

उद्योग में केवल चरखा हो या तकली, यह मेरा वचिार नहीं। आधुनकि यंत्र भी हो, वर्कशॉप भी हो, लेकिन कुछ भी हो, खेती तो होनी ही चाहिए। ऐसे ही जैसे कि श्याम वर्ण हिंदुस्तान का खास वर्ण है। हम श्यामवर्ण के लोग हैं। भगवान् कृष्ण का वर्ण श्याम था। हमारे देश में श्यामसुंदर वगैरह शब्द खूब प्रचलति हैं। 'कृष्ण' शब्द का अर्थ है कसिान, खेती करनेवाला। खेती करनेवाले शरीर का जो रंग होता है, वह कृष्ण का वर्ण है। हमारी समाज रचना, शिक्षा की व्यूहरचना वाली होनी चाहिए-शहर में विद्यालय हों, तो भी हर किसी विद्यालय के साथ कम-से-कम दो-तीन एकड़ का खेत जुड़ा होना ही चाहिए। छात्रों और शक्िषकों को थोड़ी देर इकट्ठे होकर खेत में काम करना चाहिए।

शिक्षा का दूसरा उद्देश्य होता है-सहयोग

शिक्षा का दूसरा उद्देश्य है-सहयोग। इस सहयोग के अंदर सारा समाजशात्र, मानसशात्र इत्यादि सभी विषय आ जाएँगे, लेकिन मुख्य वस्तु क्या होगी? हमको सबको इकट्ठा जीना है। सहजीवन जीना है। सहजीवन में अनेक भाषाएँ, अनेक प्रंत, इत्यादि-इत्यादि के सब भेद खत्म हो जाने चाहिए। कल हमको किसी ने कहा 'हम भारतीय हैं' ऐसी भावना होनी चाहिए, न कि हम 'महाराष्ट्रीय हैं', 'गुजराती हैं', 'तमलि हैं' इत्यादि-इत्यादि भावना हमारे अंदर आनी चाहिए। मैंने कहा, 'यह मनिमिम जरूरत है। 'हम भारतीय हैं', यह सबसे छोटी माँग है। मैक्समिम (अधकि-से-अधकि) नहीं, और ऑप्टमिम (इष्टतम) भी नहीं। यह कम-से-कम है। वास्तव में जरूरी है 'विश्वमानुष'-अर्थात् हमारे अंदर यह भावना होनी चाहिए कि हम विश्वमानव हैं।'

सहयोग के लिए जरूरी है भारतीय मत-मान्यताओं का पालन

सहयोग में मानना होगा कि सारी पृथ्वी एक है। पृथ्वी के सारे मानव एक हैं। केवल मानव ही नहीं, बल्कि आस-पास के पशु, पक्षी, प्राणी, वनस्पति सब एक हैं। वाल्मीकि ने क्रौंच का

वध देखा तो कविता स्फुरति हुई, इसलिए आस-पास की सृष्टि के साथ भी एकरस होना चाहिए। ये चिड़ियाँ हैं, सुंदर गाती हैं, इनकी रक्षा होनी चाहिए। ये कौए हैं, इनकी रक्षा होनी चाहिए। ये गायें हैं, इनकी रक्षा होनी चाहिए। वटवृक्ष की भी रक्षा होनी चाहिए। तुलसी की भी पूजा होनी चाहिए। यह भारत का पागलपन है। यह भारतीय पागलपन अत्यंत महत्त्व का है, कि कुल-के-कुल मानव हम हैं और उनके साथ ही आस-पास के जो प्राणी हैं, वनस्पति हैं, सब हम ही हैं। इतनी एकरूपता हमको आस-पास की सृष्टि के साथ होनी चाहिए। यह आज के जमाने की, विज्ञान के जमाने की माँग है, क्योंकि विज्ञान ने सबको नजदीक ला दिया है। इसलिए सहयोग में प्राणयों का, मानवों का, सबका सहयोग अपेक्षतिहै।

धर्मनिरपेक्षता के नाम पर चरत्ि-निर्माण की उपेक्षा

इन दनिों 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' के नाम पर विद्यार्थियों को आध्यात्मकि साहत्यि नहीं पढ़ाया जाता। हमारी भाषाओं की अंग्रेजी से तुलना की जाए, तो अंग्रेजी में जो ववििध प्रकार का साहत्यि है, वैसा साहत्यि हमारी भाषाओं में नहीं है, लेकिन हमारी भाषाओं का सर्वोत्तम साहत्यि आध्यात्मकि साहत्यि है। अगर धर्मनिरपेक्ष राज्य के नाम पर वह कुल साहत्यि निषद्धि हो जाए, तो विद्यार्थियों में नैतकिता कैसे पैदा होगी? सक्खिों में करीब-करीब हर लड़का 'जपुजी' पढ़ता है, लेकिन इन दनिों धर्मनिरपेक्ष राज्य के नाम पर 'जपुजी' की शिक्षा स्कूलों में नहीं दी जाएगी। 'जपुजी' में तो कहा है कि-'आई पंथी सगल जमाती।' यानी कुल दुनिया हमारी ही जमात है। सबके साथ समान भाव रखने की इससे बेहतर शिक्षा दूसरी क्या होगी? लेकिन इन दनिों स्कूलों में तुलसीदासजी की रामायण भी रामायण के तौर पर नहीं पढ़ाई जाएगी। जसिसे श्रद्धा बन सके, ऐसी कोई चीज नहीं पढ़ाई जाती। रामायण, कुरान, गीता, जपुजी कुछ भी नहीं पढ़ाया जाता है। इस तरह आज की शिक्षा में आध्यात्मकि चीज नहीं हैं।

बचपन से अंग्रेजी सिखाना गलत

'बिलकुल छोटी उम्र से, बचपन से अंग्रेजी सिखाएँगे, तो बच्चे अच्छी अंग्रेजी बोल सकेंगे', मेरे वचिार से यह खयाल ही गलत है। जहाँ समाज की आबोहवा अंग्रेजी की है, वहाँ बचपन से अंग्रेजी सिखाई जा सकती है, लेकिन चाहे वह अंग्रेजी हो या हिंदी या फिर कोई और भाषा, भाषा सीखने के लिए सबसे जरूरी चीज है व्याकरण का ज्ञान होना। जब तक व्याकरण के जरिए भाषा सिखाने का क्रम शुरू नहीं किया जाएगा, तब तक मातृभाषा का ज्ञान नहीं हो सकता। मातृभाषा का व्याकरण और साहत्यि न जाननेवाला दूसरी भाषाओं का व्याकरण और साहत्यि कैसे सीखेगा? इसलिए अंग्रेजी माध्यम से शिक्षण देना सौ फीसदी मूर्खता है। अंग्रेजी में ऐसी कौन सी चीज है, जो ज्ञान देने लायक है? फिर भी अगर आपको अंग्रेजी सीखना या अपने बच्चों को सिखाना बहुत ही आवश्यक लगता है तो आपको चाहिए कि पहले बच्चें को अंग्रेजी के व्याकरण की शिक्षा दलिाएँ।

राज्यभाषा भी अंग्रेजी को बनाने पर तुले हैं

बड़े-बड़े वदि्वानों को भी हम कहते हुए सुनते हैं कि अंग्रेजी में जो वचिार प्रकट करने की शक्ति है, वह शक्ति हमारी भाषाओं में नहीं है। पर शक्ति आप में नहीं है या आपकी भाषा में नहीं है, इसका पृथक्करण होना चाहिए। दलि्ली पहुँचने के लिए रास्ते में शक्ति नहीं है या आपमें शक्ति नहीं है? ये समझते हैं कि रास्ते में शक्ति नहीं है। कहते हैं कि 'राज्य चलाना है, तो असंख्य शब्दों की जरूरत होती है, हमारी भाषा में इतने शब्द नहीं हैं, इसलिए राज्य चलाना मुश्कलि है।' मैं कहना चाहता हूँ कि क्या इसके पहले हिंदुस्तान में राज्य नहीं चले? वजियनगर जैसे कतिने ही साम्राज्य देश में हुए हैं। किसी को बुखार आ जाए और हमें औषधि न सूझे, तो क्या इसका अर्थ यह है कि वनस्पति में मामूली रोग दूर करने की भी शक्ति नहीं है? कहने का अर्थ यह है कि हमें अपना दृष्टकोण बदलना होगा और व्यर्थ के तर्क न देकर सही चीजों को सोचना होगा।

अंग्रेजी भाषा को पहले जो स्थान मलिा था, वह अब मलि ही नहीं सकता। मातृभाषा के स्थान पर मातृभाषा रहेगी, राष्ट्रभाषा के स्थान राष्ट्रभाषा रहेगी। वदिशी भाषा के स्थान पर अन्य अनेक वदिशी भाषाओं के साथ अंग्रेजी भी रहेगी।

हमें यह मान्य है कि कुछ लोग अंग्रेजी सीखें, लेकिन अंग्रेजी हम पर लादी न जाए, इतना ही हमारा कहना है। वह लादी जाती है तो उसके लिए एक ही शब्द सूझता है कि 'यह जुल्म है।'

राष्ट्रभाषा होने का अधकिार तो मातृभाषा संस्कृत को है

कुछ लोग हमसे पूछते हैं कि 'संस्कृत राष्ट्रभाषा क्यों नहीं हो सकती?' तो मैं कहता हूँ कि संस्कृत हमारी मातृभाषा है और वही राष्ट्रभाषा होगी, और होना भी यही चाहिए; क्योंकि हमारे देश की आत्मा को जाग्रत् करने वाला साहति्य तो संस्कृत में ही लिखा गया है और उसी साहति्य को हमने भुला दिया है।

शिक्षा पर सरकार की हुकूमत अनुचित

आज तो शिक्षण पर सरकार की हुकूमत चलती है और सरकार की तरफ से सारा टाइमटेबल बनाया जाता है। जैसा् बैलों से कहा जाता है कि कल अमुक खेत में चने बोए जाएँगे और परसों अमुक खेत में गेहूँ बोए जाएँगे। वैसे ही शक्षिकों को कहा जाता है कि हफ्ते में चार दनि हिंदी सिखाई जाएगी, दो दनि अंग्रेजी सिखाई जाएगी। पुस्तकें भी सरकार की तरफ से निर्धारति होती हैं। यह बात शिक्षा, शक्षिक और विद्यार्थी तीनों के लिए बलिकुल अनुकूल नहीं है। यह अधकिार आज हमने शिक्षण-वभिाग के मंत्रीजी को दे रखा है। उन्हें इस बात पर गंभीरता से सोचना चाहिए।

आप वद्‌िवानों से अधकि अधकिार सरकार को क्यों देते हैं?

शंकराचार्य बड़े वद्‌िवान्‌ और ज्ञानी पुरुष थे, परंतु वे अपनी कतिाबें लाजमिी तौर पर किसी से पढ़वा नहीं सके। और न ही उन्होंने अपनी वद्‌िवत्ता या अपनी कतिाबों की उच्चता की कहीं बात ही कही। लेकिन आज शिक्षामंत्री जो पुस्तकें तय करेगा, वह हर एक को लाजमिी तौर पर पढ़नी होगी। मालूम नहीं, उसमें आपने क्या अक्ल देखी कि जो ताकत तुलसीदासजी और शंकराचार्य को नहीं दी, उससे भी ज्यादा अधकिार शिक्षामंत्री को दे दिया! अब बच्चे वे कतिाबें नहीं पढ़ेंगे, तो पास नहीं होंगे। इसलिए वे उनको पढ़नी ही होंगी। इससे ज्यादा गुलामी और कुछ हो ही नहीं सकती।

संयम की प्रेरणा माँ दे सकेगी

आज जो निर्वीर्य और नस्ि्तेज प्रजा बढ़ रही है, वह क्यों बढ़ रही है? मेरे वचिार में ऐसा इसलिए है कि देश में संयम का वातावरण नहीं रहा है। जो भी साहत्ि्य लिखा जा रहा है, जो सनिमा वगैरह चल रहे हैं, वे सब हमें ज्ञान नहीं दे रहे, बल्कि हिंदुस्तान के सारे वातावरण को पूर्णतः निर्वीर्य बना रहे हैं।

मातृहस्तेन भोजनम्‌

भगवान्‌ कृष्ण की कहानी है। वे गोकुल में गायें चराते थे, बच्चों के साथ खेलते थे और कंस आदि का भी काम तमाम कर चुके थे, लेकिन वसुदेव को लगा कि कृष्ण इतना बड़ा हो गया, फिर भी अनपढ़ ही रहा, इसे पढ़ना-लिखना आना ही चाहिए। इसलिए उन्होंने कृष्ण को सांदीपनि के आश्रम में भेजा।

जब कृष्ण की विद्या समाप्त हुई और वे घर लौटने लगे, तो गुरु सांदीपनि ने कहा, घवर माँगो।" कृष्ण ने कहा, घआप ही कुछ दीजिए।" सांदीपनि ने कहा, घनहीं, मेरी प्रतिष्ठा रखने के लिए ही कुछ माँग लो।" कृष्ण ने कहा, घठीक हैच, और उन्होंने वर माँगा- घमातृहस्तेन भोजनम्च। यानी मरने तक तुझे माता के हाथ से भोजन मलि। उन्होंने और कोई वर नहीं माँगा। सांदीपनि ने उन्हें वर दे दिया। भगवान्‌ कृष्ण जब तक जिए, तब तक उनकी माँ भी जीवति रहीं और कृष्ण को सदैव माता के हाथ से भोजन के साथ-साथ माता की शिक्षा भी प्राप्त होती रही।

विनोबाजी की दृष्टि में वर्तमान शिक्षा के दोष

विनोबाजी ज्ञान और कर्म की एकजुटता के पक्षधर हैं। वे पढ़े-लिखे, निठल्ले और निरक्षर कर्मयोगी दोनों में से कर्मयोगी को अधकि महत्त्व देते हैं। वे ज्ञान और कर्म के दो टुकड़े करने के धुर विरोधी हैं। अपनी इसी पीड़ा को उन्होंने शिक्षा के दोषों के रूप में प्रस्तुत किया है।

वर्तमान शिक्षा यानी पढ़ना-लिखना और कुरसी पर बैठकर हुक्म चलाना। विद्या सीखने के माने काम करना छोड़ देना और हुक्म चलाना रह गया है। पढ़े-लिखे लोगों को काम करने में शर्म मालूम होती है। यह बड़ी खतरनाक हालत है कि समाज में देह और बुद्धि अलग-अलग हो। भगवान् ने सबको हाथ और बुद्धि दोनों ही दिए हैं। इसलिए जो वद्विान् हों, उन्हें कर्मनिष्ठ भी होना चाहिए और जो कर्मनिष्ठ हों, उन्हें वद्विान् भी होना चाहिए। इस तरह से ज्ञान और कर्म, विद्या और परश्रि्म दोनों अगर जुड़ जाएँगे तो देश की सही अर्थों में उन्नति होगी और देश एकरस होगा।

ज्ञान और कर्म के बीच तालमेल का अभाव दुर्भाग्यपूर्ण

आज भारत का दुर्भाग्य है कि यहाँ ज्ञान और कर्म के बीच मेलजोल नहीं रहा। काम करनेवालों के पास ज्ञान नहीं पहुँचता और जनिका बौद्धकि विकास हुआ है, वे काम नहीं करते हैं। इसलिए चिंतन को बुनियाद ही नहीं मलिती। ऐसा राहु-केतु का समाज आज है। एक को केवल सिर है, उसको हाथ-पाँव नहीं हैं और दूसरे को हाथ-पाँव हैं, परंतु सिर नहीं है। ईश्वर की ऐसी योजना होती तो वह सबको सिर और हाथ-पाँव एक साथ नहीं देता, दोनों चीजों को अलग-अलग इनसानों को दे सकता था। परंतु उसने सभी को दोनों चीजें एक साथ दीं। इसका अर्थ साफ है, उसकी योजना है कि सबका बौद्धकि और शारीरकि विकास दोनों हों। जैसे् शब्द और अर्थ दोनों भनि्न होते हुए भी एक साथ ही रहते हैं, वैसे

ज्ञान और कर्म को भी एक साथ हो जाना चाहिए। ये दोनों कपड़े के ताना-बाना जैसे हैं, दोनों के मलिने से ही जीवन का वत्र बनता है। परंतु हमारे यहाँ तो लिखा-पढ़ा मनुष्य श्रेष्ठ और परश्रि्रम करनेवाला नीच माना जाता है। यह सरासर भारतीय दर्शन के और हमारी मूलभूत सोच के वपिरीत बात है।

बीकॉम या बेकाम?

विद्यार्थी अपने जीवन में कोई काम नहीं करते, सेवा नहीं करते, सिर्फ कतिाबों का अध्ययन करते रहते हैं। इससे वे ठंड बरदाश्त नहीं कर सकते, गरमी सहन नहीं कर सकते और वर्षा में भी खप नहीं सकते। वे खेतों में काम करने में पूरी तरह अक्षम रहते हैं। उनसे उद्योग-धंधे की भी कोई आशा नहीं की जा सकती है। लोग भी कहते हैं कि ये पढ़े-लिखे लोग 'बीकॉम' नहीं, 'बेकाम' बन जाते हैं। उनको हजार रुपए दे दो, पर वे व्यापार का काम नहीं कर सकते, उलटे साल भर में एक हजार का पाँच सौ कर लाएँगे।

इस प्रकार वर्तमान शिक्षा में न तो व्यावहारकि ज्ञान मलिता है और न पारमार्थकि ज्ञान। उसका वास्तवकिता के साथ कोई संबंध नहीं है। भूख लगने पर व्याकरण खाया नहीं जाता। प्यास लगने पर काव्य पीया नहीं जाता। ऐसी स्थिति में आज के शिक्षितों की दशा धोबी के कुत्ते जैसी 'न घर का, न घाट का' हो जाती है। उनकी दयनीय स्थिति को सुधारने के लिए जनता का कर्तव्य है कि वह शिक्षण को अपने हाथ में ले ले। इंग्लैंड में शिक्षण सरकार के हाथों में नहीं है, वहाँ की प्रजा ने शिक्षण को अपने हाथों में रखा है।

वर्तमान शिक्षा का दुष्परिणाम सामने है

इस विद्या का एक और परिणाम है कि आज के शिक्षित लोग 'मसि्टकि एक्सपीरियंस' (गूढ़ अनुभव) को समझ नहीं पाते। उनके लिए वह सारा ढँक गया है। यह आवरण 'हिरण्यमयेन पात्रेण' जैसा है। यह विद्या कहलाती है, लेकिन वास्तव में है अविद्या। सूर्य के प्रकाश में सारी तारकिाएँ ढँक जाती हैं और पेड़-पत्थर आदि सारी सृष्टि खुल जाती है। सूर्य इस सृष्टि को हमारे सामने खोलता है, लेकिन असंख्य तारकिाओं को ढाँक देता है, क्योंकि ये तारकिाएँ सूर्य की भौतकि चीजों को खोलते हुए उनके गूढ़ (आध्यात्मकि) अनुभवों और अर्थों की महती विद्या को ढाँक देतीहैं।

परीक्षा-नौकरी लक्ष्य प्रधान शिक्षा

पिछले सालों में शिक्षितों की संख्या बढ़ी है। वे सब नौकरी चाहते हैं और नौकरी की गुंजाइश है नहीं। दस-बारह परविारों के पीछे आज एक सरकारी नौकर है। इसलिए मैंने कई बार कहा है कि सरकार कांग्रेसी है, परंतु कम्युनसि्ट बनाने के कारखाने खोल रही है। कॉलेजों से नकलिकर असंतुष्ट विद्यार्थी कम्युनसि्ट बनते हैं। 'असंतुष्टः द्वजिः कम्युनसि्टः' जो शिक्षित असंतुष्ट होता है, वह कम्युनसि्ट बनता है। ऐसी बेकार शिक्षा अभी तक चली

आ रही है।

आज तो विद्यार्थी, विद्यार्थी नहीं रह गए हैं, परीक्षार्थी हो गए हैं। उन्हें 33 प्रतशति अंकों पर पास कर दिया जाता है, और वे समझते हैं कि उनकी शिक्षा पाने का उद्देश्य पूरा हो गया! वास्तव में ज्ञान तो शत-प्रतशति होना चाहिए। सच्चा ज्ञान कभी भुलाया नहीं जा सकता। वास्तवकतिा तो यह है कि हम अपने विद्यार्थियों को आज 'ज्ञान' नहीं दे रहे हैं, किसी तरह उन्हें 'जानकारी' भर दे देते हैं। आज के शिक्षण में विद्यार्थी को स्वयं ज्ञान हासलि करने की शक्ति प्राप्त हो जाए, यह उद्देश्य ही नहीं होता। इसीलिए आज जो याद रखने जैसी विद्या है, वह विद्या ही नहीं है। क्रियायुक्त ज्ञान कभी भुलाया नहीं जा सकता।

विद्यार्थी वर्तमान शिक्षा से बगावत करें, लेकिन सेवा के द्वारा

आज इतनी बेकार शिक्षा दी जा रही है कि यदि मेरे हृदय में बगावत की जो वृत्ति है, वह विद्यार्थियों में होती, तो वे जतिनी बगावत कर रहे हैं, उससे बहुत ज्यादा बगावत करते। आप यह मत समझिए कि मैं बगावत को उत्तेजना देनेवाला नहीं हूँ। मेरा बस चलेगा तो मैं उसे जरूर उत्तेजना दूँगा। परंतु बगावत का एक तरीका होता है। आपके ही वोट से सरकार बनी है और आप ही की सरकार ने विद्या, ज्ञान और प्रकाश को दबा देने के लिए सारे अत्र-शत्र रखने का अधकिार पुलसि को दिया है और आप उस शत्रों से लैस ऐसी पुलसि का मुकाबला करने के लिए पत्थर और ढेले ढूँढ़ते हैं। बगावत करने का यह कोई ढंग नहीं। उसके लिए कोई बेहतर शत्र चाहिए।

बगावत करनी है तो विद्यार्थी कॉलेज छोड़कर नकलि पड़ें। गाँव-गाँव में जाकर सेवा-कार्य करें। इससे कॉलेज खाली हो जाएँगे और फिर सरकार पर आज की शिक्षा में फौरन बदलाव करने का दबाव आएगा। लेकिन जसि तरह के दंगे आजकल विद्यार्थियों के चलते हैं, उनसे विद्यार्थियों की न तो कोई ताकत बनती है और न ही उसका कोई दबाव ही सरकार पर पड़ता है।

आज की अनर्थकारी विद्या

मैं आज की शिक्षा से बेहद असंतुष्ट हूँ। यह आज की बात नहीं है। जब मैं स्कूल-कॉलेज में पढ़ता था, तब भी अस्तुंष्ट ही था। बीच में 40-50 साल गुजर गए, लेकिन जो शिक्षा उस वक्त चलती थी, करीब-करीब वही शिक्षा आज भी चल रही है। अगर उसमें और आज की शिक्षा में कुछ फर्क होगा, तो यही होगा कि आज की शिक्षा कुछ कमजोर होगी, बच्चों का स्तर गिरा हुआ होगा। जब मैं कॉलेज में पढ़ता था, तब मैं शिक्षा के बारे में इतना असंतुष्ट था कि मेरे जीवन का एक-एक क्षण व्यर्थ जा रहा है, ऐसा मैं अनुभव करता था। मैं पूरी कक्षा में हाजिर भी नहीं रहता था। आखिर एक दनि मेरे पास जो सर्टफिकिट थे, उन्हें जलाकर मैं घर और कॉलेज दोनों को ही छोड़कर नकलि पड़ा।

अंग्रेजी शिक्षा के त्रिदोष

अंग्रेजों ने भारत में जो शिक्षा पद्धति चलाई, वह अपने स्वार्थ को साधने के लिए चलाई। उस पद्धति में मुझे त्रिदोष दिखते हैं, जो कफ-वात-पत्ति के प्रकोप जैसे भयानक हैं। अंग्रेजी राज्य के कारण इस देश में एक बड़ी दुर्घटना यह हुई कि कुछ लोगों को अंग्रेजी शिक्षा, जसि 'ऊँची शिक्षा' भी कहा जाता है, वह मलिी और शेष को नहीं। फलतः वद्विान् और अवद्विान् ऐसे दो वर्ग पैदा हो गए। जन्हिें विद्या मलिी, वह विद्या भी स्वदेशी नहीं थी, वदिशी थी, फलतः भेद और संघर्ष बढ़ते ही गए। केवल पाँच प्रतशति लोगों को विद्या मलिी और बाकी सबको मूर्ख रखा गया । यह विद्या भी ऐसी दी कि विद्या पानेवाले दूसरे लोगों के साथ मलि-जुलकर नहीं रह सकते। वे अपनी विद्या का लाभ उठाने के लिए शहरों में भाग गए। इस तरह समाज में दरार पड़ गई और सारा समाज दो टुकड़ों में बँटता चला गया।

दूसरी घटना यह हुई कि जन्हिें शिक्षा दी गई, उनका जीवनमान ऊँचा बनाया गया, और जन्हिें शिक्षा प्राप्त नहीं हो सकी, उनका जीवनमान स्वतः ही नचिले स्तर का होता गया। जीवनमान के स्तर में यह अंतर इस देश की सभ्यता के विरुद्ध था।

शिक्षा के साथ तीसरी दुर्घटना यह हुई है कि शिक्षा के साथ काम को नहीं जोड़ा गया। आज की शिक्षा व्यवसायपरक नहीं है, अनुत्पादक है। परिणामतः बनिा काम किए वद्विान् आनंद का भोग चाहता है और शरीरश्रम को नीचा मानता है। इसका अर्थ यह है कि आज के तथाकथति वद्विान् व्यक्तयों को उत्पादन करने या परश्रि्रम करने की अक्ल तो है नहीं, उनके पास सिर्फ भोग लेने की ही अक्ल है। दूसरी ओर कम शिक्षित या अशिक्षित व्यक्तयों के पास श्रम तो है, लेकिन धन न होने के कारण आवश्यक सुख-सुवधिाओं तक का लगातार अभाव बना रहता है।

अंग्रेजी की दूषित शिक्षा पद्धति

अंग्रेजी ने यहाँ की शिक्षा पद्धति तय करते समय दो बातें ध्यान में रखी थीं। एक तो शिक्षा ऐसी हो, जसिके द्वारा अंग्रेजी शासन चलाने में मदद करनेवाले लोग तैयार हों, अर्थात् लोगों की गुलामी की वृत्ति टकिी रहे। परंतु इतना ही पर्याप्त नहीं था, क्योंकि यहाँ के लोग अपने को, यानी अपनी संस्कृति को नकृिष्ट नहीं मानते थे। यद्यपि उन्होंने अंग्रेजों का बल (राज्य) मान्य किया था, क्योंकि वे जीत गए थे; परंतु यह अंग्रेजों के लिए खतरा साबति हो सकता था। राज्यकर्ता की संस्कृति के लिए आदर भाव न होना राज्य-स्थिरता की दृष्टि से एक खतरा ही माना जाएगा। इसलिए असंतोष फैलाना, अंग्रेजी की संस्कृति श्रेष्ठ है, यह शिक्षा देना जरूरी था। तो गुलामी की वृत्ति को पनपानेवाली और अंग्रेजी संस्कृति की श्रेष्ठता मानस पर थोपनेवाली ऐसी दुहरी शिक्षा-पद्धति अंग्रेजों ने बनाई। ऐसी शिक्षा के लिए संस्कृत की उपेक्षा जरूरी थी।

झूठे इतहिास के कारण पूर्वग्रह

आजकल जो शिक्षा दी जाती है, उसमें ऐसे तो कई दोष हैं, लेकिन एक बड़ा भारी दोष यह है कि उसमें लोगों के दमिाग में इतहिास के नाम पर कई चीजें ठूँसी जाती हैं। शिक्षा में सबसे बड़ा भारी खतरा इस इतहिास-शिक्षण ने खड़ा किया है। 'इतहिास' शब्द का यदि हम वच्छिेद करें तो 'इतहिास' यानी 'इति ह आस' इस प्रकार हुआ। परंतु आज तो इतहिास में जो नहीं हुआ, वह भी लिखा जाता है। इतहिास जतिने झूठे होते हैं, उतनी तो कल्पति कहानियाँ भी झूठी नहीं होतीं; क्योंकि कहानी लिखनेवाला पहले ही लिख देता है कि सारी कहानी कल्पति है। इतनी तो सच्चाई उसमें होती ही है। किंतु इतहिास लिखनेवाला दावा करता है कि 'मैंने सारा सत्य लिखा है और दूसरा झूठा लिखता है।' क्या आप समझते हैं कि इतहिास नाम की जो चीज पढ़ाई जाती है, वह भी कोई चीज है? ये जो दो महायुद्ध हो गए, उनका इतहिास जर्मनी ने एक ढंग से लिखा होगा, तो रूस, इंग्लैंड ने दूसरे ढंग से। कसिने क्या गुनाह किया, क्या अन्याय किया, कौन सी घटना कब घटी, यह सब झूठा लिखा जाता है।

राग-द्वेष का रिकॉर्ड क्यों पढ़ने बैठेंगे?

हम जो पिछला इतहिास सिखाते हैं, उसमें राजाओं के राग-द्वेष पर आधृत लड़ाइयों की बातें हमें छोड़नी होंगी। यह समझना एक भूल है कि इतहिास का तात्पर्य राजा-महाराजाओं के जीवन की सन्-संवत्वार घटनाओं का लेखा-जोखा है। यदि ऐसा है तो इस इतहिास से किसी को कोई लाभ मलिने वाला नहीं है। जनि राजाओं ने पंजाब पर राज्य किया, आज कोई पंजाबी उन्हें नहीं जानता, लेकिन गुरुनानक को सब जानते हैं। बंगाल के सेन और पाल राजाओं को कोई नहीं जानता, चैतन्य महाप्रभु को सब जानते हैं। महाराष्ट्र के ज्ञानदेव-तुकाराम के नाम को कौन हटा सकता है? इसलिए इतहिास में इन महापुरुषों को महत्त्व का स्थान दीजिए और राजाओं को थोड़े में नपटाइए, लेकिन ऐसा होता नहीं। इतहिास में सर्जनात्मक बातों को या तो बहुत संक्षेप में नबिटा दिया जाता है या फिर उनका उल्लेख ही नहीं किया जाता।

देश में क्रांति हो गई तो शिक्षा में क्रांति होनी चाहिए

पुरानी बात है। 15 अगस्त, 1947, हमारा स्वातंत्र्य दनि था। मुझे व्याख्यान देने के लिए वर्धा शहर में बुलाया गया था। मैंने पूछा, "देखो भाई, स्वराज्य मलि गया। क्या अब पुराना झंडा एक दनि के लिए भी चलेगा? तो बोले, 'नहीं चलेगा।' अगर पुराना झंडा चला तो उसका अर्थ होगा कि पुराना राज्य जारी है। जैसे नए राज्य में नया झंडा होता है, वैसे नए राज्य में नई शिक्षा होनी चाहिए। अगर पुरानी शिक्षा ही चालू रही तो समझना चाहिए कि पुरानी मानसकिता जारी है, यानी कि पुराना राज्य ही जारी है, नया राज्य आया नहीं।"

आजादी के बीस बरस बाद भी नई शिक्षा लागू नहीं हुई

गांधीजी ने दूरदृष्टि से नई शिक्षा नाम की एक पद्धति सुझाई। अगर मेरे हाथ में राज्य होता तो सारे विद्यार्थियों को छुट्टी दे देता और कहता कि तीन महीने की आपको छुट्टी है, खेलकूद लीजिए, जरा मजबूत बनिए, थोड़ा खेती का काम कीजिए, स्वराज्य का आनंद भोगिए। तब तक शिक्षाशास्त्रियों का सम्मेलन होगा और वह हिंदुस्तान की नई शिक्षा का ढाँचा तैयार करेंगे। तब तक छुट्टी! परंतु हम देखते हैं कि तीन महीने के बदले में चार-चार पंचवर्षीय योजनाएँ बनीं, लेकिन शिक्षा की ओर किसी की नजर नहीं गई। थोड़े-बहुत फजिूल के हेर-फेर के बाद कुल मलिाकर शिक्षा का ढाँचा पुराना ही चला आ रहा है। यानी कि सबसे पहले बदली जाने वाली चीज शायद सबसे बाद के लिए छोड़ दी गई!

शिक्षित तो बेकार और बेवकूफ दोनों ही बनते हैं

जाकिर हुसैन साहब मुझसे कह रहे थे, "विनोबाजी, आप तो कहते हैं कि जनिको शिक्षण मलतिा है, वे बेकार बनते हैं। परंतु वे सिर्फ बेकार नहीं बनते, बेवकूफ भी बनते हैं।" उन्होंने मेरी बात में सुधार किया कि अशिक्षित लोग तो बेवकूफ ही रह जाते हैं, परंतु शिक्षित लोग तो बेवकूफ और बेकार दोनों बनते हैं। इसलिए आज के शिक्षण का ढाँचा तुंत ही बदलना चाहिए। खैर, जो हुआ सो हुआ, अभी भी वह बदले, यह जरूरी है। शिक्षण के आधार पर ही सारा समाज बनेगा। इसलिए शिक्षण का ढाँचा बदलने का सब लोगों को नश्‍िचय करना चाहिए।

जब से जगे रे भाई, तब से सबेरा

भारत को आजाद हुए कतिने साल हो गए, अब उनको सूझता है कि शिक्षण का नवसंस्कार (रिओरिएंटेशन) होना चाहिए। इतने सालों में तो दूसरे राष्ट्रों ने क्या-क्या नहीं कर डाला! शिक्षण की पद्धति का संशोधन करने के लिए दो-दो कमीशन बने। 'डॉ. राधाकृष्णन-कमीशन' की रपिोर्ट तो सरकार के पास वैसी ही पड़ी है। उसके बाद के कमीशनों की रपिोर्ट भी सरकार के पास ही पड़ी हैं, परंतु आज तक शिक्षण के ढाँचे में कोई फर्क नहीं हुआ। खुद इंदिरा गांधी (प्रधानमंत्री) को भी शकिायत करनी पड़ी कि कांग्रेस ने दो गलतियाँ कीं। एक तो यह कि उसने नौकरशाही पर विश्वास रखा और दूसरी यह कि उसने शिक्षण में कोई परविर्तन नहीं किया। अब कोई भी पूछेगा कि इंदिरा गांधी, स्वयं प्रधानमंत्री यह शकिायत कर रही हैं तो मामला कौन सुधारेगा? इसलिए शिक्षण की पद्धति बदलनी होगी। शिक्षण को ग्रामाभमिुख करना होगा।

शिक्षण सरकार से मुक्त होना चाहिए

शिक्षण में परविर्तन की दशिा में सबसे पहले मेरे मन में यह बात आती है, जो 'मूले कुठार' है, मूल पर प्रहार करनेवाली है, वह यह है कि शिक्षण को सरकारी तंत्र से मुक्त किया जाना

चाहिए। शक्षिकों को सरकार तनख्वाह जरूर दे, वह सरकार का कर्तव्य है। परंतु जैसे न्याय-वभिाग स्वतंत्र है और सुप्रीम कोर्ट में सरकार के खलिाफ भी फैसले दिए जा सकते हैं और दिए गए हैं, अगरचे उस न्यायाधपतिि को तनख्वाह सरकार से मलिती है, वैसे ही शिक्षण-वभिाग भी सरकार से स्वतंत्र होना चाहिए। यह अगर नहीं होगा तो देश के लिए बहुत बड़ा खतरा है। शिक्षा के साथ इससे बड़ा दुर्भाग्य और कुछ नहीं होगा।

आज का भोगैश्वर्यपरायण शिक्षण देश के लिए घातक

हमारे देश के विद्यार्थी ऐसे होने चाहिए कि एक ओर तो वे ब्रह्मविद्या का गायन करें और दूसरी ओर झाड़ू भी लगाएँ, गोबर भी लीपें, खेत में मेहनत भी करें। आज की शिक्षा ऐसी है कि उसमें न तो ब्रह्मविद्या का पता है, न उद्योग का। ब्रह्मविद्या न होने का परिणाम यह हो रहा है कि हम सब विषयभोग-परायण बन गए हैं, इंद्रयों के गुलाम हो गए हैं। जो पढ़ा-लिखा होता है, वह आरामतलब हो जाता है। उसके मन में भोग और ऐश्वर्य की लालसा सतत बनी रहती है। और उधर शिक्षा में उद्योग न होने के कारण पढ़े-लिखे लोगों के हाथ भी बेकार बन जाते हैं। इस तरह आत्मज्ञान के अभाव में बुद्धि बेकार और उद्योग के अभाव में हाथ बेकार! फिर ये शिक्षित लोग दस उँगलयों से काम करने के बजाय हाथ में लेखनी लेकर तीन उँगलयों से काम करते हैं। अगर इस तरह की विद्या सबको हासलि होगी, तो देश क्या खाएगा?

शिक्षा प्राणहीन है और छात्र आत्मविश्वास से हीन

आजकल विद्यार्थियों में विद्या है, परंतु प्रकाश नहीं, आत्मविश्वास नहीं। आज उन्हें जो शिक्षण दिया जाता है, वह प्राणहीन है, क्योंकि अध्ययन खत्म होने पर विद्यार्थियों में आत्मविश्वास जाग्रत् नहीं होता।

पहले के जमाने में विद्यार्थी गुरुगृह से वापस लौटता था, तब कहता था कि-'ये चारों दशिाएँ मेरे सामने झुक रही हैं' अर्थात् विद्या प्राप्त करके उसकी आत्मशक्ति जाग्रत् होती थी। इतहिास के पन्ने उलटते हैं, तो देखने को मलिता है कि बाजीराव पेशवा सिर्फ अठारह साल की उम्र में नेता बन गया था। बीस साल की उम्र में प्रधानमंत्री बनने के दृष्टांत भी हमारे सामने हैं। महाराष्ट्र का सर्वोत्तम ग्रंथ भी सोलह साल के लड़के ने लिखा है, जबकि आज तो सोलह साल के लड़कों को 'गुलीवर्स ट्रेवेल्स' पढ़ाई जाती है। इंग्लैंड में तो शायद आठ साल के बच्चे वह पढ़ते होंगे।

पत्थर गले में बाँध दिया गया हो, तो भी नदी तैर जानेवाले लोग पत्थर के कारण तैर गए, ऐसा तो नहीं माना जाएगा? मैं तो कॉलेज का अर्थ यही करता हूँ कि जहाँ विद्यार्थियों का लक्ष्य होता है। गीता में लिखा गया है-भूतानि यान्ति भूतेज्याः वैसे ही 'कालं च यान्ति कालेज्या।' कॉलेज में जानेवाले कालपुरुष के वश में होते हैं। वैसे जहाँ विद्या का लय होता है, वहीं विद्यालय आजकल हो गए हैं।

पब्लिक स्कूल की वशिषता

आजकल 'पब्लिक स्कूल्स' का प्रचलन बढ़ता ही चला जा रहा है। आखिर ये पब्लिक स्कूल्स इतनी तेजी से प्रचलन में कैसे आते जा रहे हैं? यानी जसि स्कूल में पब्लिक (जनता) जा नहीं सकती, वह स्कूल! साधारण लोगों के बच्चे वहाँ नहीं जा सकते। वहाँ सिर्फ बड़े लोगों के बच्चे जाएँगे। उनको वहाँ अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा दी जाएगी और उसे भी अपर्याप्त मानकर वे बच्चे आगे की शिक्षा के लिए इंग्लैंड जाएँगे, यानी एक वशिष वर्ग का निर्माण होगा। जो भारतीय वर्ग से अलग होगा। कुल मलिाकर हमारी पुरानी चातुर्वर्ण्य पद्धति से अत्यंत खराब, ऐसी है यह अंग्रेजी माध्यमवाली आज की शिक्षा पद्धति!

इसे ही हमें तोड़ना है और मजदूर एवं शिक्षितों को एक करना है। समाज के इन टुकड़ों को जोड़ने का काम शक्िषकों का है।

दो फेफड़े-साम्ययोग और स्वावलंबन

पुरुषार्थहीनता का दोष पाश्चात्य देशों के शिक्षण में नहीं है, पर उतने से ही नई शिक्षा सही नहीं हो जाती। लुटेरे भी पुरुषार्थी होते ही हैं। अगर साम्ययोग और स्वावलंबन, ये दो गुण हमारी शिक्षा में न हों, तो हमारी शिक्षा के दोनों फेफड़े ही नष्ट हुए समझिए।

पाठ्य-पुस्तकें स्थानीय हों

पूर्व-बुनियादी शिक्षा में देहातों की दृष्टि से काम करना है। हर देहात की परस्थिति अलग-अलग होती है। उस परस्थिति का खयाल कर शिक्षा का वचािर करना होगा। जसि देहात में नदी का कनिारा होगा, उस देहात में बच्चों की शिक्षा एक ढंग की होगी, तो जसि देहात में पहाड़ होंगे, वहाँ वह दूसरे ढंग की होगी। जसि देहात के आस-पास जंगल होगा, वहाँ की शिक्षा तीसरे ढंग की होगी। हर देहात का वातावरण देखकर अलग-अलग ढंग की शिक्षा की रचना करनी होगी। शिक्षा का बना-बनाया ढाँचा या बनी-बनाई पुस्तकें सब देहातों के लिए काम नहीं देंगी। आजकल तो सारे प्रंत के लिए एक ही कताब सब स्कूलों में चलती है। ऐसी पुस्तक में हर देहात की जो वशिषता या भन्निता होती है, उसका कुछ खयाल नहीं रहता। वह एक सर्वमान्य पुस्तक होती है। इसलिए बच्चों को उसमें दलचस्पी पैदा नहीं होती और उस गाँव के लिए वह खास काम की भी नहीं होती।

शहरवासयों को गाँवों का शोषण बंद करना होगा

आज जैसा शहर का वातावरण है, वैसा ही अगर हम रहने देना चाहते हैं, तो हिंदुस्तान में शांति नहीं रह सकती। जनि ग्रामीणों के आधार पर शहर खड़े हैं, उनकी सेवा में उन्हें लग जाना चाहिए और इसी खयाल से अपने बच्चों को शिक्षा देनी चाहिए। यह नहीं हो सकता कि देश की सेवा की शिक्षा गाँववाले पाएँ और शहरवाले बच्चे देश को लूटने की शिक्षा पाएँ।

इस देश में अब यह नहीं चल सकता। क्योंकि अब देश जाग्रत् हुआ है और जाग्रत् देश इस तरह का भेद हरगजि सहन नहीं करेगा।

शिक्षण को ही शिक्षा में श्रद्धा नहीं

हमारी भूदान-यात्रा के दरमियान जहाँ-जहाँ बेसकि स्कूल हैं, हम वहाँ जाकर वहाँ का काम देख लिया करते हैं। वहाँ मैं शक्षिकों से सवाल पूछता हूँ, "आपके लड़के कहाँ पढ़ते हैं?' तो वे जवाब देते, 'गया या पटना जैसे शहर में।' जहाँ बाप, गुरु और अच्छी पद्धति तीनों एकत्र हैं, वहाँ वे लड़कों को अपने पास रखकर शिक्षा क्यों नहीं देते? जाहिर है कि उन्हें नई शिक्षा में विश्वास नहीं है। यह एक शर्मनाक बात है कि आज के बुनियादी शिक्षा के शक्षिक की पत्नी अपने बच्चों को लेकर शहर में रहती है। माँ बच्चों को इतना तो जरूर सिखाती है कि "बेटा, तू दुनिया में और चाहे जो करना, पर अपने बाप जैसा बेवकूफ मत बनना।"

परीक्षा में नकल का शक शिक्षा की अस्फलता

पुरानी शिक्षण-पद्धति का सबसे बुरा चत्रि मेरे सामने परीक्षा के समय का आ खड़ा होता है। जब हम लोगों की परीक्षा होती हैं, तो हम लोगों की देखरेख के लिए निरीक्षक रखे जाते हैं। वे इसलिए नियुक्त होते हैं कि कहीं विद्यार्थी चोरी से एक-दूसरे की नकल न करें। मुझे यह देखकर दुख होता है कि अगर हम लोगों के बारे में आरंभ से ही यह धारणा रखी जाए कि हम चोरी कर सकते हैं, फिर विद्यार्थी की दृष्टि से हम पहले ही फेल हो गए। अब हम लोगों की परीक्षा लेने के लिए बचा ही क्या?

छात्रों में सद्गुणों के विकास के लिए विनोबाजी ने कुछ गुणों का वर्णन किया है, जन्हिें अपनाकर हम अवगुणों से मुक्त हो सकते हैं। विद्यार्थियों की सुवधिा के लिए यहाँ ऐसे ही कुछ गुणों का उल्लेख किया जा रहा है-

विद्यार्थियों के गुण-विकास के लिए आवश्यक है कि

- बनिा कारण न डरें। भय लगे, तो भगवान् का नाम लें। भगवान् के नाम के सामने भय टकि ही नहीं सकता।
- अपने हाथों होनेवाली गलतियाँ रोज-की-रोज सुधारी जाएँ। बीते कल की गलतियाँ आज न हों और कल की गलतियाँ आगामी कल न हों, इसका ध्यान रखें।
- वचिार ठीक से समझ लें। 'समझ में आए हुए वचिारों को अमल में लाए बगैर नहीं रहूँगा', इस बात को पक्का कर लें।
- अपनी शक्ति के अनुसार, आवश्यकता पड़ने पर, दूसरों की मदद करते रहें। यह बात कभी न भूलें कि हमें बहुतों से ऐसी मदद मलिी है।
- हर बात में अगुवा न बनें। अपने आपको रोककर रखें।

- कोई-न-कोई उत्पादक-श्रम किए बगैर भोजन न करें।
- प्रतदिनि कुछ समय नियमति रूप से अध्ययन करें।
- अपने शरीर से गुरुजनों की सेवा करें।
- सीधे बैठें, सीधा बोलें और सीधा वचिार करें।
- किसी से मार-पीट न करें। किसी का जी न दुखाएँ।
- सच्चाई का बरताव करें। सदा सच बेलें।
- क्रोध कभी न आने दें। क्रोध दुर्बलता का लक्षण है।
- हर बात में अपना फायदा न देखें। ध्यान रहे कि संसार हमारे भोग के लिए नहीं है। हम संसार की सेवा के लिए हैं।
- गड़बड़, धाँधली और उतावली न करें।
- दूसरे के दोष न देखें, गुण ही ग्रहण करें।
- दूसरों के सुख में सुखी हों। दूसरों का दुख दूर करने के लिए व्याकुल रहें।
- किसी तरह का स्वाद न लगने दें। पेटूपन न करें। थोड़े में ही तृप्ति मानें।
- उद्यतपन न करें। सबसे मलि-जुलकर रहें। मृदु भाषण करें।
- बुरा काम करने में लाज लगनी चाहिए। मर्यादा का उल्लंघन न करें।
- हाथ, पैर, आँख आदि अवयवों की अकारण हलचल न करें।
- ताकत के जोर से कोई दबाना चाहे, तो न दबें।
- कमजोर आदमी कोई गलती करे, तो उसे क्षमा कर दें।
- शरीर को कुछ कष्ट हो, तो व्याकुल न हों, धैर्य रखें।
- स्वच्छता का ध्यान रखें।
- किसी से मत्सर न करें। स्वयं ऊपर चढ़ने के लिए दूसरे को नीचे न गिराएँ।
- मैं बड़ा हूँ, यह न मानें। इसी में सच्चा बड़प्पन है।

छोटे बच्चों के शिक्षण के लिए गीता की 'दैवी संपत्ति' के लक्षणों का यह सीधा-सादा और प्राथमकि अर्थ मैंने दिया है। व्यापक अर्थ 'ज्ञानेश्वरी' में बताया गया है।

विद्यार्थियों के लिए पाँच हदियितें

विद्यार्थियों को ये पाँच बातें हमेशा याद रखनी चाहिए-

1. हर रोज कम-से-कम एक घंटा शारीरकि-परश्रिम अवश्य करना चाहिए। उससे जो प्राप्त हो, वह समाजोपयोगी काम में खर्च करना चाहिए। इससे परश्रिम की महत्ता खयाल में आएगी और समाज को प्रत्यक्ष में कुछ-न-कुछ देने की आदत पड़ेगी।

2. छुट्टियों में इर्द-गिर्द के गाँवों में जाकर सफाई या अन्य प्रकार की सामाजकि सेवा का कार्य अवश्य करना चाहिए।

3. विद्यार्थी ऐसा संकल्प करें कि अपने से भनि्न धर्म, भाषा, जाति अथवा पंथ के

किसी व्यक्ति को अपना मति्र अवश्य बनाएँगे। इस प्रकार वभिनि्न समुदाय के साथ मति्रता करने से सब प्रकार के भेद खत्म करने का रास्ता मलि जाएगा।

4. विद्यार्थियों को अच्छी हिंदी सीख लेनी चाहिए, ताकि भारत के किसी भी कोने में वे जाएँगे, तो वे अपना वचिार अच्छी तरह रख सकेंगे। अन्य प्रंतों के साथ संबंध बनाने का यह एक सबल माध्यम है।

5. विद्यार्थियों को सुबह-शाम आधा घंटा व्यायाम अवश्य करना चाहिए। 'जल्दी सोकर जल्दी उठना।' यह जीवन का सूत्र बनाना चाहिए। रात में घंटों तक अभ्यास करने के बदले ब्रह्ममुहूर्त में चंद घंटे अभ्यास करना ज्यादा अच्छा है।

विद्यार्थियों को अध्ययन करने का सही तरीका आना चाहिए

अध्ययन में लंबाई-चौड़ाई महत्त्व की चीज नहीं है। महत्त्व है गंभीरता का। बहुत देर तक, घंटों भाँति-भाँति के विषयों का अध्ययन कहते रहने को मैं लंबा-चौड़ा अध्ययन करता हूँ। समाधस्थि होकर नति्य-निरंतर थोड़ी देर तक किसी नशि्चति विषय के अध्ययन को मैं गंभीर अध्ययन कहता हूँ। दस-बारह घंटे सोना, पर करवटें बदलते रहना, सपने देखते रहना-ऐसी नींद से वशि्रंाति नहीं मलिती। परंतु पाँच-छह घंटे ही सोएँ और गाढ़ी नदि्रा आए, तो उतनी नींद से पूर्ण वशि्रांति मलि सकती है। यही बात अध्ययन की भी है। 'समाधि' अध्ययन का मुख्य तत्त्व है। इससे पढ़ाई का सार जल्दी समझ में आ जाता है।

'आचार्य' शब्द की प्रतिष्ठा

संस्कृत में शक्िषक को 'आचार्य' कहते हैं। 'आचार्य' शब्द ही खुद बोलता है। आचार्य का अर्थ बताया गया है कि अचनिोति अर्थात् अचिरति। आचारं कारयति। जो सब विषयों का अध्ययन करता है, खुद आचरण करता है और दूसरों से आचरण कराता है, उसका नाम है 'आचार्य।' संस्कृत में 'चर' धातु कामधेनु जैसी है। 'चर' से चारति्र्य। चारति्र्य से आचरण शब्द बना। 'चरण' यानी पाँव। उसका 'आचरण' के साथ संबंध है। तो 'चर' धातु पर से 'आचार्य' शब्द बना है। ऐसी ही संचार, वचिार, उच्चार आदि शब्द भी 'चर' धातु से ही बने हैं। हमारे देश के बड़े-बड़े ज्ञानी 'आचार्य' कहलाए, जैसे शंकराचार्य। हिंदुस्तान में 'आचार्य' शब्द के लिए जो आदर है, वह अन्यत्र कहीं नहीं देखने को मलिता। यहाँ 'आचार्य देवो भव!' कहा गया है।

विद्यालय की ववििधि संकल्पनाएँ

1. कौटुंबकि पाठशाला

वचिारों का प्रत्यक्ष जीवन से नाता टूट जाने से वचिार निर्जीव हो जाते हैं और जीवन

विचार-शून्य बन जाता है। मनुष्य घर में जीता है और शाला में विचार सीखता है, इसलिए जीवन और विचारों का मेल नहीं बैठता। इसका उपाय यही है कि एक ओर से घर में शाला का प्रवेश होना चाहिए और दूसरी ओर से शाला में घर घुसना चाहिए। समाजशात्र को चाहिए कि शालीन कुटुंब निर्माण करे और शिक्षण शात्र को चाहिए कि कौटुंबिक पाठशाला स्थापित करे। इस लेख में शालीन कुटुंब के संबंध में विचार नहीं करना है, कौटुंबिक शाला के संबंध में थोड़ा दिग्दर्शन करना है।

छात्रालय अथवा शिक्षकों के घर को शिक्षा की बुनियाद मानकर उसपर शिक्षण की इमारत रचनेवाली शाला ही कौटुंबिक शाला है। ऐसी कौटुंबिक शाला के जीवनक्रम के संबंध में पाठ्यक्रम को अलग रखकर-कुछ सूचनाएँ इस लेख में देनी हैं। वे इस प्रकार हैं-

- ईश्वर-निष्ठा संसार में सारवस्तु है। इसलिए नित्य के कार्यक्रम में दोनों समय सामुदायिक उपासना या प्रार्थना के स्वरूप संत-वचनों की सहायता से ईश्वर-स्मरण होना चाहिए। उपासना में एक भाग नित्य ईश्वर के किसी रूप के निश्चित पाठ को अवश्य देना चाहिए। 'सर्वेषामविरोधन' यह नीति हो। एक प्रार्थना रात को सोने के पहले होनी चाहिए और दूसरी सुबह सोकर उठने पर।
- आहार-शुद्धि का चित्त-शुद्धि से निकट संबंध है। इसलिए आहार सात्त्विक होना चाहिए। गरम मसाला, मिर्च, तले पदार्थ, चीनी और दूसरे निषिद्ध पदार्थों का त्याग करना चाहिए। दूध और दूध से बने पदार्थों का मर्यादित उपयोग करना चाहिए।
- ब्राह्मण से या दूसरे किसी रसोइए से रसोई नहीं बनवानी चाहिए। रसोई का शिक्षण भी शिक्षा का एक अंग है। सार्वजनिक काम करनेवालों के लिए रसोई का ज्ञान जरूरी है। सिपाही, प्रवासी, ब्रह्मचारी, सबको रसोई आनी चाहिए। स्वावलंबन का वह एक अंग है।
- कौटुंबिक पाठशाला में घर के समस्त कार्य सीखने चाहिए, जैसे कि अपने पाखाने साफ करने का काम भी अपने हाथ में लेना चाहिए। अस्पृश्यता-निवारण का अर्थ किसी भी मनुष्य से छुआछूत न मानना ही नहीं है, किसी भी समाजोपयोगी काम से नफरत न करना भी है। पाखाना साफ करना अंत्यज का काम है, यह भावना चली जानी चाहिए। इसके अलावा स्वच्छता की सच्ची शिक्षा भी इसमें है। इसमें सार्वजनिक स्वच्छता रखने के ढंग का अभ्यास है।
- अस्पृश्यों सहित सबको पाठशाला में स्थान मिलना चाहिए। यह तो है ही, पर 'कौटुंबिक' पाठशाला में भोजन में पंक्तभेद रखना भी संभव नहीं। आहार-शुद्धि का नियम रखना काफी है।
- स्नानादि प्रातः कर्म सबेरे ही कर लेने का नियम होना चाहिए। स्वास्थ्य के कारण अपवाद रखा जा सकता है।
- प्रातः कर्मों की तरह सोने से पहले का 'सायंकर्म' भी जरूर होना चाहिए। सोने के पहले देह-शुद्धि आवश्यक है। इस सायंकर्म का गाढ़ निद्रा और ब्रह्मचर्य से संबंध है। खुली हवा में अलग-अलग सोने का नियम होना चाहिए।

- कतिाबी शिक्षण के बजाय उद्योग पर ज्यादा जोर देना चाहिए। कम-से-कम तीन घंटे तो उद्योग में देने ही चाहिए। उसके बनिा अध्ययन तेजस्वी नहीं हो सकता। कर्मातशिषण अर्थात् काम करके बचे हुए समय में वेदाध्ययन करना श्रुति का वधिान है।
- शरीर को तीन घंटे उद्योग में लगाने और गृहकृत्य और स्वकृत्य खुद करने का नियम रखने के बाद दोनों समय व्यायाम करने की जरूरत नहीं है। फिर भी एक समय अपनी-अपनी जरूरत के मुताबकि खुली हवा में खेलना, घूमना या कोई वशिष व्यायाम करना उचति है।
- कातने को राष्ट्रीय धर्म तथा प्रार्थना की भाँति नति्यकर्म में गननिा चाहिए। उसके लिए उद्योग के समय के अलावा कम-से-कम आधा घंटा समय देना चाहिए। इस आधे घंटे में तकली का उपयोग करने से भी काम चल जाएगा। तकली ही सूत कातने का उपयुक्त साधन है। इसलिए तकली पर सूत कातना तो आना ही चाहिए।
- कपड़े में खादी ही इस्तेमाल करनी चाहिए। दूसरी चीजें भी जहाँ तक संभव हो, स्वदेशी ही लेनी चाहिए।
- सेवा के सवाि दूसरे किसी भी काम के लिए रात को जागना नहीं चाहिए। बीमार आदमी की सेवा इसमें अपवाद है, पर मौज के लिए या ज्ञान-प्राप्ति के लिए भी रात्रि-जागरण निषदि्ध है। नींद के लिए ढाई पहर अर्थात् साढ़े सात घंटे का समय रखना ही चाहिए।
- रात को भोजन नहीं करना चाहिए। आरोग्य, व्यवस्था और अहिंसा, तीनों दृष्टयों से इस नियम की आवश्यकता है।
- प्रचलति विषयों में संपूर्ण जागृति रखकर वातारण को नशि्चल रखना चाहिए।

कौटुंबकि पाठशाला के उपरोक्त नियमों का पालन करके हम अपने आपको शारीरकि दृष्टि से निरोग तो रख सकते हैं, साथ ही दूसरों की सेवा करके अपने मन को पवति्र और शांत भी बनाए रख सकते हैं। इससे हमारा और हमारे परविार तथा समाज, सभी का हति सधेगा।

एक घंटे की पाठशाला

कौटुंबकि पाठशाला के साथ-साथ ही विनोबाजी ने पाठशाला के वभिनि्न रूपों का जकि्र किया है। पाठशाला के इन ढंगों को विनोबाजी ने सोचा ही नहीं, व्यवहार में भी अपनाया। कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं-

पठन-वर्ग और श्रवण-वर्ग

इन दनिों अपने भाषणों में मैं 'एक घंटे' के स्कूल की कल्पना कई बार रखता आ रहा हूँ। गाँव-गाँव में सरकारी नहीं, ग्रामीण स्कूल चले, और रोज सिर्फ एक ही घंटा, सुबह के समय चले। नई शिक्षा यानी एक घंटे की पाठशाला, ऐसा मेरा समीकरण करीब-करीब बन गया

है। यह हुई हमारी सबेरे की मौलिक पाठशाला।

इसी प्रकार एक घंटे का महाविद्यालय होगा। वह रात को चलेगा। पंद्रह वर्ष से कम आयु के बच्चे सुबह के स्कूल में जाएँगे। पंद्रह वर्ष समाप्त होकर जसि सोलहवाँ साल लगा, तो वह महाविद्यालय में जाने का अधकिारी होगा, फिर वह पाठशाला में पढ़ा हो या न पढ़ा हो! पाठशाला में चलेगा-लेखन, वाचन, गणति आदि। बाकी लड़के-लड़कियाँ दनि भर माता-पिता के काम में सहायता करेंगे।

आजकल पाँच-छह साल के छोटे-छोटे बच्चों के लिए जो स्कूल चलते हैं, उनमें समय का उपयोग नहीं होता। बच्चे पाँच-पाँच, सात-सात घंटे तक पढ़ते-लिखते रहते हैं, तो उनको ज्यादा बोझ हो जाता है। दूसरी सबसे बड़ी कमी यह है कि ऐसे स्कूलों में गरीबों के बच्चे नहीं जा सकते। हमारी पाठशाला और महाविद्यालय सभी के लिए समान रूप से खुले रहेंगे।

आदर्श पाठशाला कैसी हो?

इसी संदर्भ में विनोबाजी ने आदर्श पाठशाला के विषय में अपनी कल्पना को सामने रखा है-

औद्योगकि विज्ञान की जरूरत

मेरी दृष्टि से हमारे शिक्षण में सबसे बड़ी जरूरत अगर किसी चीज की है, तो विज्ञान की। हिंदुस्तान कृषि-प्रधान देश भले ही कहलाता हो, फिर भी उसका उद्धार सिर्फ खेती के भरोसे नहीं होगा। यूरोपीय राष्ट्र उद्योग प्रधान कहलाते हैं। हिंदुस्तान में खेती प्रधान व्यवसाय होते हुए भी यहाँ प्रति व्यक्ति एक एकड़ जमीन है। इसके वपिरीत फ्रांस में, जो एक उद्योग प्रधान देश कहलाता है, प्रति मनुष्य साढ़े तीन एकड़ भूमि है। इस तथ्य से मालूम होगा कि हिंदुस्तान की हालत कतिनी बुरी है! इसका मतलब यह है कि हिंदुस्तान में अकेली खेती ही होती है और कुछ नहीं होता। यह हालत बदलने के लिए हमारे यहाँ के विद्यार्थी, शक्षिक और जनता, सभी को उद्योग में नपिुण बनना चाहिए। इसके लिए उन्हें विज्ञान सीखनाचाहिए।

आहार-विज्ञान

हमारा रसोईघर हमारी प्रयोगशाला होनी चाहिए। वहाँ जो आदमी काम करे, उसे इन सारे बातों की जानकारी होनी चाहिए कि कसि खाद्य पदार्थ में कतिना उष्णांक है, कतिना ओज है, कतिनी चकनिाई है। उसमें यह हसिाब करने की सामर्थ्य होनी चाहिए कि कसि उम्र के मनुष्य को कसि काम के लिए कैसे आहार की जरूरत होगी।

ज्ञान-दृष्टि आवश्यक

विद्यार्थी भोजन करते हैं और दूसरे लोग भी, लेकिन दोनों के भोजन करने में काफी फर्क होना चाहिए। विद्यार्थियों को भोजन ज्ञानमय होना चाहिए। जब विद्यार्थी अनाज पीसेगा, तो यह लिखकर रखेगा कि उसमें से कतिना चोकर नकिला। मान लीजिए कि सेर में आठ तोले चोकर नकिला। यानी दस प्रतशति चोकर नकिला। यह बहुत ज्यादा हुआ। दूसरे दनि वह पड़ोसी के यहाँ जाकर देखेगा कि क्या उसके यहाँ भी उतना ही चोकर नकलता है। तो इतने चोकर से एक माह या एक वर्ष में कतिने समय का खाना बन सकता है? उसे सोचना होगा कि दस प्रतशति चोकर नकिालने में क्या हर्ज है? उतना चोकर अगर पेट में जाए, तो क्या नुकसान होगा? आदि-आदि प्रश्न उसके मन में उठने चाहिए और उनके उचति उत्तर भी मलिने चाहिए। तभी, जैसाकि गीता में कहा है, उसका हर एक काम ज्ञान-साधन होगा।

मल-विज्ञान

शौच को तो सभी जाते हैं, लेकिन स्कूलवालों को मल के स्बंध में वशिष ज्ञान होना चाहिए। मैले का क्या उपयोग होता है? सूर्य की किरणों का उसपर क्या असर होता है? मैला अगर खुला पड़ा रहे, तो उससे क्या नुकसान है? उससे कौन सी बीमारियाँ पैदा होती हैं? जमीन को अगर उसकी खाद दी जाए, तो उसकी उर्वरता कतिनी बढ़ती है? आदि सारी बातों का शात्रीय ज्ञान मल-विज्ञान की सहायता से हमारे छात्रों को कराना चाहिए। मैंने तो उसपर एक सूत्र ही बनाया है-'प्रभाते मल-दर्शनम्।' मल से हमें आरोग्य का ज्ञान होता है और यह जानकर कि शरीर मलागार है, देहशक्ति भी कम होती है।

आरोग्य-विज्ञान

कोई लड़का बीमार हो जाता है। वह क्यों बीमार हुआ? बीमारी मुफ्त में थोड़े ही आई है। उसे जेब से कुछ खर्च करके बुलाया है। अतिथि की तरह उसका खयाल रखना चाहिए। वह क्यों आई, कैसे आई आदि बातों की खोज करनी चाहिए। जब वह आ ही गई है, तब उससे सारा ज्ञान ग्रहण कर लेना चाहिए। इसमें शिक्षण की बात है। वह ज्ञानदाता रोग आया और गया, हम कोरे-के-कोरे रह गए-यह दूसरों के साथ भले ही होता हो, हमारे साथ हरगजि नहीं होना चाहिए।

खादी-विद्या

यहाँ सूत कातते हैं, खादी भी बना लेते हैं, लेकिन खादी के बारे में शात्रीय प्रश्नों के जवाब यदि न दे सके, तो पाठशाला और उत्पत्ति-केंद्र यानी कारखाने में फर्क ही क्या रहा? लेकिन मैं तो अपने कारखाने से भी इस ज्ञान की आशा रखूँगा।

उद्योग में विज्ञान

इस प्रकार प्रयोग-बुद्धि और ज्ञान-दृष्टि से प्रत्येक काम करने में थोड़ा खर्च होगा ही, लेकिन

उसमें उतनी कमाई भी होगी। स्कूल में जो चरखा होगा, वह बढ़िया होगा। चाहे जैसे चरखे से काम नहीं चलेगा। स्कूल में काम चाहे थोड़ा कम ही हो, लेकिन जो कुछ काम होगा, वह आदर्श होगा। कपास तौलकर ली जाएगी। उसमें से जतिने बनिौले नकलिंगे, वे भी तौल लिये जाएँगे। रोझयों, यानी कि कपास की जाति में से जब इतने बनिौले नकलि, तब ह्वेरम (कपास की जाति) में से इतने क्यों? इस तरह का सवाल पूछा जाएगा और उसका जवाब भी दिया जाएगा। बनिौला मटर के आकार का होकर भी दोनों के वजन में इतना फर्क क्यों? बनिौले में तेल होता है, इसलिए वह हलका होता है। फिर यह देखा जाएगा कि इसी तरह के दूसरे धान्य कौन से हैं? उसके लिए तराजू की जरूरत होगी। वह बाजार से नहीं खरीदा जाएगा, स्कूल में ही बनाया जाएगा। हर एक काम अगर इस ढंग से किया जाए तो विज्ञान शुरू हो गया। इस तरह यदि हर बात की जाए, तो ज्ञान कतिना मनोरंजक होगा! फिर उसे कौन भूलेगा? अकबर कसि सन् में मरा, यह रटने की क्या जरूरत है? वह तो मर गया, लेकिन हमारी छाती पर क्यों सवार हुआ? 'मैं इतहिास रटने को नहीं पैदा हुआ, इतहिास बनाने के लिए पैदा हुआ हूँ।' यह भावना हमारी होनी चाहिए, तब बात बनेगी।

विज्ञान और अध्यात्म तथा भाषा

दो विद्याएँ सीखना आवश्यक है-(1) आस-पास की चीजों को परखने की शक्ति अर्थात् विज्ञान और (2) आत्मज्ञान अर्थात् अध्यात्म। इसके लिए बीच में नमित्तिमात्र भाषा की जरूरत होती है। उसका भी ज्ञान उतना ही आवश्यक है। भाषा डाकिए का काम करती है। अगर मैं चट्ठी में कुछ भी न लिखूँ, तो वह कोरा कागज भी डाकिया पहुँचा देगा। भाषा विद्या का वाहन है। विज्ञान और अध्यात्म ही विद्या है। उसी का मैं वचिार करूँगा। मेरा चरखा अगर टूट गया, तो क्या मैं बैठकर रोऊँगा? मैं बढ़ई के पास जाकर उसे सुधरवा लूँगा। उसी तरह अगर मुझे बच्छिू ने काट खाया, तो मुझे रोते हुए नहीं बैठना चाहिए, उसका उपचार करके छुट्टी पानी चाहिए। यही मेरी शाला की परीक्षा होगी। मैं भाषा का परचा नकिालने के झंझट में नहीं पड़ूँगा। लड़कों की बोलचाल से ही मैं उनका भाष-ज्ञान भाँप जाऊँगा।

घर से पहले पाठशाला को सजाएँ

स्कूल में होनेवाला प्रत्येक काम ज्ञान का साधन बन जाना चाहिए। इसके लिए स्कूलों को सजाना होगा। अच्छे-अच्छे साधन जुटाने होंगे। श्री रामदास स्वामी ने कहा है-'ईश्वर का वैभव बढ़ाओ।' लोगों को अपने घर सजाने के बदले शालाएँ सजाने का शौक होना चाहिए। यदि वे स्वयं किसी व्यस्तता के कारण शालाएँ नहीं सजा पा रहे हैं तो उन्हें शाला की सजावट के लिए आवश्यक चीजें संबंधति लोगों को उपलब्ध करा देनी चाहिए।

समर्थ शिक्षण की सुवधिा

जीवन का भार सचमुच भार ही नहीं, वह तो उपकार है, पर ऐसा समर्थ शिक्षण मलिना चाहिए, जसिसे वह उपकार मालूम हो। ऐसी शिक्षा माता-पिता की ओर से सोलह वर्ष की उम्र तक बच्चों को मलिनी चाहिए। माता-पिता की ओर से कहने का मेरा तात्पर्य है-समाज की ओर से ऐसी शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। समाज को चाहिए कि वह हर बालक के लिए ऐसी शिक्षा की व्यवस्था कर दे, जसिसे वह सोलह साल तक अपनी शिक्षा पूरी कर सके और उसके आगे का शिक्षण वह अपनी कमाई से प्राप्त करे। इसके लिए बच्चे को मानसकि रूप से तैयार होना चाहिए।

हास्यास्पद विद्यापीठ

विनोबाजी इस बात से खासे पीड़ति दिखाई देते हैं कि शिक्षा को व्यवहार से तो अलग किया ही जा रहा है, साथ ही शिक्षा पर आने वाले खर्च को भी बढ़ाया जा रहा है। आज तो कृषि कॉलेज भी शहर में ही खुलते हैं। मैट्रकि पास हुए बगैर उनमें प्रवेश भी नहीं हो पाता। इसका मतलब यह हुआ कि बच्चों का कृषि कॉलेज में प्रवेश भी तभी हो सकेगा, जब उनके बारे में यह विश्वास हो जाएगा कि उनमें जाड़े-पाले और धूप-बारशि में काम करने की कतई शक्ति नहीं है। कारण-आज भी पद्धति के अनुसार मैट्रकि पास होने का और कोई अर्थ ही नहीं है। प्रोफेसर और छात्र कुरसी-बेंच पर बैठकर कृषि का ज्ञान प्राप्त करेंगे! प्रयोग के तौर पर खेती नाममात्र की होगी और उसका उत्तरदायत्वि भी मजदूरों पर होगा। प्रयोग वे ही करेंगे। उसपर भी बच्चे की पढ़ाई के खर्च के लिए उसके पिता को हर साल 25 एकड़ जमीन की पैदावार और देनी पड़ेगी। क्यों-शिक्षा व्यवहार से अलग तो होगी ही, महँगी भी होगी। इसलिए इतने पैसे के बनिा काम चलनेवाला नहीं।

आदर्श विद्यापीठ

आदर्श विद्यापीठ की कल्पना करते हुए विनोबाजी महाराज मनु की शिक्षा भावना का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि मनु का एक वाक्य है-'प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मत्रिवदाचरेत्'-बच्चे को जब सोलहवाँ वर्ष लग जाए, तो उसके प्रति मत्रि जैसा व्यवहार करना चाहिए। मैं इस वाक्य का यह अर्थ समझता हूँ कि सोलहवें वर्ष के बाद जीवन का उत्तरदायत्वि बच्चे को स्वयं ही सँभाल लेना चाहिए। मत्रि को हम लोग समय पर आवश्यक सलाह देते हैं, लेकिन उसके जीवन का भार उसी पर रहता है। इसी प्रकार बच्चे को भी सोलहवाँ साल लगते ही आत्मनिर्भर हो जाना चाहिए। मनु के इस वाक्य का यह भी अर्थ नकलता है कि सोलह वर्ष से पहले बच्चे पर जीवन का सारा उत्तरदायत्वि डालना उचति नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि तब तक बच्चे का अपना जीवन ही नहीं। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि उसका भार उसपर नहीं रखना चाहिए, क्योंकि उस अवस्था में अपना भार स्वयं उठाने के लिए उसे धीरे-धीरे तैयार होना पड़ता है। इस तैयारी को ही 'शिक्षण' कहा जाता है। प्राथमकि शिक्षण के बाद उच्च शिक्षण के कार्यक्रम कैसे हों? मेरा सुझाव है, "बच्चे छह घंटे मेहनत करके शरीरश्रम से रोटी कमाएँ और दो घंटे उसके

परपोषक ज्ञान-विज्ञान की उन्हें शिक्षा दी जाए। बच्चों पर खर्च न तो पाठशाला करे और न माता-पिता ही, फिर वे बच्चे चाहे गरीब के हों, चाहे अमीर के। ऐसा करने से ही सच्चा प्रयोग होगा और देश आगे बढ़ पाएगा।"

उपरोक्त तथ्यों का समाहार करते हुए हम कह सकते हैं कि विनोबाजी ने समाज और व्यक्ति के उत्थान के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं पूरी तरह व्यावहारकि सुझाव दिए हैं। इन सुझावों की प्रामाणकिता को पुष्ट करते हुए विनोबाजी स्वयं कहते हैं कि ऊपर जो-जो भी बातें मैंने बताई हैं, सभी अपने अनुभव से बताई हैं। मुझे विश्वास है कि इन बातों पर अमल करने से हमारा अपना विकास तो होगा ही, समाज के लिए भी हमारी भूमकिा सार्थक हो सकेगी। अस्तु!

Published by

Granth Akademi

1659 Old Darya Ganj, New Delhi-110002

ISBN 978-93-5186-045-7

Acharya Vinoba Bhave

by Ramgopal Sharma

Edition

First, 2012